सत्यामृत

[मानव-धर्म-शास्त्र]

[दृष्टि-काण्ड]

मूल्य १।)

प्रणेता—
दरबारीलाल सत्यभक्त
संस्थापक सत्यसमाज

सत्यामृत

[मानव-धर्म-शास्त्र]

[दृष्टि--काण्ड]

प्रणेता—

दरबारीलाल सत्यभक्त

संस्थापक सत्यसमाज

मूल्य १।)

प्रकाशक—

सूरजचन्द सत्यप्रेमी [डाँगी]

सत्याश्रम, वर्धा [सी. पी.]



मूल्य—

प्रथमावृत्ति. १।)

एक रुपया चार आने

मुद्रक—

सत्येश्वर प्रिण्टिङ्ग प्रेस

बोरगाँव, वर्धा [सी. पी.]

प्राथमिक वक्तव्य

सत्यसमाजी-बन्धुओं में यह चर्चा चल पड़ी थी कि अपने लिये किसी ऐसे मूल-ग्रन्थ की आवश्यकता है जिसे हम विश्व-शान्ति के स्थायी उपाय-रूप सम्पूर्ण राष्ट्रों, सम्प्रदायों और जातियों में सांस्कृतिक ऐक्य स्थापित करने के तरीकों को अच्छी तरह समझने और मनन करने के लिये भगवान सत्य का प्रामाणिक सन्देश कह सकें।

जब मैं प्रेमधर्म का प्रचार करता हुआ 'छिंदवाड़ा' पहुँचा तब वहाँ के अध्यक्ष ने एक मनोरञ्जक बात सुनाई, बोले—"अनेक सम्प्रदायों के बन्धु हमें कहते हैं कि 'यह कैसा सत्यसमाज है ? जिस का कुछ जड़मूल ही नहीं, बिना ही जड़-मूलवाला यह कौनसा झाड़ ?' तब साहब! हम उल्टा-सीधा यह उत्तर तो दे दिया करते हैं कि 'अमर-बेल की जड़ नहीं हुआ करती' परन्तु हम को भी अनेक बार ऐसे विचार उत्पन्न हुए हैं कि एक विश्वमान्य सर्वोपयोगी धर्म-शास्त्र की आवश्यकता अवश्य है।"

यह बात सुनकर मैंने कहा कि,—'**सन्देश**' के अंकों में सत्यसमाज का इतना साहित्य निकल चुका है कि यदि उसे एक स्थान पर एकत्र किया जाय तो किसी भी महाशास्त्र से कम नहीं होगा और यह आप शीघ्र ही देखेंगे कि आपके इस सत्यसमाज-रूपी उपवन के लिये उस संपूर्ण सामग्री को पीस कर—कूट-छान कर ऐसा सत्यामृत तय्यार किया जाने वाला है जिससे तमाम वृक्षों को संजीवन, सिंचन और प्रगति मिले।"

मैंने वर्धा आकर पूज्यवर पिताजी से प्रार्थना की कि वे सत्यसमाज के गंभीर, विस्तृत और ठोस सत्य-सन्देशों को व्यवस्थित और शृंखला-बद्ध बनाकर ऐसे उदार, सर्वव्यापक पारिभाषिक शब्दों में ढाल दें जिसके आधार पर संसार युग-युग तक वास्तविक सुख और शान्ति के असली मर्म को न भूल सके।

वहाँ क्या देर थी ?—तुरन्त काम शुरू कर दिया गया और आज आपके सामने उस मानव-धर्म-शास्त्र का यह पहला काण्ड मौजूद है जिसमें अपने जीवन के अनुभव-कोष का आधार लेकर विश्व-हित पर दृष्टि रखते हुए प्रेम-धर्म का ऐसा मौलिक विवेचन किया गया है जो सम्पूर्ण धर्मोंका मूल कहा जा सकता है। इस ग्रन्थराज में अन्य शास्त्रों का उपयोग तो उतना ही हुआ है जितना आँखों के लिये अञ्जन का होता है:—

'अनुभव और तर्क दो आँखें, अञ्जन सारे वेद'

यह शास्त्र इस पंक्ति का निर्दोष उदाहरण है। मानव-जाति को अपना आदर्श निश्चित करने के लिये, विश्व-मानव के जीवन-रहस्य को समझने के लिये और उसके अनुसार आचरण करने के लिये एक असाधारण मौलिक दृष्टि प्राप्त करना हो तो हरएक मज़हब के अनुयायी को इस शास्त्र का नियमित रूप से मनन-पूर्वक स्वाध्याय करना चाहिये।

विषय-सूची ध्यान से पढ़ने पर आपको यह साफ़ मालूम हो जायगा कि इस ग्रन्थ में आदर्श मानव-जीवन की कितनी ही जटिल समस्याओं को सुलझाते हुए गंभीर से गंभीर विषय को भी कितने सुन्दर, सरस, युक्तियुक्त, संक्षिप्त और सीधे-साधे नवीन पारिभाषिक शब्दों में स्पष्ट किया गया है जो अन्य शास्त्रों में आपको कचित् ही दिखाई देगा।

यद्यपि इस महाशास्त्र का अवतरण सत्यसमाज के लिये हुआ है फिर भी इसका लाभ तो संसार को मिलनेवाला है। आप जानते हैं कि संसार के सर्वोत्कृष्ट प्रयत्न का नाम भगीरथ प्रयत्न है कारण कि सम्राट् भगीरथ गंगा-सरीखी सुर-सरिता को अपने पूर्वज सगर-पुत्रों के उद्धारार्थ घोर परिश्रम से हमारे बीच लाये हैं—परन्तु उन सगर-पुत्रों का उद्धार हुआ या नहीं यह तो भगवान भूतनाथ ही जानते हैं लेकिन उस गंगावतरण से आज हमें कितना लाभ मिलता है यह आप प्रत्यक्ष देख रहे हैं। उसी प्रकार इस सत्यामृत-प्रवाहिनी पवित्र गंगा से सत्यसमाज का उद्धार हो चाहे न हो पर एक दिन ऐसा अवश्य आयगा जब संपूर्ण विश्व-मानव को इस पवित्र तीर्थ में स्नान किये बिना अपना जीवन अधूरा-सा या यों कहिये कि किंकर्तव्यविमूढ़—सा लगने लगेगा।

इस शास्त्र के दो काण्ड और निकलेंगे जिनका नाम आचार—काण्ड और व्यवहार-काण्ड होगा। इस प्रकार यह शास्त्र दुनिया के लिये एक असाधारण मानव-धर्म-शास्त्र बन जायगा।

इसके नियमित मननपूर्वक स्वाध्याय करनेवाले पाठक एक ऐसी ख़ास मौलिक और सम-भावी दृष्टि पायेंगे जिसके द्वारा वे हरएक स्थान की हर एक वस्तु को हर एक समय यथावस्थित रूप में देख सकें।

मनुष्य के मानस का यह स्वभाव है कि वह कल्याण-कारी समझकर जिस तत्व को प्रचण्ड प्रयत्न से ग्रहण कर पाता है उसे ही सुन्दर समझकर सहज ही स्वीकार कर लेता है।

मुझे यह लिखते हुए सब से अधिक हर्ष होता है कि यह महाशास्त्र इसी उद्देश्य को सामने रख कर प्रकाशित किया गया है कि प्रत्येक श्रेयस्कारी तत्व मनुष्य के मानस को प्रिय, सुन्दर या सुख देनेवाला प्रतीत होने लग जाय ताकि सब लोग सरलतापूर्वक आनन्द के साथ उसका आचरण कर सकें।

अंत में मैं यह विश्वास-पूर्वक कहता हूँ कि यदि शिक्षण-संस्थाओं के संचालक इस ग्रंथ का श्रद्धा के साथ स्वाध्याय करेंगे तो वे साम्प्रदायिक विष से शून्य सम-भावी धार्मिक शिक्षा के लिये इसे एक मात्र पाठ्य-ग्रन्थ बनाने के लिये तुरन्त लालायित हो उठेंगे।

आशा है कि गुण-ग्राही पाठक हमारे इस सर्वोपयोगी महान्-अनोखे प्रयत्न की काफ़ी क़द्र करेंगे।

विनीत—

सूरजचन्द सत्यप्रेमी

[डाँगी]

२७-१-१९४०

सत्याश्रम, वर्धा

[सी. पी.]

विषय-सूची—

६ छट्ठा अध्याय -- जीवनदृष्टि -- पृ. १४१ से २११

समर्पण........

भगवान सत्य के चरणों में

परम पिता !

तेरी वस्तु तुझी को अर्पण ।
जो कुछ कहलाता है मेरा, है तेरी ही करुणा का कण ॥
तेरी वस्तु तुझी को अर्पण ॥ १ ॥

तीर्थंकर है तीर्थ बनाते ।
पैग़म्बर पैग़ाम सुनाते ॥
तेरी ही झाँकी दिखलाकर कोई हैं अवतार कहाते ॥
करते हैं सर्वस्व समर्पण ।
तेरी वस्तु तुझी को अर्पण ॥ २ ॥

पर यह दीन कहाँ क्या पाये ?
उसका क्या ! जो भेंट चढ़ाये ॥
दिल निचोड़कर ले आया बस, तेरा चरणामृत बन जाये ।
पीता रहे इसे जग क्षणक्षण ।
तेरी वस्तु तुझी को अर्पण ॥ ३ ॥

तेरा दास

—दरबारीलाल सत्यभक्त

सत्यामृत

[मानव—धर्म—शास्त्र]

दृष्टिकांड

पहिला अध्याय (सत्य-दृष्टि)

परम निरीश्वर का ईश्वर तू वीतराग का राग।
बुद्धि भावना का संगम तू तू है अजब प्रयाग ॥

भगवान सत्य

भगवान एक अगम अगोचर तत्त्व है। उसने जगत बनाया है या नहीं बनाया है, वह न्यायाधीश और दंडदाता है या नहीं, ये सब दार्शनिक प्रश्न विवादापन्न हैं और अधिक उपयोगी भी नहीं हैं। पर सत्य के रूप में जो भगवान की मान्यता है वह उतनी विवादापन्न नहीं है जितनी कि उपयोगी है।

भगवान मानने का मतलब यही है कि उस की कृपा से हम सुख--कल्याण की ओर बढ़ते हैं, हमारे मनमें सद्बुद्धि--विवेक जाग्रत होता है। इस लिये भगवान ज्ञान-मूर्ति और कल्याण--धाम है। यह तत्त्व निर्विवाद रूप से सत्य है।

सुख हमें अकारणक नहीं मिल सकता। उसके जो जो कारण हैं उनसे ही मिलेगा। सत्य उन्हें दिखायगा और पूर्ण दर्शन के बाद क्रिया अपने आप हो ही जायगी इसलिये सत्य-प्राप्ति सुख-प्राप्ति है-दुःखनिवृत्ति है।

भ्रम ही दुःखमूल है उसके दूर हो जाने से सब सुख मिल जाते हैं अथवा जो दुःख बाहर से दिखाई देते हैं वे अपने ऊपर असर नहीं डाल सकते। सुख प्राप्त हो जाय--दुःख असर न डाल सके यही तो जीवन की पूर्णता है, सार्थकता है और यह भगवान सत्यके दर्शन से ही मिल सकती है।

भगवान सत्य व्यापक और नित्य है। संप्रदाय-धर्म-मज़हब आदि उसके कपड़े हैं जो बदलते रहते हैं। अगणित सम्प्रदाय अगणित शास्त्र उसके एक अंश के बराबर भी नहीं। इस विशाल विश्व के अनन्त भूतकाल में और अनन्त भविष्य काल में कब किस कार्य से प्राणी की भलाई हुई या होगी ये अनन्त घटनाएँ कब कहां कल्याणमय हैं और कब कहां अकल्याणमय, इसकी गणना कौन कर सकता है? इस विराट् सत्य को-अनन्त सत्य को शब्दों में या एक जीवन या कुछ जीवनों के अनुभवों में सीमित कर देना समुद्र के समस्त जल को चुल्लू में भर लेना है। इस अहंकार के कारण लोग सत्यसे दूर ही भागते हैं और इस प्रकार कल्याण से दूर भागते हैं। विराट् सत्य के विषय में अपनी अज्ञानता का ठीक ठीक ज्ञान हुए बिना सत्य-प्राप्ति नहीं होती-न सर्वज्ञता मिलती है।

तेरा कण पाकर बनते हैं जन सर्वज्ञ महान।
पर न कभी हो सकता तेरी सीमाओं का ज्ञान ॥

यहां सत्य का अर्थ सच बोलना या ज्यों का त्यों बोलना नहीं है। यह तो विराट् सत्य-अनन्त सत्य-भगवान सत्य का बहुत ही छोटा अंश है या यों कहना चाहिये कि भगवान सत्य की सहचरी भगवती अहिंसा का अंश है। भगवान के भीतर तो वे सब दृष्टियाँ, वे सब अनुभव, वे सब तर्कणाएँ और वे सब योग आजाते हैं जो सुख और सुख-पथ का प्रत्यक्ष कराते हैं।

प्रकृति नियमानुसार काम करती है। कार्य-कारण की परम्परा ध्रुव है। हम सत्य को धोखा दें तो कार्य कारण की परम्परा को धोखा देंगे। पर वह तो ध्रुव है इसलिये उसका कुछ न बिगड़ेगा-हम पिस जायेंगे। इसलिये हमें सत्य समझना चाहिये-सत्य पाना चाहिये उसके दर्शन करना चाहिये।

भगवान सत्यके दर्शन करने के लिये तीन बातों की आवश्यकता है। **१-निष्पक्षता २ परीक्षकता ३ समन्वय-शीलता**।

१ निष्पक्षता

जिस प्रकार एक चित्र के ऊपर दूसरा चित्र नहीं बनाया जा सकता अथवा तब तक नहीं बनाया जा सकता जब तक नीचे का चित्र किसी दूसरे रंग से दबा न दिया जाय उसी प्रकार जब तक हृदय किसी पक्ष से रँगा हो तब तक उस पर सत्य की छाप नहीं बैठ सकती। मनुष्य का हृदय दो प्रकार के मोहों से रँगा रहता है इस लिये सत्य का चित्र उसपर नहीं बनता। [क] **कालमोह** [ख] **स्वत्वमोह**। इन दोनों प्रकार के मोहों का त्याग किये बिना सत्यके दर्शन नहीं हो सकते।

(क) **कालमोह**--कालमोह दो तरह का होता है एक **प्राचीनता का मोह** एक **नवीनता का मोह**। प्राचीनता-मोही उचितानुचित का विचार नहीं करते वे प्राचीनता देख कर ही किसी बात को मान लिया करते हैं। इसलिये सत्य जब समयानुसार किसी नयेरूप में आता है तब उसका अपमान करते हैं। और पुराना रूप जब विकृत होकर असत्य बन जाता है तब भी उससे चिपटे रहते हैं। इस प्रकार वे सत्य का भोजन नहीं कर पाते और असत्य का मल [जो कि एक दिन भोजन था] दूर नहीं कर पाते। इसलिये प्राचीनता का मोह उनके जीवन को बर्बाद कर देता है।

प्राचीनता के मोह के दो चिन्ह हैं। **विचार सत्यका विरोध** और **प्रत्यक्ष--सत्य पर उपेक्षा या उसका श्रेयोपहरण**।

जब कोई विचारक समाज के विकारों को दूर करने के लिये या समाज के कल्याण के लिये समाजके सामने नये विचार रखता है तब प्राचीनतामोही इस विचार-सत्य का विरोध करने के लिये कमर कसता है। **प्राचीनता का मोही अवसर्पणवादी होता है**। वह सोचता है कि 'जितना कुछ सत्य था वह भूतकाल में आचुका, हमारे पुरखों को प्राप्त हो गया अब उस में कोई सुधार संशोधन या नवीनता नहीं आ सकती। यह जगत धीरे धीरे पतित हो रहा है आदि'। इन्हीं सब वासनाओं के कारण वह नवीन रूप में आये हुए विचार-सत्य का विरोध करता है। पतन में संतोष करता है, उन्नति के प्रयत्न को विडम्बना समझता है। नये विचारक से कहता है 'हमारे पुरखे क्या मूर्ख थे? क्या तुम्हारे बिना उनका उद्धार नहीं

हुआ ? क्या तुम उनसे बढ़कर हो ? उन्हीं की जूठन खाकर तुम पले हो अब उनसे बड़ा बनना चाहते हो, उनकी भूलें निकालते हो !

यह प्राचीनतामोही या अवसर्पणवादी यह नहीं सोचता कि हमारे पुरखों के पास जितनी पूँजी थी वह तो हमें मिली ही है साथ ही इतने समय में जगत ने जो और ज्ञान कमाया है वह भी पूँजी के रूप में हमें मिला है ऐसी हालत में अगर हम व्यक्तित्व की दृष्टि से न सही पर ज्ञान-भंडार की दृष्टि से बढ़ गये हों तो इसमें आश्चर्य क्या है ! बल्कि यह स्वाभाविक या आवश्यक है।

दूसरी बात यह भी सोचने की है कि पूर्वपुरुष हमारी अपेक्षा कितने ही अधिक ज्ञानी क्यों न हों पर देश काल के अनुसार परिवर्तन या सुधार करने से उनकी अवहेलना नहीं होती। अगर आज वे होते तो वे भी वर्तमान देशकाल के अनुसार सुधार करते।

तीसरी बात यह है कि देशकाल के अनुसार सुधार करनेवाला जनसेवक भले ही पुराने लोगों के टुकड़े पाकर पला हो—मनुष्य बना हो पर जिस प्रकार छोटे से बीज और आसपास के कूड़े कचरे को पाकर एक महान वृक्ष बन जाता है जिसके फूल सुगंधित होते हैं, फल रसीले होते हैं इस प्रकार उसका मूल्य बीज से और कूड़े कचरे से कई गुणा हो जाता है उसी प्रकार पुराने टुकड़ों को पाकर भी एक सुधारक जन-सेवक महात्मा बन सकता है।

जब हम बालक थे तब माँ बाप ने उस परिस्थिति के अनुसार छोटा कोट बनवा दिया था, गरमी के दिनों में पतला कुर्ता बनवा दिया था अब उनके मरने के बाद जीवन भर हम छोटा कोट ही पहिनें या शीत ऋतु आ जाने पर भी पतला कुर्ता ही पहिनें, अगर कोई हमें सलाह दे कि समयानुसार पोशाक बदल लेना चाहिये और हम कहें कि हमारे बाप क्या मूर्ख थे जिनने यह पोशाक बनवादी तो यह हमारा पागलपन होगा इसी तरह का पागलपन प्राचीनता-मोही में पाया जाता है।

धर्मसंस्थाओं में भी प्रारम्भ से ही असत्य का जो काफी मिश्रण हो जाता है उसका कारण जनसाधारण में फैला हुआ प्रचंड प्राचीनता-मोह है। जब जनता प्राचीनता की छाप के बिना किसी सत्यको ग्रहण करने को तैयार नहीं होती तब धर्म-संस्थाओं के संचालकों को उस नवीन या सामयिक सत्यपर प्राचीनता की छाप लगाना पड़ती है। इसलिये प्रत्येक धर्म-संस्था के संचालक किसी न किसी रूप में अपनी धर्म-संस्था का इतिहास सृष्टि के कल्पित प्रारम्भ से शुरू करते हैं इस प्रकार धार्मिक-सत्य देने के लिये उन्हें सिर पर ऐतिहासिक असत्य का बोझ लादना पड़ता है। और कालान्तर में यह असत्य धार्मिक सत्य को भी दबा बैठता है पर इसका उत्तरदायित्व धर्म-संस्था के संचालकों पर नहीं डाला जा सकता या बहुत कम डाला जा सकता है, वास्तविक दोष तो प्राचीनता-मोही जन-समाज का है।

प्राचीनता-मोहियों का दूसरा चिह्न है प्रत्यक्ष सत्य पर उपेक्षा या उसका श्रेयोपहरण। कुछ सत्य-जिन्हें प्रायः वैज्ञानिक-सत्य कहा जाता है-ऐसे स्पष्ट होते हैं कि उन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उनके विषय में प्राचीनतामोही उपेक्षा करता है और जहां उपेक्षा करना असंगत होता है वहां उस नवीन को प्राचीन साबित करने की चेष्टा करके नवीन के श्रेय का अपहरण करता है।

अगर किसी ने अनेकान्तवाद या स्याद्वाद का प्रणयन करके दर्शनों में समन्वय कर दिया तो प्राचीनता-मोही कहेगा 'उँह, इसमें क्या हुआ ? हम पहिले से जानते थे कि मनुष्य बाप की अपेक्षा बेटा है और बेटे की अपेक्षा बाप है। अनेकान्तवाद ने आखिर किया क्या ?

यह प्राचीनता-मोही यह न समझना चाहेगा कि बाप बेटे की सापेक्षता व्यवहार में रहने पर भी इनसे नित्य अनित्य, द्वैत अद्वैत आदि का समन्वय नहीं हो पाता था और बेटे का सापेक्षवाद इन दार्शनिक समस्याओं को हल नहीं कर पाता था, अनेकान्तवाद ने यही कर दिखाया। परन्तु प्राचीनतामोही या तो अनेकान्तवाद का विरोध करेंगे अथवा विरोध की असफलता पर उसे प्राचीन बताकर उसका श्रेय लूट लेंगे।

अगर किसी विद्वान ने भौतिक जगत् में सापेक्षवाद (Relativity) का आविष्कार किया और क्षेत्र कालको भी सापेक्ष और अनिश्चित कोटि में डाल दिया तो इस सिद्धान्त के महत्त्वको न समझकर या उसकी युक्तिपूर्ण आलोचना न करके प्राचीनता-मोही कह बैठेगा 'उँह' इसमें क्या हुआ। अनेकान्तवाद हमारे यहाँ है ही, सापेक्षवाद में फिर रहा क्या ? वह शब्द की समानता बता कर इस विशेष आविष्कार के महत्त्व को नष्ट कर देना चाहेगा। अगर किसी विद्वान ने विद्युत की किरणों में शब्द की लहरें पैदा कर उनको सुनने लायक बना दिया तो प्राचीनतामोही इस आश्चर्यजनक सत्य पर उपेक्षा करके कहेगा--ऊँह, इसमें क्या हुआ ? हम पहले से ही जानते थे कि पुद्गल पुद्गल सब एक हैं। इसलिये प्रकाश और शब्द परस्पर बदल गये तो इसमें नई बात क्या हुई ? हमारे शास्त्रकारों को यह सब मालूम था।

अगर किसी ने वायुयान बनाया तो प्राचीनतामोही को यह सब अपने शास्त्रों में दिखाई देने लगेगा। प्राचीनतामोही सामान्य और विशेष के मूल्य, महत्त्व और उपयोगिता का अंतर भुला देता है।

वह यह भूल जाता है कि संसार में ऐसे बहुत से सिद्धान्त हैं जिनका पता मनुष्य ने तभी लगा लिया था जब वह पशु से मनुष्य बना था, परन्तु उस क्षुद्र सामान्य ज्ञान के बाद मनुष्य ने जो लाखों करोड़ों विशेषताओं का ज्ञान किया है उनकी महत्ता उस क्षुद्र सामान्य ज्ञान में नहीं समा जाती। सारे विश्व को सद्रूप जान लेना एक बात है और उसकी अगणित विशेषताओं को जान लेना दूसरी। इन विशेष ज्ञानों की उपयोगिता सामान्य ज्ञान से पूर्ण नहीं हो सकती। परन्तु प्राचीनता मोही अपने प्राचीनता के मोह के कारण सामान्य ज्ञानों को इतना महत्व दे देता है कि विशेष ज्ञानों की कीमत और उसका महत्त्व उसके ध्यान में नहीं आता।

प्राचीनता के मोह को अड्डा जमाने के लिये एक बात और सहायक हो जाती है। संसार आविष्कार रूप सूर्योदय के पहले कल्पनारूपिणी उषा का दर्शन करता है। आज जो आविष्कार हो रहे हैं-मानव समाज के हृदय में सैकड़ों वर्ष पहले ही उनकी कल्पनाएँ अड्डा जमा चुकीं थीं। जैसे मनुष्य ने पक्षियों को उड़ता देख कर मनुष्यों में उड़ने की कल्पना की। वह स्वयं तो उड़ नहीं सकता था इसलिये उसने कल्पना सृष्टि में परियों की, गरुड़ आदि पक्षि-वाहनों की, दिव्य और यांत्रिक विमानों की कल्पना की। कल्पना के कोई लगाम तो होती नहीं इसलिये वह मनचाही दौड़ती है। जहां चाह हुई-यदि ऐसा होता तो कितना अच्छा

था–वहां मनने उसकी पूर्ति कर दी, ये ही सब कल्पनाएँ पहले तो अवतारी-पुरुषों और देवता आदि के विषय में रहीं, पीछे प्रयत्न करते करते सैकड़ों वर्षों की तपस्या के बाद मनुष्य ने इन्हें प्रत्यक्ष पा लिया । आविष्कारका यह साधारण नियम है कि पहले वह कल्पना में आता है- पीछे दुनिया के सामने प्रत्यक्ष होता है । आविष्कार के इतिहास के साधारण नियम को भूल कर प्राचीनता-मोही कल्पनाओं को इतिहास बना लेता है फिर नवीनता के सत्य की अवहेलना करता है ।

प्राचीनता के मोह में विचार-सत्य का विरोध करके, प्रत्यक्ष-सत्य पर उपेक्षा करके या उसका श्रेयोपहरण करके, मनुष्य अपनी उन्नति का द्वार बंद कर देता है । जीवन का चिह्न ही यह है कि वह नये भोजन को खा सके और पुराने भोजन के मल को दूर कर सके । इन में से अगर एक भी क्रिया बंद हो जाय तो मौत हो जाती है । प्राचीनता-मोही इसी तरह मौत के पंजे में पड़ जाता है । न वह नया सत्य ग्रहण कर सकता है और न पुराने विकारों को हटा सकता है । जिस समाज में इस प्रकार के प्राचीनता-मोहियों की प्रबलता रहती है उस समाज का विकास ही नहीं रुक जाता किन्तु उसका जीवन भी मुर्दोंसे बाजी लेने लगता है । वहाँ निराशा ही छाई रहती है । किसी कैदी को मृत्यु--दंड की आज्ञा सुना कर अगर किसी जेल में बंद कर दिया जाय तो उसके जीवन की घड़ियाँ जिस प्रकार निराशा और दुःख में व्यतीत होंगी उसी प्रकार प्राची-नता-मोही समाज का जीवन भी होगा । वह अपने अवसर्पण-वाद के कारण पतन की आशा लगाये बैठा रहेगा । दूसरों को आगे बढ़ते देखकर वह उनकी नकल करेगा और उनके पीछे घिसटेगा पर स्वस्थ मनुष्य की तरह चल न सकेगा । यह प्राचीनता का मोह इस प्रकार मनुष्य को बिल-कुल अंधा और अकर्मण्य बना देता है ।

प्राचीनता के मोह को नष्ट कर देने का मतलब हरएक प्राचीन वस्तु को नष्ट कर देना नहीं है—आवश्यक और समयोपयोगी तत्व चाहे नवीन हो या प्राचीन हमें ग्रहण करना चाहिये । फिर भी इतना कहना आवश्यक है कि जहां अन्य सब बातें समान हों और प्राचीन और नवीन में से किसी एक का चुनाव करना हो तो हमें नवीन को चुनना चाहिये । क्योंकि प्राचीन की अपेक्षा नवीन में तीन विशेषताएँ रहती हैं ।

१-नवीन हमारी वर्तमान परिस्थिति के निकट होने से प्राचीन की अपेक्षा हमारी परि-स्थिति के अधिक अनुकूल होता है ।

२-यह स्वभाव है कि ज्यों ज्यों समय जाता है त्यों त्यों मूलवस्तु विकृत या परिवर्तित होती जाती है । इसलिये नवीन की अपेक्षा प्राचीन को विकृत होने के लिये समय अधिक-मिलता है इस-लिये प्राचीन की अपेक्षा नवीन कुछ शुद्ध रहता है ।

३-प्राचीन के कर्ता को जितना अनुभव और साधन-सामग्री मिलती है नवीन के कर्ता को उससे कुछ अधिक मिलती है इसलिये नवीन कुछ अधिक सत्य या अधिक पूर्ण रहता है ।

इसका यह मतलब नहीं है कि जितना नवीन है सब अच्छा है । तात्पर्य इतना ही है कि प्राचीन की अपेक्षा नवीन को अच्छा होने का अधिक अवसर है । हो सकता है कि किसी नवीन में अधिक अवसर का ठीक ठीक या पूरा उपयोग न हो और किसी प्राचीन में कम अव-सर का भी उचित उपयोग हुआ हो इसलिये

कहीं कोई प्राचीन नवीन से अच्छा हो। पर इस अच्छेपन का कारण उसकी प्राचीनता न होगी किन्तु अवसर का या प्राप्त-सामग्री का उचित उपयोग होगा।

नवीन में प्राचीन की अपेक्षा यद्यपि तीन विशेषताएँ रहतीं हैं फिर भी नवीनता को सत्यासत्य निर्णय की कसौटी न बनाना चाहिये। प्राचीनता का मोह जैसे सत्य-दर्शन में बाधक है वैसे ही **नवीनता का मोह भी सत्यदर्शन में बाधक हो जाता है।**

नवीन हो जाने से ही कोई चीज़ प्राचीन से अच्छी नहीं हो जाती। कभी कभी प्राचीन विकृत होकर नवीन रूप धारण करता है। धर्मों के इतिहास में ऐसी बहुत सी बातें मिलेंगी कि जो धर्म मूल में अच्छे थे वे पीछे विकृत हो गये। पर पीछे का विकृत नवीनरूप नवीनता के कारण अच्छा नहीं हुआ।

कभी कभी मनुष्य को नवीन से फिर प्राचीन की ओर जाना पड़ता है ऐसे अवसर पर नवीनता-मोही प्राचीनता से घृणा के कारण प्राचीनता की ओर नहीं जाना चाहता। जैसे वैदिक धर्म की आश्रम-व्यवस्था पुरानी चीज़ है आज नष्ट हो चुकी है, अब फिर कोई उसकी स्थापना करना चाहे तो प्राचीन होने के कारण ही वह असत्य न हो जायगी।

इसलाम में ब्याज लेने की मनाई है पर यह विधान पुराना पड़ गया है। अब आज कोई ब्याज को बन्द करना चाहे तो यह प्राचीनता के कारण अनुचित न हो जायगा।

जैनियों और बौद्धों ने मूर्त्ति-पूजा को व्यवस्थित और व्यापक रूप दिया, पीछे परिस्थिति बदल जाने से उसका विरोध हुआ जो कि अभी तक चालू है। अब कोई उसको फिर व्यवस्थित और व्यापकरूप देना चाहे तो प्राचीन होने के कारण ही वह असत्य न हो जायगा।

कभी एकतन्त्र से प्रजातंत्र और कभी प्रजातंत्र से एकतन्त्र पर आना पड़ता है। पुरानी चीज़ का पुनरुद्धार होते देखकर नवीनता-मोही को घबराना न चाहिये। प्राचीन अगर उपयोगी है तो वह नवीन ही है। सर्वथा नवीन असंभव है।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो कभी पुराने नहीं पड़ते। सत्य, अहिंसा, सेवा, दान, त्याग ईमानदारी, विनय, समभाव और प्रार्थना आदि पुराने से पुराने होकर भी नये से नये हैं। इनके प्रगट करने की भाषा बदल सकती है पर ये तो सदा नये हैं। एक समय का सार्थक क्रियाकांड समय बीतने पर निष्प्राण हो जाता है फिर समय बदलने पर प्राणवान क्रियाकांड लाना पड़ता है। इसलिये प्राचीनता के समान नवीनता की बीमारी भी दूर करना चाहिये।

काल-मोह चाहे प्राचीनता का हो या नवीनता का-सत्यदर्शन में बाधक है। हमें नये पुराने का विचार न करके यही देखना चाहिये कि कल्याणकर क्या है? **जो कल्याणकर हो उसे अपनाना चाहिये फिर चाहे वह नया हो या पुराना।**

(ख) **स्वत्वमोह**- सत्य-दर्शनेच्छुकों का यह विचार रहता है कि जो सच्चा वह हमारा, परन्तु स्वत्व-मोही इससे उल्टा होता है। वह कहता है जो हमारा वह सच्चा। बल्कि कभी कभी यह मोह इतना प्रबल हो जाता है कि जो हमारा वही सच्चा। अपने सिवाय वह दूसरी जगह सच मानता ही नहीं। अगर कभी कहीं सत्य दिखाई दिया तो

वह यह सिद्ध करने की कोशिश करता है कि यह सब हमारे घर की चोरी है । अमुक देशके वैज्ञानिक लोक जो आविष्कार करते हैं वह सब हमारे ग्रंथों में लिखा है उन्हें पढ़कर उन लोगों ने आविष्कार कर लिये हैं । वे यह नहीं सोचते कि शताब्दियों से जिन ग्रंथों को तुम पढ़ रहे हो उनमें तुम्हें आज तक जिन आविष्कारों की गंध तक न आई वे दूसरों को वहां कहां से मिल गये ? ऐसे लोगों को अगर यह मानना पड़े कि नहीं यह सब तुम्हारे ग्रंथों में नहीं हैं तो वे उस सत्य को मानना अस्वीकार कर देंगे इस प्रकार यह स्वत्व-मोह सत्य-दर्शन में बाधक होजायगा ।

कुछ लोगों का स्वत्व-मोह कुछ दूसरे तरह के शब्दों से प्रगट हुआ करता है । वे कहा करते हैं—'विज्ञान की सब खोजें हमारी मान्यताओं का समर्थन करतीं हैं । यह स्वाभाविक है कि विशेष आविष्कार सामान्य मान्यता का समर्थन करे पर वह सैकड़ों भ्रमों का उच्छेदन भी करता है । स्वत्व-मोही उच्छेदन की बात पर तो ध्यान नहीं देता और एकाध सामान्य बात को पकड़ कर वह अपने गीत गाने लगता है । उसे सत्य से प्रेम या भक्ति नहीं होती किन्तु अपनी वस्तु का मोह होता है जोकि एक तरह से अहंकार का परिणाम कहा जा सकता है । वह सत्यको सत्य समझ कर नहीं मानता किन्तु अपना समर्थक समझ कर मानता है । अगर अपना समर्थक नहीं है तो वह मानने को तैयार नहीं है । अपने ग्रंथ सम्प्रदाय, मत आदि का मोह भी स्वत्व-मोह है जो कि सत्य-दर्शन में बाधक है । बहुत से पंडित अर्थ पहिले मान बैठते हैं फिर कोष और व्याकरण का कचूमर बना बना कर शब्दों से इच्छित अर्थ खींचते रहते हैं । कोई भी वाक्य हो वे किसी न किसी तरह से अपनी बात सिद्ध करना चाहते हैं । इसलिये अवसर के बिना ही अलंकार, एकाक्षरी-कोष आदि का उपयोग करते हैं और सीधे तथा प्रकरण-संगत अर्थ को छोड़कर कुटिल अर्थ निकाला करते हैं । यह मतमोह भी स्वत्वमोह है ।

बहुत से लोग तो सिर्फ इसीलिये किसी सत्य को अपनाने को तैयार नहीं होते कि वह हमारे नाम का नहीं है । सत्यसमाज के सिद्धान्तों को जान कर बहुत लोगों ने उन्हें माना पर वे इसी-लिये प्रगट में समर्थन न कर सके, न उसके प्रचार में सहायता कर सके कि वे सिद्धान्त उनके सम्प्रदाय के नाम पर न कहे गये थे । वे अपने सम्प्रदाय के नाम पर कुछ दोषों को भी सहलेने को तैयार थे परन्तु अगर उनके नाम की छाप न हो तो वे परम सत्य से भी घृणा या उपेक्षा करने को तैयार थे । ऐसे लोग सत्य की खोज नहीं कर सकते । सत्य के खोजी को स्वत्व मोह -जिसे नाम-मोह भी कहा जा सकता है-से दूर रहना चाहिये । इस प्रकार दोनों प्रकार के मोहों का त्याग करने से मनुष्य में निष्पक्षता पैदा होती है । भगवान सत्य के दर्शन के लिये निःपक्षता एक आवश्यक गुण है ।

२ परीक्षकता

भगवान सत्य के दर्शन की योग्यता के लिये दूसरा आवश्यक गुण परीक्षकता है । जो आदमी परीक्षक नहीं है वह सत्य के दर्शन नहीं कर सकता । वह किसी बात को माने या न माने उसके मन का कुछ मूल्य नहीं है । तुम यह क्यों मानते हो ? क्योंकि हमारे बाप मानते थे इस उत्तर में कोई जान नहीं है । बाप की मान्यता से ही किसी बात को मानने में मनुष्य होने का

कोई ज्ञान-लाभ न हुआ। बाप हिन्दू था सो हिन्दू होना सत्य, बाप मुसलमान था सो मुसलमान होना सत्य, बाप मनुष्य था सो मनुष्य होना सत्य, और बाप पशु होता तो पशु होना सत्य, यह मानव की विचारधारा नहीं है यह तो एक तरह की जड़ता है। ऐसी जड़ता के साथ भगवान सत्यके दर्शन नहीं होते। उसके लिये परीक्षकता चाहिये। और परीक्षकता के लिये तीन बातें अवश्य चाहिये--१ **बुद्धिमत्ता** **२ अदीनता ३ प्रमाणज्ञान।**

बुद्धिमत्ता--यह परीक्षक होने के लिये पहिली बात है। सत्यदर्शन करने के लिये जिस बुद्धिमत्ता की जरूरत है वह उतनी दुर्लभ नहीं है जितनी लोग समझते हैं। सत्य के दर्शन करने की बौद्धिक योग्यता प्रायः फीसदी अस्सी आदमियों में होती है। यह हो सकता है कि वे कठिन भाषा न समझ सकें, भाषाओं के पंडित न हों, उन्हें पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान न हो, पर इसमें विशेष हानि नहीं है। सत्य का दर्शन कल्याणपथ का दर्शन है, अगर सरल भाषा में समझाया जाय तो प्रायः हरएक आदमी को उस की भलाई बुराई समझाई जा सकती है। अगर उसे समझ में नहीं आती तो इसका कारण बुद्धि का अभाव नहीं किन्तु उसके कुसंस्कार हैं। अगर कुसंस्कार दूर हो जाँयँ, निष्पक्षता आ जाय तो विद्या सम्बन्धी थोड़े ही सहयोग से मनुष्य इतना बुद्धिमान हो जाता है कि वह सत्यदर्शन कर सके। सत्यदर्शन के लिये विशाल पांडित्य की जरूरत नहीं है किन्तु प्राप्त-बुद्धि को उपयोगशील बनाने की जरूरत है। यही उपयोगशीलता बुद्धिमत्ता है।

अदीनता--बहुत से लोगों में बुद्धिमत्ता होने पर भी एक तरह की दीनता रहती है जिस से वे धर्म की, शास्त्र की और गुरु की परीक्षा करने में अपने को असमर्थ समझते हैं। धर्म के चलाने-वाले तो असाधारण महापुरुष थे, शास्त्रकारों का पांडित्य अगाध था, गुरुदेव की गुरुता तो असीम है, हम तो बहुत क्षुद्र हैं, भला हम में परीक्षा करने की क्या लियाकत है? इस प्रकार की दीनता से वे रूढ़ि-भक्त बन जाते हैं, इसलिये वे रूढ़ि के दर्शन तो कर लेते हैं पर सत्य के दर्शन नहीं कर पाते।

प्रश्न--यह तो एक प्रकार का विनय है और विनय तो आवश्यक गुण है इसे आप सत्यदर्शन में बाधक क्यों समझते हैं?

उत्तर--विनय और दीनता में अन्तर है। **विनय गुणानुराग और कृतज्ञता का फल है** और **दीनता निर्बलता का फल है**। विनयी मनुष्य निर्बल या क्षुद्र भी हो सकता है पर उसका विनय निर्बलता या क्षुद्रता का परिणाम न होगा। उसमें निर्बलता रहे या न रहे वह गुणानुराग या कृतज्ञता के कारण विनय करेगा ही, पर दीन में गुणानुराग मुख्य नहीं है निर्बलता मुख्य है। निर्बलता के हटने पर उसकी दीनता हट जायगी। इसलिये विनय के समान मालूम होने वाला व्यवहार भी हट जायगा।

शंका--तब तो दीनता को चापलूसी कहना चाहिये।

समाधान--दीनता और चापलूसी में भी अन्तर है, **चापलूसी में वंचना है, दीनता में वंचना नहीं है**। चापलूसी में सिर्फ अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये किसी को खुश करने का प्रयत्न किया जाता है और झूठी प्रशंसा भी की जाती है। अगर प्रशंसा सच्ची भी हो तो भी चापलूस को सत्यासत्य की पर्वाह नहीं होती।

दीनता में किसी को महान् अवश्य समझा जाता है पर उसमें किसी को खुश करके स्वार्थ सिद्ध करने की लालसा नहीं होती। **दीनता परीक्षक बनने में बाधा नहीं डालती. सिर्फ़ उसके प्रगट करने में बाधा डालती है।** इस प्रकार दोनों में काफ़ी अन्तर है। हां यह हो सकता है कि एक मनुष्य दीन भी हो और चापलूस भी हो। पर इससे तो इन दो दुर्गुणों की निर्विरोधता ही समझना चाहिये--एकता नहीं।

शंका-पर बड़े बड़े शास्त्रकारों की, महापुरुषों की परीक्षा की बातें करना छोटे मुँह बड़ी बात है। अगर मान लिया जाय कि आजकल ऐसे विद्वान हैं जो पहिले के शास्त्रकारों से भी बड़े हैं तो भी हर एक आदमी तो बड़ा नहीं हो सकता वह शास्त्रों की या गुरु आदि की परीक्षा कैसे करे?

समाधान--जिसकी हम परीक्षा करते हैं उससे हमें बड़ा होना चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है। परीक्षा दो तरह की होती है -एक **वस्तु परीक्षा** दूसरी **कर्तृत्व परीक्षा**। वस्तु परीक्षा में वस्तु के गुणागुण का ही विचार रहता है, किसी के कर्तृत्व-अकर्तृत्व का विचार नहीं रहता। इस परीक्षा में अपने गुणों के साथ वस्तु के गुणों की तुलना नहीं करना पड़ती। सोना, चाँदी, हीरा आदि की परीक्षा करते समय यह तुलना का विषय नहीं है कि परीक्षक गुणों में सोने, चाँदी आदि से बड़ा है या नहीं? इसलिये इस परीक्षा में परीक्ष्य--परीक्षक के बड़े छोटे का सवाल ही नहीं है।

कर्तृत्व-परीक्षा में ऐसी तुलना हो सकती है। पर कर्तृत्व—परीक्षा भी दो तरह की होती है-एक **मग्न परीक्षा** दूसरी **अमग्न परीक्षा**। मग्न-परीक्षा वह है जिसमें परीक्षक के कर्तृत्व में परीक्ष्य का कर्तृत्व डूब जाता है-छोटा रहता है। जैसे एक अध्यापक विद्यार्थी की परीक्षा लेता है तो अध्यापक के कर्तृत्व में विद्यार्थी का कर्तृत्व मग्न हो जाता है डूब जाता है।

अमग्न परीक्षा में यह बात नहीं होती उसमें परीक्षक का कर्तृत्व परीक्ष्य से छोटा रहता है फिर भी परीक्षकता में हानि नहीं होती। जैसे रसोई बनानेवाले ने रसोई स्वादिष्ट बनाई कि नहीं इसकी परीक्षा वह भी कर सकता है जो रसोई बनाने के कार्य में बिल्कुल अजान हो।

इसी प्रकार कोई स्वयं तो गर्दभराग में ही क्यों न गाता हो पर अच्छे से अच्छे गायक की परीक्षा कर सकता है, स्वयं नाचना न जानकर भी नृत्यकार की परीक्षा कर सकता है, यहां तक कि रोगी वैद्यक का बिल्कुल ज्ञान न रखते हुए भी वैद्य की परीक्षा कर सकता है।

इसका यह मतलब नहीं है कि अमग्न-परीक्षा में योग्यता की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है, उसमें कर्तृत्व भले ही न हो पर अनुभव करने की योग्यता अवश्य हो। जैसे-रोगी वैद्यक भले ही न जाने पर चिकित्सा से आराम हो रहा है या नहीं इतना अनुभव तो उसमें होना ही चाहिये। इसी प्रकार अन्य परीक्षाओं की भी बात है।

इस प्रकार अगर हमें शास्त्रों की या शास्त्रकारों की या गुरुओं की परीक्षा करना हो तो यह आवश्यक नहीं है कि हम उनसे भी बड़े शास्त्रकार या विद्वान हों। पर यह जानने की आवश्यकता अवश्य है कि उनके उपदेशादि जीवन में कितनी शान्ति पैदा करते हैं, वे कितने बुद्धिसंगत हैं आदि। इसी तरह से हम धर्मों की, शास्त्रों की और शास्त्रकारों की परीक्षा कर सकते हैं।

यह तो हुई सर्वसाधारण की बात। पर सत्य-खोजी में यह अवसर्पणवाद न हो तो यह और भी अच्छा। मनुष्य के हृदय में जहां यह विश्वास हुआ कि हम तो धीरे धीरे गिरते जा रहे हैं, पहिले लोगों के पास जो ज्ञान था वह हममें नहीं है, किसी भी तरह हम उनसे बढ़ नहीं सकते, तो उसका विकास रुक जाता है। पूर्व पुरुषों को महान पूज्य परमोपकारी मानना उनका यशोगान करना-पूजा करना बुरा नहीं है पर उन्हें सर्वज्ञ मान बैठना असत्य है, अनुचित और अकल्याणकारी है। सर्वज्ञता की मान्यता जब मनमें पैठ जाती है तब वह किसी व्यक्ति में सर्वज्ञता भी मान बैठती है फिर उसके विषय में अन्ध-विश्वास और पक्षपात होना स्वाभाविक है। जहां अन्ध विश्वास और पक्षपात है वहां परीक्षकता नहीं आ सकती! किसी व्यक्ति में असाधारण अनुभव असाधारण विद्वत्ता और परोपकारशीलता आदि मानने में हानि नहीं है पर सर्वज्ञ मानना अनुचित है।

खैर, यहां तो इतनी बात ही कहना है कि हमें अपने में ऐसी दीनता न रखना चाहिये जो सत्यासत्य-निर्णय में हमारी योग्यता को प्रगट न होने दे। विनय, भक्ति आदि रखते हुए भी इस प्रकार की अदीनता परीक्षकता के लिये आवश्यक है।

प्रमाणज्ञान--परीक्षक होने के लिये तीसरी आवश्यकता प्रमाण-ज्ञान की है। बहुत से लोग परीक्षा करने बैठते हैं पर परीक्षा करने के शस्त्र ही उनके ठीक नहीं होते इसलिये वे परीक्षा के लिये शक्ति लगाकर भी परीक्षक नहीं बन पाते। अमुक शास्त्र में तो यों लिखा है फिर तुम्हारी बात कैसे मानें? अथवा यह बात प्रत्यक्ष में दिखती नहीं फिर कैसे माने? अथवा तर्क से क्या होता है? इस तरह किस प्रमाण का कहां क्या उपयोगिता है इसका पता जिन्हें नहीं लगता वे परीक्षक नहीं हो सकते। इसलिये हर एक प्रमाण का बलाबल आदि जानना आवश्यक है।

शास्त्रका उपयोग--शास्त्र एक उपयोगी और आवश्यक प्रमाण है पर पूर्ण विश्वसनीय नहीं। जैसे न्यायालय में गवाहों का स्थान होता है वैसा ही सत्य के न्यायालय में शास्त्रका स्थान है। शास्त्र के वचन का यही अर्थ है कि अमुक व्यक्ति अमुक बात कहता है। पर वह आदमी कितना भी पुराना और महान क्यों न हो उसके कहने से ही कोई बात सिद्ध नहीं हो जाती। इसलिये शास्त्र किसी बात को सिद्ध करने में अक्षम है।

परन्तु शास्त्र का अगर बिलकुल उपयोग न किया जाय तो सत्य की खोज कठिन हो जाती है। शास्त्र प्रागैतिहासिक काल से प्राप्त हुए अनुभवों के संग्रह के समान हैं। यह हो सकता है कि उनमें कई अनुभव भ्रमपूर्ण हैं या विकृत हैं परन्तु अगर उन अनुभवों पर बिलकुल विचार न किया जाय तो मनुष्य मनुष्य कहलाने योग्य ही न रहेगा। इसलिये शास्त्रों पर उपेक्षा नहीं की जा सकती। उनपर विचार अवश्य करना चाहिये। शास्त्र की किसी बात को प्रमाण मानते समय ये तीन बातें देख लेना चाहिये।

१ वह किसी दूसरे प्रबल प्रमाण [प्रत्यक्ष तर्क] से खंडित न होती हो।

२ देशकाल परिस्थिति का विचार करते समय सम्भव मालूम हो। (बहुत सी बातें आज सम्भव हैं पर पुराने समय में सम्भव नहीं थीं उस समय सिर्फ कल्पना, आकांक्षा, अतिशयोक्ति आदि के कारण शास्त्र में लिख दी गई थीं वे आज सम्भव होने पर भी जब तक उनका साधक कोई

प्रबल प्रमाण न मिलेगा तब तक पुराने ज़माने में वे असम्भव ही समझी जाँयँगी)

३ अहितकर न हो ।

जो बातें प्रत्यक्ष या अनुमान से सिद्ध हैं उनकी बात दूसरी है वे तो मान्य हैं ही, परन्तु जो प्रत्यक्ष, अनुमान से सिद्ध नहीं हो सकतीं वे अगर विचार के लिये हमारे सामने आ जाँयँ तो हमें उक्त तीन बातें देखलेना चाहिये ।

अनुभवकी दुहाई--किसी बात के समर्थन में बहुत से लोग अनुभव की दुहाइ दिया करते हैं । अनुभव एक प्रबल प्रमाण है परन्तु कल्पना के स्वप्नों को अनुभव कहने का कोई अर्थ नहीं । ऐसे अनुभव अपने लिये ही उपयोगी हो सकते हैं या अपने अनुयायियों के लिये उपयोगी हो सकते हैं पर दुनिया के लिये नहीं हो सकते । फिर भी शास्त्र की अपेक्षा इसका स्थान अधिक है ।

जीवन व्यवहार में या मानव-प्रकृति के अभ्यास में जो अनुभव मिलता है उसका मूल्य बहुत अधिक है । बहुत से लोग दूसरों के विषय में 'ऐसा होने से ऐसा हो जायगा' इस प्रकार लम्बी कल्पना सृष्टि कर डालते हैं और इस तर्क भी कहने लगते हैं पर यह तर्क नहीं है यह सिर्फ कल्पना है इसका मूल्य अनुभव की अपेक्षा बहुत कम होता है । अनेक प्रकार के मनुष्यों से काम पड़ने से, मानव-प्रकृति के अभ्यास से जो अनुभव मिलता है वह इन कल्पनाओं से बहुत मूल्यवान है, उसमें पर्याप्त प्रामाणिकता भी है । पर ऐसे अनुभव भी अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार कुछ भिन्न भिन्न होते हैं और सब मनुष्यों की प्रकृति भी एकसी नहीं होती इसलिये उसमें 'प्रायः' रूपमें तो कोई बात कही जा सकती है पर निश्चित रूपमें नहीं; फिर भी इस 'प्रायः' का काफी उपयोग होता है । इन्हें उपमान--प्रमाण कहना चाहिये । उपमान कार्य--कारण या स्वभाव का निश्चित सम्बन्ध नहीं होता पर अनेक स्थानों की समानता से एक नये स्थानपर सम्भावना की जाती है । जो व्यवस्था में पर्याप्त उपयोगी है ।

प्रत्यक्ष का उपयोग--प्रत्यक्ष एक तरह का अनुभव ही है पर यहां मैंने अनुभव शब्द से एक तरह का मानस--ज्ञान लिया है । जब की प्रत्यक्ष शब्द से इन्द्रिय प्रत्यक्ष लिया है । अनुभव और शास्त्र की अपेक्षा इस की प्रामाणिकता अधिक है । पर प्रत्यक्ष के विषय विवादापन्न बहुत कम होते हैं इसलिये इसकी उपयोगिता कुछ कम है । पर किसी शास्त्र, अनुभव या तर्क के विषय की जाँच करने के लिये इसकी उपयोगिता अधिक है । प्रबलता में यह सर्वश्रेष्ठ माना जाता है यद्यपि कभी इसकी जाँच भी दूसरे प्रमाणों से करना पड़ती है ।

तर्कका स्थान--यह सब से अधिक व्यापक और प्रबल प्रमाण है । **तर्क अनुभवों या प्रत्यक्षोंका निचोड़ है** । प्रत्येक धर्मका तीर्थंकर अथवा प्रत्येक क्रान्तिकारी तर्क के बलपर ही अपने विचार जगत के सामने रखता है । प्रत्येक व्यक्ति अपने वचन या शास्त्र के अवलेपनके विषय में युक्तियुक्तता की ही मुख्य दुहाई देता है यदि वह ऐसा न करे तो अन्धश्रद्धा में पड़ा हुआ समाज उसकी बात सुने ही क्यों ?

परन्तु उसके बाद उसके अनुयायिओं में यह तर्कप्रियता नहीं रहती । तर्क अगर आये हुए या अवशिष्ट विकार को दूर करे तो अनुयायी उसको सहन नहीं करते । उनका तर्क परम्परागत बातों के समर्थन में ही खर्च होता है । जब वह परम्परागत बातों के समर्थन में अक्षम रहता है वह तर्क या युक्तियुक्तता की निःसारता की

घोषणा करने लगता है। कहने लगता है।

"उँह तर्क से क्या होता है वह तो बुद्धि का खेल है जैसा बनाओ बन जाता है। मानवी बुद्धि परिपूर्ण वस्तु नहीं है। आज तर्क से एक बात सिद्ध होती है कल वही खंडित हो जाती है असली और दृढ़ वस्तु तो भावना और श्रद्धा है तर्क तो भावना का दास है-भावना स्वामिनी है। तर्क-शास्त्री महीनों में उतना काम नहीं कर पाते जितना श्रद्धालु दिनों में कर जाते हैं या भावुक कर जाते हैं। तर्क का या बुद्धि का क्षेत्र ही सीमित है उसके निर्णय अस्थिर हैं आदि।"

भावना और बुद्धि दोनों ही जीवन के लिये अति उपयोगी हैं। दोनों ही अपूर्ण हैं जो कुछ है उसीसे हमें काम चलाना है। हां यह निश्चित है कि भावना की अपेक्षा बुद्धि विशाल है और तथ्यातथ्य निर्णय के कार्य में भावना की अपेक्षा बुद्धि में प्रामाणिकता अधिक है। भावना से हम जितना धोखा खाते हैं बुद्धि से उससे बहुत कम खाते हैं। भावना में हमारी इच्छा से अधिक और वस्तु से कम सम्बन्ध रहता है बुद्धि या तर्क में इससे उल्टी बात है। भावना के द्वारा बैठे बैठे आसमान के कुलाबे मिलाते रहिये जो वस्तु असंभव हो उसकी भी कल्पना करते रहिये परन्तु वस्तु की प्राप्ति के समय हमें धोखा खाना पड़ेगा जब कि बुद्धि में यह बात न होगी। उसका निर्णय सकारणक है, वहां हेतु है जो कि वस्तु से सम्बन्ध रखता है जब कि भावना इसकी पर्वाह नहीं करती इससे धोखा खाना पड़ता है।

भावना को स्वामिनी या साम्राज्ञी समझने में कोई आपत्ति नहीं है पर बुद्धि या तर्क को दास न बनाना चाहिये उसे मंत्रीपद देना चाहिये। दास का काम स्वामी की इच्छा के अनुसार नाचना होता है जब कि मंत्री मालिक की इच्छा के अनुसार नहीं हित के अनुसार सलाह देता है। हां, मानना न मानना मालिक के हाथ में है। परन्तु राजा का अधिकार अधिक होने से मंत्री की विशेषता उसे नहीं मिल जाती इसलिये निर्णय करने में भावना की अपेक्षा बुद्धि तर्क अधिक काम कर सकता है। हां, उस निर्णय को कार्य-परिणत करने में भावना ही अधिक उपयोगी है। जो राजा मंत्री की अवहेलना किया करता है वह राज्य खो बैठता है उसी प्रकार जिनकी भावना तर्क की अवहेलना करती है वे जीवन बर्बाद कर बैठते हैं।

यह बात ठीक है कि भावना की अपेक्षा तर्क का काम कठिन और धीमा है पर उसके मूल्य में भी अन्तर है। भावना ने कल्पना द्वारा थोड़े ही समय में ब्रह्मांड का अन्त पालिया, उसने सूर्य का रथ, सारथी, घोड़े आदि जान लिये, शेष नाग के सिरपर रखी हुई पृथ्वी देखली, देवताओं के द्वारा खिंचते हुए तारे देख लिये, इस प्रकार भोले हृदय की सारी जिज्ञासाएँ शान्त कर दीं। परन्तु वास्तविकता के क्षेत्र में इसका कुछ भी मूल्य नहीं हुआ बल्कि सत्यान्वेषण के कार्य में इससे बाधा ही उपस्थित हुई। परन्तु इसमें अपराध भावना का नहीं है हमारा है। हम हथौड़े का काम हाथ से लेते हैं इससे काम तो होता नहीं है हाथ ही घायल होकर हथौड़ा पकड़ने के काम का नहीं रहता। बुद्धि या तर्क का काम भावना से लेने पर ऐसा ही होता है। इसलिये तर्क के स्थान में भावना का उपयोग न करना चाहिये। और वस्तु-तत्त्व के निर्णय में तर्क को प्रधानता देना चाहिये।

तर्क के निर्णय उच्छृंखल या अस्थिर नहीं होते। वह कार्य-कारण या वस्तु-स्वभाव के नियत

सम्बन्ध पर अवलम्बित है। वह अनुभव के मार्ग में रोड़े नहीं अटकाता न सच्चे अनुभव का विरोध करता है। जहां उसकी गति नहीं होती वहां अपने आप अटक जाता है परन्तु अनुभव के नाम पर जो तथ्यहीन कल्पनाएँ उठतीं हैं उन का विरोध अवश्य करता है। इस बात को समझने के लिये कुछ उदाहरण उपस्थित करना ठीक होगा।

विश्व कितना बड़ा है, इस प्रश्न का उत्तर तर्क अभी नहीं दे सकता, क्योंकि करोड़ों मीलों से जो किरणें आतीं हैं उनसे सिर्फ इतना ही मालूम होता है कि करोड़ों मीलों तक विश्व है, परन्तु ऐसा कोई चिह्न नहीं मिलता जो शून्यता का सूचक हो। इसलिये तर्क विश्व की सीमा बताने में अभी अक्षम है। परन्तु जब उससे कोई पूछे कि जगह [space] का अन्त है कि नहीं? तब वह कहेगा—जगह का अन्त नहीं आ सकता, क्योंकि जगह की सीमा को निर्धारित करने वाला जो भी कुछ होगा, उसके लिये भी जगह की आवश्यकता होगी। इस प्रकार जगह की सीमा के बाद भी जगह सिद्ध हो गई, इसलिये तर्क ने जगह को अनन्त कह दिया।

इसी प्रकार वह कालको भी अनन्त सिद्ध कर देगा। परन्तु ज्ञान की अनन्तता का वह खण्डन ही करेगा, क्योंकि ज्ञान को अनन्त मान लेने में पदार्थ को सान्त मानना पड़ेगा, परन्तु पदार्थ का अन्त आ नहीं सकता, इसलिये ज्ञान को ही सान्त मानना पड़ेगा।

इस प्रकार तर्क जहाँ निश्चितरूप में खण्डन कर सकता है, वहां खण्डन कर देता है; जहां निश्चित रूप में मंडन कर सकता है, वहां मंडन कर देता है। जहां उसकी गति नहीं, जहां कोई हेतु नहीं मिलता, वहां वह चुप रह जाता है। सभी को अप्रमाणित कहने की बीमारी का नाम तार्किकता नहीं है।

सभी ज्ञानों का मूल अनुभव है परन्तु अनुभव भूत भविष्य को नहीं जान सकता, और जीवन के कार्य तो आगे पीछे का विचार करके करना पड़ते हैं तब इस जगह तर्क ही हमारी सहायता करता है। अनुभवों का फैला हुआ प्रकाश ही तर्क है। वह सर्वव्यापक नहीं है, फिर भी उसका स्थान विशाल से भी विशाल है।

यद्यपि कल्पना का स्थान तर्कसे भी विशाल है, परन्तु उसमें प्रामाणिकता न होने से उसका कुछ मूल्य नहीं है। जब अनुभव और तर्क से मनुष्य विश्वके सारे रहस्य न जान पाया, किन्तु इसके बिना उसे संतोष नहीं हुआ, अथवा जब अनुभव और तर्क ने मनुष्य की आशाओं को उसकी इच्छा के अनुसार तृप्त न किया, तब उसने कल्पनासे काम लेना शुरू किया। तथ्यातथ्य का विचार न करके अपनी आशा को पूर्ण करनेवाली उसने विशाल कल्पनाकी सृष्टि कर डाली। तर्क से तो उसका समर्थन हो नहीं सकता था, क्योंकि तर्क का तो खुला खेल है, तथ्यहीन कल्पनाएँ उसके सामने कैसे टिक सकतीं थीं? इसलिये उन कल्पनाओं को अनुभव कहा गया। अनुभव भीतर की चीज़ होने से उसके नाम पर कुछ भी धकाया जा सकता था। इसलिये स्वर्ग-नरक, भूत-भविष्य, लोक-परलोक आदि सब अनुभव के भीतर कर दिये गये। कोई बैठा बैठा कहे कि 'मुझे अपने दिव्य-ज्ञान से मनुष्य की पहुँच के बाहर अमुक जगत् दिखाई दे रहा है, वह ऐसा है, और वैसा है' आदि तो बेचारा श्रोता क्या करे? यह बात तर्क के नाम पर तो धकाई नहीं जा सकती थी, क्योंकि वहाँ

तो तुरन्त ही कोई चिह्न बताना पड़ेगा। अनुभव की दुहाई देने में इन सब बातों की छुट्टी है। यही कारण है कि अज्ञेय विषयों में सभी मत वाले एक दूसरे से विरुद्ध कुछ न कुछ कहते हैं और अनुभव की दुहाई देते हैं।

परन्तु ये कल्पनायें उड़ते उड़ते कभी कभी ऐसी ऊटपटाँग जगह पर पहुँच जातीं हैं, जहां तर्क की मार के भीतर आ जातीं हैं, तर्क इन का खण्डन कर सकता है। वहां इनकी पोल खुल जाती है। परंतु मनुष्य प्राचीनता की बीमारी के कारण इनकी रक्षा में दौड़ता है, और कहता है कि खबरदार! ये बातें अनुभवकी हैं, यहां तर्क की गति नहीं है! परंतु अगर तर्क की गति न होती तो तर्क के द्वारा खंडित क्यों होतीं? अगर तर्क उनका खण्डन कर सकता है तब वे तर्क के स्थान के बाहर नहीं कहीं जा सकतीं।

आश्चर्य तो यह है कि जो बात अनुभव के क्षेत्र के बाहर है उसे अनुभव का विषय कह दिया जाता है, और जो तर्क के क्षेत्र के भीतर है उसे तर्क के बाहर कह दिया जाता है। एक आदमी प्रसन्न है, और उसकी प्रसन्नता को हम तर्क से न जान सकें तो उसकी प्रसन्नताको अनुभव का विषय कहकर तर्क चुप रह जायगा, परंतु देशकालान्तरित वस्तुएँ जिनके अनुभव करने का कोई माध्यम ही नहीं मिलता और पारस्परिक विरोध आदि से कल्पना के सिवाय जिनका कोई कारण ही समझमें नहीं आता, उन्हें अनुभव के नाम पर कैसे माना जाता है? और तर्क से खंडित हो जाने पर भी उन्हें तर्क-क्षेत्र के बाहर कैसे कहा जा सकता है?

बहुत से लोग जब प्राचीन कल्पनाओं को तर्क से खंडित होते देखते हैं, तब चिल्ला उठते हैं कि–'तर्क का क्या? उससे तो सत्य भी असत्य सिद्ध किया जा सकता है, और असत्य भी सत्य सिद्ध किया जा सकता है।' परंतु वास्तव में तर्क में यह लचक नहीं है, तर्क के नाम पर जो वितण्डावाद चलता है, उसकी यह लचक है। और इस प्रकार की लचक तो ज्ञानमात्र में है। अनुभव और प्रत्यक्ष तो बडा जबर्दस्त प्रमाण माना जाता है, परन्तु वह तर्क से भी अधिक लचकदार है। कभी हम अपनी आँखों से देख कर भी सर्प को रस्सी या रस्सी को सर्प समझ जाते हैं, सूखी बालू में पानी का ज्ञान कर बैठते हैं, हजारों मीलों के गोल चन्द्रमा को छोटी सी थाली सरीखा देखते हैं, सिनेमा के पर्देपर दावानल, तालाब, समुद्र, मकान, पर्वत आदि सब कुछ देख डालते हैं, जहां यह सब कुछ नहीं होता; परन्तु इन सब बातों से हम प्रत्यक्ष को अप्रामाणिक नहीं कह सकते, क्योंकि ये सब प्रत्यक्षाभास हैं। इसीप्रकार तर्काभास के कारण तर्क को अप्रामाणिक नहीं कह सकते। प्रत्यक्ष से जिस प्रकार असत्य सत्य, और सत्य असत्य सिद्ध नहीं किया जाता उसी प्रकार तर्क से भी नहीं किया जाता।

तर्क के भीतर जो हमें भ्रम होता है उसके अनेक कारण हैं। जैसे कभी कभी हमारी पूरी मान्यता में सत्यके साथ असत्यका मिश्रण होता है तब असत्य का खण्डन होने से सत्यका खंडन मान लिया जाता है। जैसे—जैनियों ने पितृलोक का खण्डन कर दिया, और कह दिया कि हमने हिंदू-धर्म का खण्डन कर दिया। या किसीने जैनियों के जंबूद्वीप का, एक लाख योजन के ऐरावत हाथी का खण्डन कर दिया और कह दिया कि हमने जैन--धर्म का खण्डन कर दिया!

फिर लोग आश्चर्य में पड़ जाते हैं--अरे, जैन-धर्म तो सत्य है, या हिंदू धर्म तो सत्य है--क्या उसका भी खण्डन हो गया ? बस, तर्क को अप्रामाणिक कह दिया। अथवा सत्यांश की विजय होने पर असत्यांश की विजय घोषित की जाने लगती है। इससे भी असत्यांश की विजय के भ्रम से तर्क को गाली दी जाने लगती है। परन्तु यह सब हमारी नासमझी और अहंकार का परिणाम है, तर्क की अनिश्चितता का नहीं।

विशेष बुद्धिमान आदमी कभी कभी तर्काभासों का प्रयोग करके सत्य को असत्य और असत्य को सत्य सिद्ध कर देता है। परन्तु यह बात स्थानविशेष पर अमुक आदमियों के सामने ही हो सकती है, यह टिकाऊ नहीं होती। जिस प्रकार इन्द्रजाल के दृश्य टिकाऊ नहीं होते उसी प्रकार इसे समझना चाहिये। तर्काभासों का पता जब विद्वानों को लगता है और जब उन पर गंभीर विचार किया जाता है तब उनका रहस्योद्घाटन हो ही जाता है।

कभी कभी जिस विषय में तर्क का पूर्ण प्रवेश नहीं होता वहां पर सम्भावना के आधार पर कुछ बात निश्चय की जाती है। अथवा कोई सामान्य बात निश्चित होती है और उसको विशेषरूप दे दिया जाता है। ऐसी अवस्थामें कालान्तर में जब उस विशेषरूप को निश्चित करने वाले प्रमाण मिलते हैं तब पहिला विशेषरूप खंडित हो जाता है। इसका कारण तर्ककी अनिश्चितता नहीं है किन्तु तर्क के साथ कल्पना का मिश्रण है। उदाहरणार्थ जब लोगों ने देखा कि प्रत्येक पदार्थ ऊपर से नीचे गिरता है, तब उस ज़माने के लोगोंने निर्णय किया कि पदार्थ में गुरुत्व नामका एक धर्म है, जिससे चीज़ नीचे गिरती है। इस निर्णय में तर्क के साथ कल्पना का मिश्रण था। पदार्थ ऊपर से नीचे गिरता है, इसके दो कारण कहे जा सकते थे---एक तो यह कि या तो पदार्थ में ही कोई ऐसा धर्म है जिससे वह पृथ्वी की तरफ़ आता है, अथवा पृथ्वी में कोई ऐसा धर्म है जिससे वह पदार्थ को अपनी ओर खींच लेती है। वहां तर्क का काम इतना ही है कि दोनों में या दो में से किसी एक में किसी शक्ति या धर्म का सद्भाव सिद्ध करदे। परन्तु पुराने तार्किकों ने इस सामान्य निर्णय के साथ विशेष कल्पना को मिला कर गिरनेवाली वस्तु में ही गुरुत्व धर्म मान लिया जबकि इसके लिये उनके पास कोई तर्क न था। बाद में जब विशेष खोज हुई तब यही मालूम हुआ कि गुरुत्व नामका कोई धर्म नहीं है---प्रत्येक पुद्गल (Matter) में आकर्षण-शक्ति है जिससे वे एक दूसरे को खींचते हैं। पृथ्वी पुद्गलों का विशाल पिंड होने से वह छोटे पिंडों को अपनी ओर खींच लेती है। इसीका नाम गिरना है। इस नये सिद्धान्त ने पुरानी बात का खण्डन कर दिया परंतु पुरानी बात में जितना तर्क का अंश था उसका खंडन नहीं किया। तर्क के साथ जो कल्पना के द्वारा विशेष निर्णय किया गया था उसीका खण्डन किया गया।

इसी प्रकार दिन-रातका भेद देखकर मनुष्य ने सूर्य के गमन की कल्पना की, परन्तु यहाँ भी तर्क ने कल्पना को मिलाया। तर्क ने तो सिर्फ़ इतना ही निर्णय किया कि दोनों में कुछ अन्तर पड़ता है। वह अन्तर सूर्य की गति से भी हो सकता है; पृथ्वी की गति से भी हो सकता है; दोनों की गति से भी हो सकता है। तर्क ने तो सिर्फ़ अन्तर को सिद्ध किया। यह अन्तर किस

की गति से पैदा होता है, इसके लिये विशेष हेतु की आवश्यकता थी जो कि उस समय मिला नहीं। इसलिये विद्वानों ने कल्पना लड़ाकर सूर्य को ही चल मान लिया। पीछे इस बात का खंडन हो गया, परन्तु इसे तर्क का खंडन न समझना चाहिये। तर्क ने जो अंतर सिद्ध किया था वह तो आज भी सिद्ध है। अन्तर के कारणों के विषय में जो तर्कहीन कल्पना की गई थी अब उसका खण्डन हुआ है।

वैज्ञानिक बातों में जो संशोधन होते रहते हैं और कभी कभी पुराने सिद्धान्त कट जाते हैं वहाँ भी उन बातों का खण्डन नहीं होता तो तर्कसिद्ध हैं; सिर्फ़ उन बातों का खण्डन होता है जिन्हें उन तार्किकों ने अपनी कल्पना से रच डाला था।

तर्क के वास्तविक रूपको न समझकर लोग तर्क का विरोध करने लग जाते हैं और अन्ध-श्रद्धागम्य कल्पनाओं को अनुभव आदि सुन्दर नाम देकर तर्क को कामज़ोर अनिश्चित आदि कह देते हैं। परन्तु सच बात तो यह है कि अनुभव और तर्कका न कभी विरोध हुआ है, न होगा। दोनों एक दूसरे के सहायक हैं।

जो कुछ गड़बड़ी है वह कल्पनाओं की है। कभी कभी हम कल्पनाओं को अनुभव कह बैठते हैं और कभी कभी तर्क कह बैठते हैं। तब इन दोनों में विरोध नज़र आने लगता है, और एक दूसरे को काटने लगते हैं। परन्तु कल्पनाओं का मिश्रण न किया जाय तो दोनों हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाले और सच्चे सिद्ध होंगे।

इस विश्वकी समस्याओं को सुलझाने के मार्ग में बढ़ानेवाला तर्क ही है। अनुभव तो रास्ते में गड़े हुए मीलके पत्थरों की तरह हमें सूचना ही देता है, बाकी सब काम तर्कका ही है। इसलिये तर्कका स्थान विशाल है। वह हज़ारों अनुभवोंका निचोड़ होने से अधिक उपयोगी है। अन्धश्रद्धा के कारण या प्राचीनता के कारण अपनी पुरानी मान्यताओं को सुरक्षित रखने के लिये तर्कका विरोध न करना चाहिये। वस्तु-तत्व के निर्णय में तर्कका स्थान सबसे अधिक विशाल है। मनुष्यता का विशेष चिह्न भी यही है।

प्रमाण की उपेक्षा करने से या जहां जिस प्रमाण का जो स्थान है वहां उसका स्थान न जानने से परीक्षा करने की कोशिश करने पर भी परीक्षा नहीं हो पाती। इसलिये प्रमाणों के बलाबलका ध्यान अवश्य रखना चाहिये। इस प्रकार बुद्धिमत्ता, अदीनता और प्रमाणज्ञान इन तीन बातों से मनुष्य परीक्षक बन सकता है।

३ समन्वय-शीलता

भगवान सत्य के दर्शन के लिये तीसरी आवश्यकता समन्वयशीलता की है। समन्वयशीलता को निष्पक्षता का परिशिष्ट ही कहना चाहिये। परन्तु यह इतनी आवश्यक है कि इसको अलगरूपमें समझ लेना उचित है।

कालमोह और स्वत्वमोह को छोड़कर निष्पक्ष बन जाने पर तथा अदीन, बुद्धिमान और प्रमाणज्ञानी होकर निष्पक्ष बनजाने पर हमें तथ्यातथ्य का ज्ञान अच्छी तरह हो सकता है परन्तु जब तक उसका समन्वय न किया जाय तब तक भगवान सत्य के दर्शन नहीं हो सकते। **तथ्य को सत्य बनाने के लिये समन्वय आवश्यक है**। समन्वय के द्वारा तथ्य को हितकारी बनाया जाता है। घटना या सिद्धान्त ठीक हो परन्तु उसका उचित उपयोग क्या है, उसकी विविधता में एकता क्या है, उसका ठीक स्थान क्या है, किस समय उसका

कैसे उपयोग करना चाहिये आदि बातों की समझ न हो तो हमारा ज्ञान सत्य-दर्शन की दृष्टि से निष्फल हो जाता है ।

यहां समन्वय का कार्य किसी की बात को जन-कल्याण के लिये उपयोगी बना देना है । इसके लिये नानातरह के विरोधों का यथायोग्य परिहार करना आवश्यक है । समन्वय दो तरह का होता है । **(१) आलङ्कारिक (२) पारिस्थितिक**

आलङ्कारिक समन्वय-इसमें घटना के मूल-वर्णन पर उपेक्षा की जाती है और रूपक, श्लेष आदि अलङ्कारों के द्वारा शब्दों का अर्थ बदल कर प्राणी को बुराई से भलाई की तरफ़ ले जाया जाता है । जैसे किसी ने कहा-' हम गोवध ज़रूर करेंगे, हमारे शास्त्रों में लिखा है और पहिले भी होता था ' । इसके उत्तर में आलङ्कारिक समन्वय-वादी कहेगा, गोवध अवश्य होना चाहिये परन्तु गो का अर्थ गाय नहीं है किन्तु गो का अर्थ इन्द्रियाँ हैं सो उनका वध अर्थात् दमन अवश्य करना चाहिये ' यह गोवध का आलंकारिक समन्वय कहलाया ।

आलङ्कारिक समन्वय भी दो तरह का होता है । एक **उपपन्न** दूसरा **अनुपपन्न** । उपपन्न सयुक्तिक रहता है और अनुपपन्न युक्तिशून्य ।

शब्दों का अर्थ बदलते समय अगर अर्थ-परिवर्तन की अनिवार्यता सिद्ध हो तो उसे **उपपन्न** कहेंगे । जैसे-विश्वामित्र ने क्रोध में आकर दूसरी सृष्टि की । कोई प्राणी दूसरी सृष्टि बना सकता है, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारे आदि की रचना कर सकता है यह असंभव और अविश्वसनीय है इसलिये सृष्टि बनाने को आलङ्कारिक मानकर इसका वास्तविक अर्थ नया समाज बनालेना या नये उपनिवेश बसा लेना, किया जाय तो यह अर्थ सोपपत्तिक होगा । इसलिये यह उपपन्न-आलङ्कारिक समन्वय कहलाया ।

परन्तु गोवध अर्थात् इन्द्रियदमन, ऐसा अर्थ करके समन्वय करना **अनुपपन्न आलङ्कारिक** समन्वय है । क्योंकि गोवध का पशुवध अर्थ प्राकृतिक या ऐतिहासिक दृष्टि से असंगत नहीं है । इसलिये यहां आलङ्कारिक अर्थ की अनिवार्यता का कोई कारण नहीं हैं । इसलिये यह अनुपपन्न समन्वय कहलाया ।

अनुपपन्न समन्वय तथ्यहीन होता है इसलिये बुद्धिको सन्तुष्ट नहीं कर पाता, इसी से वह विश्वसनीय नहीं होता और जो विश्वसनीय नहीं है वह स्थायी वस्तु नहीं बन सकता । इससे भोले प्राणियों के मनपर प्रभाव पड़ता है । थोड़ा बहुत पांडित्य का चमत्कार भी दिखाई देता है, पर स्थायीरूपमें इससे लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है । थोड़े से भोले प्राणियों के सामने थोड़ी देर को लाभ होता है पर पीछे हँसी होती है और अपनी बात का विश्वास भी उठ जाता है ।

बहुत से लोग इस अनुपपन्न आलंकारिक समन्वयका उपयोग धर्ममद, जातिमद आदि के पोषण के लिये करते हैं । जैसे-अमुक लोग अग्नि में होम करते थे, इसका अर्थ करना-अग्नि अर्थात् ध्यानाग्नि, ध्यानाग्नि तो हमारे ही धर्म की वस्तु है इसलिये वे लोग हमारे ही सम्प्रदाय को मानते थे, इसलिये हमारा सम्प्रदाय व्यापक, महान और प्राचीनतम है । इस प्रकार का समन्वय मिथ्यात्व और असंयम है । इस दृष्टि से कोई भी समन्वय न करना चाहिये फिर यहां अनुपपन्न-समन्वय तो बिलकुल निंद्य है ।

पारिस्थितिक समन्वय—पारिस्थितिक समन्वय में तथ्य की उपेक्षा नहीं की जाती। बात को ज्यों की त्यों रखकर उसकी परिस्थिति का विचार करके समन्वय किया जाता है। जैसे-मुहम्मद साहिब ने गोवध आदि हिंसा के कुछ विधान किये तो इस वर्णन के अर्थ को बदलने की कोई ज़रूरत नहीं है, न मुहम्मद साहिब के विधान की निंदा करना चाहिये और न उसे अपनाना चाहिये। पारिस्थितिक समन्वय से ये सब बातें ठीक बैठ जातीं हैं।

उस समय की परिस्थिति का जब हम विचार करते हैं तब यह साफ़ समझ में आ जाता है कि मुहम्मद साहिब के हिंसा के विधान उससे भी बड़ी और कई गुणी हिंसा को रोकने के लिये थे। इसलिये वे अहिंसा के सहायक या अंश थे। परिस्थिति बदल जाने से अब उनकी ज़रूरत नहीं है इसलिये आज उन्हें अलग कर देना चाहिये। पर अरब की प्राचीन परिस्थिति को देखते हुए उस समय वहां वे विधान आवश्यक थे इस प्रकार पारिस्थितिक समन्वय में न अर्थ की खींचातानी है न असत्योपदेश है; यह विश्वसनीय तथ्य-पूर्ण और जनकल्याणकारी है।

इस प्रकार के और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं पर वे इसी ग्रंथ में आगे दिये जाँयगे।

इस प्रकार समन्वय के विषय में निम्न-लिखित बातें ध्यान में रखना चाहिये।

१—जातिमद, धर्ममद आदि के वशमें होकर समन्वय न करे। ख़ासकर ऐसी मनोवृत्ति से अनुपपन्न आलंकारिक समन्वय तो अत्यन्त निंदनीय है।

२—अनुपपन्न आलंकारिक समन्वय अविश्वसनीय है इसलिये धर्ममद आदि न होने पर भी जहां तक बने नहीं करना चाहिये।

३—अनुपपन्न आलंकारिक समन्वय में रूपक आदि (जैसे-अग्निका अर्थ ध्यान करना आदि) और भी हेय हैं, श्लेष कुछ ठीक है (जैसे गोवध में गो का अर्थ गाय न करके इन्द्रिय करना) फिर भी अनुपपन्न आलंकारिक समन्वय रूपक हो या श्लेष-हेय ही है। हाँ, कवित्व के लिये उसका उपयोग किया जा सकता है पर सत्य-दर्शन के प्रयत्न में यह ठीक नहीं है।

४—उपपन्न आलंकारिक समन्वय और पारिस्थितिक समन्वय, ये दोनों ही तथ्यपूर्ण और विश्वसनीय हैं इसलिये इनका उपयोग उत्तम है।

इस प्रकार निष्पक्षता, परीक्षकता और समन्वयशीलता के प्राप्त होने से मनुष्य को भगवान सत्य के दर्शन करने की योग्यता प्राप्त होती है। और भगवान सत्य के दर्शन हो जाने पर सुख की कुञ्जी हाथ में आ जाती है।

दृष्टिकांड, दूसरा अध्याय (ध्येय-दृष्टि)

(अंतिम ध्येय)

जिस व्यक्ति ने निष्पक्ष, परीक्षक और समन्वयशील बनकर सत्यदृष्टि प्राप्त करली है उसका सब से पहिला काम जीवन के ध्येय को देखना है जिससे वह जीवन-यात्रा का मार्ग निर्माण कर सके। अगर अनेक मनुष्यों से पूछा जाय तो इस प्रश्न के उत्तर नाना रूप में मिलेंगे। जैसे स्वतंत्रता, मोक्ष, ईश्वर-प्राप्ति, दुःखनाश, यश, सुख आदि। इनमें से किसी को भी ध्येय बना लिया जाय और उसके अर्थ का दुरुपयोग न किया जाय तो हमारा जीवन सफल हो सकता है। फिर भी तत्त्व-विवेचन की दृष्टि से अंतिम ध्येय वही कहा जा सकता है जिसके आगे हमें प्रयोजन का विचार न करना पड़े। किसीने पूछा नौकरी क्यों करते हो? उत्तर मिला-पैसे के लिये, पैसा क्यों? रोटी के लिये। रोटी क्यों? जीवन के लिये। जीवन क्यों? सुख के लिये। इसके बाद प्रश्न समाप्त हो जाता है। सुख किसलिये? ऐसा प्रश्न खड़ा नहीं होता इसलिये यही अंतिम ध्येय कहलाया।

स्वतन्त्रता, मोक्ष, ईश्वर-प्राप्ति, यश आदि ध्येयों के बाद भी प्रश्न खड़ा होता है कि ये किसलिये? बल्कि कभी कभी सुख के लिये या सुख की आशा में इनका बलिदान भी किया जाता है इसलिये इन्हें अंतिम ध्येय नहीं कहा जा सकता। हां, इन्हें अंतिम या समर्थ--साधन कहा जा सकता है। फिर भी सुख का स्थान इनसे महान और व्यापक है।

प्रश्न--जैसे हम कभी कभी सुख की आशा में स्वतन्त्रता छोड़ देते हैं उसी प्रकार कभी कभी स्वतंत्रता की आशा में सुख भी छोड़ देते हैं। अनेक देश-सेवक देशकी स्वतन्त्रता के लिये फाँसी पर लटक जाते हैं, सारा वैभव त्याग देते हैं इससे मालूम होता है कि स्वतन्त्रता का स्थान सुख से भी महान है। इसी प्रकार बहुत से लोग ईश्वर-प्राप्ति के लिये सुख का त्याग कर देते हैं इससे मालूम होता है कि सुख ही अन्तिम साध्य नहीं है।

उत्तर--देश की स्वतन्त्रता की वेदी पर जो सुख का बलिदान है वह वास्तव में अधिक सुख के लिये न्यून सुख का बलिदान है। करोड़ों मनुष्यों के सुख के लिये एक मनुष्य के सुख का बलिदान है। ईश्वर--प्राप्ति या मुक्ति में भी देह त्याग के बाद के अपरिमित सुख की आशा से अभी के थोड़े सुख का बलिदान है। इस प्रकार के बलिदानों के मूल में काल या मात्रा की दृष्टि से अधिक सुख के लिये न्यून सुख का बलिदान किया जाता है। समाज के लिये व्यक्ति जब अपने सुख का बलिदान करता है तब भी बहुजन के सुख के लिये अर्थात् अधिक सुख के लिये एक जन के सुख का बलिदान किया जाता है। इसलिये यह बात बिलकुल ठीक है कि जीवन का ध्येय सुख है। मोक्ष, स्वर्ग, स्वतन्त्रता, ईश्वर-

प्राप्ति आदि सुख के साधन हैं और इन साधनों के भी साधन धन पैसा आदि हैं जिन्हें मनुष्य अपना ध्येय मान बैठता है और जिस ध्येय की प्राप्ति के लिये इन साधनों को ध्येय बनाया है उन्हें भूल बैठता है।

कुछ विद्वान लोग सुख के बदले दुःखाभाव को जीवन का परम ध्येय मानते हैं। वह दुःखाभाव बड़ी मुश्किल से किसी किसी को मरने के बाद परममुक्त होने पर शायद मिलता होगा। पहिले तो परममुक्ति की समस्या हल करना ही कठिन है क्योंकि संसार के प्राणी करोड़ों वर्ष में एकएक के क्रम से भी परम मुक्त होते तो इस व्यतीत अनंत काल में आज तक एक भी प्राणी न बचा होता। अगर किसी तरह इस परममुक्ति को मान भी लिया जाय तो भी जीवन का ध्येय दुःखाभाव बताना आकर्षक नहीं है।

दुःखाभाव को अन्तिम ध्येय बताने का कारण यह कहा जाता है कि दुःख और सुख एक तरह से सापेक्ष हैं। बिना दुःख के सुख नहीं मालूम होता। ठंड के कष्ट के बिना रजाई का आनन्द नहीं मिलता। साथ ही एक बात यह भी है कि कितना भी सुख हो उसके साथ या आगे पीछे एक न एक दुःख लगा ही रहता है इसलिये अगर दुःख से पिंड छुड़ाना है तो सुख का त्याग करना अनिवार्य है। इसलिये जीवन का ध्येय ऐसी अवस्था होना चाहिये जिस में न तो दुःख हो न सुख हो।

दुःख से घबराया हुआ मनुष्य ऐसी कल्पना करे इस में कोई आश्चर्य नहीं है फिर भी गंभीर विचार करने पर दुःखाभाव जीवनका ध्येय नहीं मालूम होता।

सुख और दुःख एक प्रकार के संवेदन या अनुभव हैं। **अनुकूल संवेदन को सुख कहते हैं और प्रतिकूल संवेदन को दुःख कहते हैं।** सुख दुःख का अभाव हो जाना, इसका अर्थ हुआ संवेदन का अभाव होजाना। यह एक तरह की जड़ता है। पत्थर में भी सुख दुःख संवेदन नहीं है पर इसीलिये उसे परममुक्त नहीं कह सकते न ऐसी अवस्था किसी के जीवन का ध्येय बन सकती है।

मनुष्य के मन की परीक्षा करने से भी पता लगता है कि उसके सारे प्रयत्न सुख के लिये होते हैं दुःख के अभाव के लिये नहीं। दुःख रहे या न रहे पर मनुष्य सुख अवश्य चाहता है। इसलिये वह दुःख में भी मरना नहीं चाहता कोई कितने ही आराम से उसे मारना चाहे वह मरना न चाहेगा। उत्तेजना-वश आत्मघात करले यह दूसरी बात है, अथवा विचारपूर्वक जीवन की अपेक्षा मरने के बाद अधिक सुख का अनुभव करले इसलिये समाधि आदि से मर जाय तो बात दूसरी हैं इस में सिर्फ दुःख से छूटने की ही आकांक्षा नहीं होती परन्तु इस दुःख से रहित किसी निराकुल स्थान में पहुंचने की आकांक्षा होती है। उत्तेजनावश अज्ञान से कोई कहे कुछ भी पर बहुत से चक्कर काटकर भी अन्त में उस की आकांक्षा का अन्त सुख में होता है। अगर दुःख के बिना सुख नहीं मिलता तो यही कहना चाहिये कि **दुःख से अधिक सुख प्राप्त करना जीवन का ध्येय है,** जितने अंश में सुख अधिक है उतने अंश में सुख पाने के लिये प्राणी का प्रयत्न है।

प्रश्न–यह ठीक है कि दुःख से अधिक सुख पाने के लिये हरएक प्राणी प्रयत्न करता है पर इसीलिये सुख को अगर ध्येय मान लिया जाय तो पाप और अत्याचार जीवन के ध्येय बन जाँयगे। सुख के लिये चोरी व्यभिचार झूठ हिंसा

आदि सभी कार्य ध्येय के भीतर कहलाँयगे। एक व्यक्ति को इससे सुख होगा पर दूसरे हज़ारों को दुःख होगा। इस प्रकार सुख बढ़ाने के लिये किया गया हमारा सारा प्रयत्न व्यर्थ जायगा।

उत्तर—व्यक्ति के पाप से समाज की तो हानि है ही पर व्यक्ति की हानि भी कम नहीं है। पाप करना स्वयं एक दुःखप्रद कार्य है। क्रोध के समय मनुष्य का स्वसंवेदन सुखात्मक नहीं दुःखात्मक है। चोरी करते समय जो भय होता है वह भी दुःख की अवस्था है। अज्ञान आदि के कारण अन्य दुःखों की तरह ये दुःख मनुष्य को सहना पड़ते हैं। वास्तव में पाप कोई आनन्द की चीज़ नहीं है।

पर यहां जो प्रश्न उपस्थित हुआ है उस का उत्तर इस सूक्ष्म--विवेचन से नहीं होता। बहुत पाप ऐसे हैं और बहुत से पापी ऐसे हैं जहां पाप दुःखरूप नहीं मालूम होता। इसलिये जीवन के ध्येय का निर्णय करते समय हमें सामूहिक दृष्टि से विचार करना होगा साथ ही सुख और दुःख की मात्राओं का हिसाब भी रखना होगा।

जीवन का ध्येय दुःख मे अधिक सुख पाना है। इसका अर्थ अपना और आज ही दुःख से अधिक सुख पाना नहीं है। आज का सुख अगर कल अधिक दुःख देने वाला हो, हमारा सुख अगर दूसरे अनेकों को अधिक दुःख देने वाला हो तो इससे सुखवृद्धि न हुई। **सामूहिक दृष्टि से सुखवर्द्धन जीवन का ध्येय है।** अथवा दूसरे शब्दों में इसे यों कहना चाहिये—— **सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टि से यथासम्भव अधिक से अधिक प्राणियों का अधिक से अधिक सुख जीवन का ध्येय है।** अति-संक्षेप में **समाज का सुख जीवन का ध्येय है।**

प्रश्न—अपना सुख ही जीवन का ध्येय क्यों न हो समाज का सुख जीवन का ध्येय क्यों हो? समाज से क्या लेना देना?

उत्तर—यदि तुम अपने सुखको ही जीवन का ध्येय समझोगे तब दूसरे भी अपने सुखको जीवनका ध्येय समझेंगे तब जैसे तुम उनकी पर्वाह न करोगे वे तुम्हारी पर्वाह न करेंगे। इस पारस्परिक असहयोग और लापर्वाही का फल यह होगा कि संसार में जितना सुख है उसका शतांश मात्र रह जायगा और दुःख सौगुणा बढ़ जायगा। इतना ही नहीं संसार का अन्त ही हो जायगा। क्योंकि संसार सहयोग पर टिका हुआ है। इस प्रलय से बचने के लिये और संसार को अधिक से अधिक सुखी बनाने के लिये पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता है। जब संसार में अधिक से अधिक सुख होगा तब व्यक्ति को भी अधिक से अधिक मिलेगा। यह हमें कदापि न भूलना चाहिये कि दूसरों का सुख अपने सुख के बढ़ाने में मुख्य सहायक है इसलिये कहना चाहिये कि **सर्व-सुख या पर-सुख में निजसुख है**। व्यक्ति का तो कर्तव्य है कि वह अपने पराये के भेद को गौण कर के संसार में सुख बढ़ाने की कोशिश करे। दूसरे का उपकार करने में जितना दुःख हमें सहना पड़ता है उससे कई गुणा सुख दूसरे को मिलता है, इस प्रकार सुख दुःख का अगर हिसाब मिलाया जाय तो उसमें सुख की मात्रा अधिक निकलेगी।

एक आदमी खड्डे में गिर पड़ा हो और उसके निकालने का हम प्रयत्न करें तो हमें कुछ कष्ट तो होगा पर जितना हमें कष्ट होगा उससे कई गुणा आनन्द उस आदमी को मिलेगा। इस प्रकार सामूहिक दृष्टि से संसार में सुख की वृद्धि होगी।

जैसे एक बीज को मिट्टी में मिलाने से कई गुणा बीज और फल मिलता है उसी प्रकार परोपकार रूपी वृक्ष के लिये जो हम अपने सुख का बलिदान करते हैं उससे कई गुणा सुख दूसरे को मिलता है। इसी प्रकार कभी हमारा भी अवसर आता है जब हम दूसरे के त्याग का फल पाते हैं इस प्रकार परस्पर उपकार से संसार में सुख की वृद्धि होती है।

कभी कभी तो हमारी थोड़ी सी सेवा से दूसरों का लाखों गुणा उपकार हो जाता है। एक आदमी कुए में गिर पड़ा उसके बचाने में हमें जो कष्ट सहना पड़ेगा उससे लाखों गुणा सुख उसके प्राण बचने पर उसे मिलेगा। इस प्रकार अपने थोड़े से प्रयत्न से दूसरे को कई गुणा सुख मिला और दूसरे के थोड़े से प्रयत्न से अपने को कई गुणा सुख मिला इस प्रकार **पर सुख में निज सुख** है। मनुष्य जितने अंश में स्वार्थान्ध होगा उतने अंश में स्वपर-सुख कम मिलेगा। अपने सुख के लिये भी पर-सुख आवश्यक है।

परस्पर के उपकार से किस प्रकार सुख-सृष्टि होती है इसके लिये एक कल्पित हिसाब रखना ठीक होगा।

मान लीजिये दो व्यक्ति ऐसे हैं जो बिलकुल स्वतन्त्र हैं एक दूसरे को ज़रा भी सहायता नहीं करते। दोनों ही साल में ग्यारह महीने नीरोग रहते हैं और एक महीने बीमार। बीमारी में कोई किसी को सहायता नहीं करता। अब कल्पना कीजिये बिना परिचर्या के एक महीने तक बीमार रहने वाला व्यक्ति कितना दुःखी होगा। ग्यारह महीने की नीरोगता का सुख भी उसके आगे फीका पड़ जायगा। अगर वे बीमारी में एक दूसरे की सेवा करें तो सेवा करने में जितना कष्ट बढ़ेगा उससे दसगुणा कष्ट दूसरे से परिचर्या पाने से घट जायगा। सेवा करने के कष्ट की अगर दस मात्राएं हो तो सेवा पाने के आनंद की सौ मात्राएं होंगी। इस प्रकार दोनों ही दस देकर सौ पाने से ९० के लाभ में रहेंगे।

प्राणी में स्वार्थान्धता जितनी कम होगी परस्पर उपकार का प्रयत्न जितना अधिक होगा सुख की वृद्धि उतनी ही अधिक होगी। स्वार्थान्धता के कारण जो संघर्ष होता है उस छीना-झपटी में सुख पैदा ही नहीं हो पाता अथवा जो पैदा होता है उसका बहुभाग मिट्टी में मिल जाता है। इसलिये छीना झपटी जितनी कम हो, सहयोग जितना अधिक हो उतना ही अच्छा है। इससे समाज में सुख अधिक बढ़ेगा इसलिये व्यक्ति के हिस्से में भी अधिक आयेगा। इसलिये मनुष्य का प्रयत्न सार्वदेशिक और सार्वकालिक दृष्टि से यथासम्भव अधिक से अधिक प्राणियों का अधिक से अधिक सुख होना चाहिये। इसी को कसौटी बनाकर हम नीति अनीति का निर्णय कर सकते हैं।

प्रश्न--कभी कभी ऐसा अवसर आता है जब बहुजन अन्यायी होते हैं और अल्पजन न्यायी होते हैं ऐसे अवसर पर बहुजन के रक्षण का विचार किया जाय तो अन्याय का रक्षण होता है। उस समय यह कसौटी क्या काम आयगी :

उत्तर--बहुजन के पक्ष को अन्याय पक्ष क्यों कहते हैं ? इसके उत्तर में ही इस प्रश्न का उत्तर समाया है। इस समय का बहुजन सार्वदेशिक या सार्वकालिक दृष्टि से अल्पजन है और यह अल्पजन जब उस व्यापक बहुजन के हित का विरोध करता है तब अन्यायी हो जाता है। जैसे म. राम का दल छोटा था और रावण का

दल बड़ा था। इस प्रकार उससमय की दृष्टि से रावण दल बहुजन कहलाया पर यह बहुजन अपने से बड़े व्यापक बहुजन का विरोधी था। क्योंकि परस्त्री-हरण से सिर्फ़ राम की ही हानि नहीं थी किन्तु जब सीता-हरण के समान मंदोदरी-हरण होता तब रावण की भी हानि थी इस प्रकार परस्त्री-हरण से भूत-वर्तमान-भविष्य और यहां वहां सब जगह के सभी गृहस्थों के हित की हानि थी। अगर दस चोर एक साहुकार को लूटलें तो वर्तमान में एक जगह भले ही चोरी के पक्ष में दस आदमी हों परन्तु जब उन्हीं चोरों के घर में दूसरे चोर आजायें तब वे चोर चोरी के विपक्ष में हो जायगे। इस प्रकार वे दस चोर अमुक समय के लिये चोरी के पक्ष में थे बाकी समय के लिये चोरी के विपक्ष में थे। इस प्रकार बहुजन चोरी के विपक्ष में रहा।

प्रश्न--जब सुख--वर्धन जीवन का अन्तिम ध्येय हो जायगा तब आत्मशुद्धि पर उपेक्षा होगी। धर्म शरीर और वचन की चीज़ रह जायगी। मन में कैसी भी दुष्ट भावना हो पर वचन से ऐसी बात बोलदी या शरीर से ऐसा काम कर दिया जिस से बहुजनहित हो बस धर्म की समाप्ति हो गई।

उत्तर--वचन और शरीर मन के गुलाम हैं। मन जैसा चाहता है वैसा ही ये काम करते हैं। मनमें अगर द्वेष है और शरीर या वचन उसे प्रगट नहीं करते तो इसका मतलब यह है कि मन किसी कारण द्वेष को प्रगट करना नहीं चाहता। शरीर अगर अनुकूल नहीं है तो मन की इच्छा के अनुसार वह कार्य अवश्य करेगा। अगर नहीं करता है तो समझना चाहिये मन ही किसी कारण से उसे रोक रहा है। इसके पांच कारण हो सकते हैं। [क] मन सोचता हो कि जो द्वेष उत्पन्न हुआ है वह अभ्यास का परिणाम है उसे दबाना चाहिये वास्तव में यह अनुचित है [ख] अथवा यह सोचता हो कि द्वेष प्रगट करने से अशान्ति बढ़ेगी इससे दोनों दुःखी होंगे इसलिये रोक रखना चाहिये। [ग] या यह सोचता हो कि हम निर्बल हैं, द्वेष प्रगट करेंगे तो इसका प्रतिफल अच्छा न होगा, धन यश या सुविधा नष्ट हो जायगी। [घ] या यह सोचता हो कि अभी मौका नहीं है मौका आने पर सारी कसर निकाल ली जायगी। [ङ] अथवा किसी को विश्वास में लेकर उसका घात करने के लिये मन वंचना कर रहा हो इसलिये शरीर या वचन पर अंकुश डाला हो।

इन पांच कारणों में से पहिला कारण ही ऐसा है जिस में स्थायी रूप में सुखवर्धन है। दूसरा कारण भी सुखवर्धक है पर कुछ कम स्थायी है क्योंकि अगर अशान्ति का डर न हो तो वह द्वेष कर सकता है। ऐसे अवसर पर वह दुखद हो जायगा। तीसरा कारण इससे भी कम सुखवर्धक है वह निर्बलतारूप है, शक्ति आते ही वह कई गुणे रूप में दुःख देनेवाला बन जायगा। चौथा कारण भी तीसरे के समान है अन्तर इतना ही है कि तीसरे में शक्ति या योग्यता की कमी नहीं है सिर्फ़ अवसर की कमी है। तीसरे की अपेक्षा यह जल्दी दुःख देने वाला होगा। क्योंकि शक्ति को पैदा करने में जितना समय लगता है अवसर पाने के लिये प्रायः उतना समय नहीं लगता। जैसे हम किसी पर इसलिये क्रोध नहीं करते कि हम कमज़ोर हैं तो हम क्रोध को बहुत गहरा दबायेंगे और अन्त में भुला तक देंगे। पर अगर इसलिये क्रोध को दबाया है कि चार आदमी बैठे हैं

इसलिये क्रोध प्रगट नहीं करना चाहिये तो चार आदमियों के उठते ही क्रोध प्रगट करने का अवसर पाकर प्रगट करेंगे। पाँचवीं श्रेणी का क्रोध-शम अत्यन्त निंद्य है। यह विश्वास-घातक होने से कई गुणा दुःख देने वाला है।

अब इस पांच प्रकार के क्रोध-शम की सुखवर्धकता के साथ मन-शुद्धि को मिलाइये। पहिली श्रेणी में मन-शुद्धि अधिक है और सुखवर्धकता भी अधिक है अन्तिम श्रेणी में मन-शुद्धि बिलकुल नहीं है बल्कि अशुद्धि बहुत है और सुखवर्धकता भी बिलकुल नहीं है बल्कि दुखवर्धकता बहुत है। इससे मालूम होता है कि जितने अंश में सुखवर्धकता है उतने अंश में मनशुद्धि है। सुखवर्धकता का मनशुद्धि से कोई विरोध नहीं है बल्कि निकट सम्बन्ध है।

प्रश्न--जब दोनों में ऐसा सम्बन्ध है तब सुखवर्धन ही ध्येय क्यों कहा? आत्मशुद्धि क्यों नहीं? दोनों में बात तो वही निकलती है?

उत्तर--आत्मशुद्धि को ध्येय बनाने में दो आपत्तियाँ हैं---१ **अर्थ की अनिश्चितता** २ **जिज्ञासा की अशान्ति**।

१- आत्मशुद्धि शब्द का अर्थ करना ही कठिन है। आत्मा नित्य है या अनित्य, मूर्त है या अमूर्त इत्यादि विवाद खड़े हो जाते हैं। इन विवादों के साथ धर्म का सम्बन्ध जुड़ जाने से धर्म भी दर्शन की तरह विवादास्पद हो जाता है। आत्मा के साथ भौतिक कर्म लगा है या उसी का गुण अदृष्ट है या माया है इन में से किसे मानकर आत्मशुद्धि की जाय यह समस्या भी खड़ी हो जाती है। स्वर्ग, मोक्ष के प्रश्न भी आड़े आ जाते हैं।

अगर इन झगड़ों से पिंड छुड़ाकर सिर्फ मानसिक विकारों को हटाने का नाम आत्मशुद्धि कहकर ध्येय-निर्णय किया जाय तो मानसिक विकार का निर्णय करना भी सरल नहीं है। क्योंकि मन की तामस अवस्था में जब एक प्रकार की जड़ता आ जाती है, भले ही वह शान्ति या वैराग्य के नाम के आवरण से ढँकी हो, जैसे कि वृक्षों में पाई जाती है तब वह भी आत्मशुद्धि कहलायगी। साधारणतः यह समझ लिया जाता है कि मन वचन और शरीर की स्थिरता आत्मशुद्धि है और क्रियावत्ता अशुद्धि। यह ऐसा ही निर्णय है जैसा कि जलकी क्रियाशीलता का नाम है जलकी अशुद्धि और जलकी स्थिरता का नाम है जलकी शुद्धि। पर जैसे यह उल्टा नियम है उसी प्रकार मन वचन काय की स्थिरता अस्थिरता के साथ शुद्धि-अशुद्धि को जोड़ना उल्टा नियम है।

आकाश में ऊपर मेघ के रूप में नाचने वाला जल शुद्धतम है और गटर में बहनेवाला जल है अशुद्धतम। और साफ बोतल में भरा हुआ वर्षा का जल शुद्ध जल है और किसी गढ़े में रुका हुआ जल अशुद्ध जल है। चलाचल होने से शुद्धाशुद्धता का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार मन वचन काय की चलाचलता का भी शुद्धाशुद्धता से कोई सम्बन्ध नहीं है। स्थिर मन शुद्ध भी हो सकता है और अशुद्ध भी, क्रियावान मन शुद्ध भी हो सकता है और अशुद्ध भी। मछली पर ध्यान लगाकर बैठने वाला बगुला अशुद्ध है और कल्याण के लिये विश्वभर पर नजर लगाने वाला साधु शुद्ध है। ऐसी हालत में आत्मशुद्धि-अशुद्धि की परीक्षा कैसे हो? क्रिया और अक्रिया से तो इसका ताल्लुक रहा नहीं, तब इसके सिवाय और क्या कसौटी हो सकती है कि विश्वहित--जगत्कल्याण--सर्वसुख में लगा मन शुद्ध है और इससे उल्टा अशुद्ध। इस

प्रकार आत्मशुद्धि का निर्णय भी सुखवर्धन की कसौटी पर कसकर ही करना पड़ता है।

२-दूसरी बात यह है कि आत्मशुद्धि से जिज्ञासा शान्त नहीं होती। आत्मशुद्धि किसलिये? यह जिज्ञासा बनी ही रहती है। कहा जा चुका है कि हर एक बात के लिये यह पूछा जा सकता है कि यह किसलिये? स्वतन्त्रता किस लिये? भक्ति किसलिये? स्वर्ग या मोक्ष किसलिये? पर यह नहीं पूछा जा सकता कि सुख किसलिये? इसलिये सुखको अंतिम ध्येय बताया। सुख का प्रयोजन आत्मशुद्धि नहीं है किन्तु आत्मशुद्धि का प्रयोजन सुख है।

प्रश्न--सुखवर्धन ध्येय है तो ठीक, पर जैसे आत्मशुद्धि ठीक होने पर भी उसमें दो आपत्तियाँ हैं उसी प्रकार सुख-वर्धन ठीक होने पर भी उसमें दो आपत्तियाँ हैं। पहिली आपत्ति तो यह है कि इस ध्येय का दुरुपयोग बहुत हो सकता है। सुख-वर्धन के नाम पर सभी स्वार्थियों और पापियों को अपना स्वार्थ या पाप छिपाने की ओट मिल जाती है। किसी पाप को सुखवर्धक सिद्ध करना जितना सरल है उतना सरल उसे आत्मशुद्धि-रूप सिद्ध करना नहीं है। दूसरी बात यह है कि सुखवर्धन के ध्येय से जो हम प्रयत्न करते हैं उसमें दुःख-वर्धन ही अधिक हो जाता है। किसी आदमी को भूख से पीड़ित देख कर मांस खिलाने की दया में विश्व-सुख-वर्धन की अपेक्षा विश्व-दुःख-वर्धन ही अधिक है इसी प्रकार हमारे अन्य परोपकारों की बात भी समझिये। हम परोपकार के नाम पर असंख्य क्षुद्रजीवों का जीवन नष्ट कर देते हैं इस प्रकार एक जीवन के सुखवर्धन के लिये असंख्य जीवों का दुःखवर्धन करते हैं। इसलिये दयालु और परोपकारी बनने की अपेक्षा मनुष्य अहिंसक बने यही अच्छा है। सुख-वर्धन की अपेक्षा दुःख न देने का प्रयत्न अधिक अच्छा है। इसे ही आत्मशुद्धि कह सकते हैं।

उत्तर--दुरुपयोग सभी का हो सकता है, होता है। सुख-वर्धन की ओट में अगर शैतानियत छिपती है तो आत्मशुद्धि की ओट में हैवानियत छिपती है। सुख-वर्धन की ओट में मनुष्य स्वार्थी बन जायगा, स्वार्थ सिद्धि में भी विश्वहित की दुहाई देगा तो आत्मशुद्धि की ओट में अकर्मण्य बनकर समाज पर बोझ बनेगा और इस पर भी अहंकार की पूजा करेगा, दंभ फैलायगा, ठंडी क्रूरता का परिचय भी देगा। अन्याय और अत्याचार को शक्ति होते हुए भी न रोकना एक तरह की ठंडी क्रूरता है आत्मशुद्धि के नाम पर जो वीतरागता का नाटक किया जाता है उसमें ये सभी दोष आ सकते हैं।

कहा जा सकता है कि जहाँ आत्मशुद्धि है वहाँ अहंकार आदि कैसे रह सकते हैं? निःसन्देह नहीं रह सकते, ठीक उसी तरह जिस तरह जहाँ विश्व-सुख-वर्धन है वहाँ दुःस्वार्थ नहीं रह सकता। यह तो ओट की बात है सो तो आत्मशुद्धि के नाम की ओट में भी सब कुछ हो सकता है और विश्व-सुख-वर्धन की ओट में सब कुछ हो सकता है। और ठीक अर्थ करने पर दोनों की ओट में कुछ पाप नहीं हो सकता इस तरह इस विषय में ये दोनों पक्ष बराबर हैं। तब अर्थ की अनिश्चितता और जिज्ञासा की अशान्ति नामक आपत्तियाँ न होने से विश्व-सुख-वर्धन-ध्येय ही उत्तम है।

अब रही दूसरी बात कि सुख-वर्धन के कार्य में दुःख-वर्धन अधिक हो जाता है, सो इसका तो यही उत्तर है कि जहाँ दुःख-वर्धन अधिक होता हो वहाँ सुख--वर्धक छोड़ देना

चाहिये। दोनों का टोटल मिलाने से अगर सुख-वर्धन अधिक मालूम हो तो वह करना चाहिये। इतना विवेक न हो तो ध्येयदर्शन या उसकी ओर गति कैसे हो सकती है? हां सुख-दुःख का मापतौल करते समय सिर्फ प्राणियों की गणना का विचार न करना चाहिये किन्तु सुख दुःख की मात्रा का विचार करना चाहिये। निम्न श्रेणी के असंख्य प्राणियों के सुख दुःख की अपेक्षा उच्च श्रेणी के एक प्राणी में सुख दुःख अधिक होता है। वनस्पतियों के सुख दुःख की अपेक्षा कीट पतंगों का सुख दुःख असंख्यगुणा है उनमें असंख्य गुणा पशुपक्षियों में है और उनसे अनेक गुणा मनुष्य में है। ज्ञान-चैतन्य-या संवेदन शक्ति का जितना जितना विकास होता जाता है उतना उतना सुख दुख बढ़ता जाता है। इसलिये साधारणतः अनेक पशुओं की अपेक्षा एक मनुष्य का बचाना प्रथम कर्तव्य है। फिर भी उसकी मर्यादा है। मनुष्य पर प्राण-संकट आया हो तो उसको बचाने के लिये पशु का जीवन लगाया जा सकता है पर मनुष्य को सिर्फ आराम पहुँचाने के लिये पशु के प्राण नहीं लिये जा सकते क्योंकि पशु के मरने के कष्ट की अपेक्षा मनुष्य का भोगोपभोग सम्बन्धी सुख अधिक नहीं है। पर चलने फिरने में खाने पीने में मनुष्य द्वारा जो असंख्य वनस्पति का नाश होता है वह किया जा सकता है। फिर भी कोशिश यह होना चाहिये कि प्राणियों को कम से कम दुःख दिया जाय। अनावश्यक वध कदापि न होना चाहिये। इसका विशेष विवेचन अहिंसा के प्रकरण में किया जायगा। यहां तो सिर्फ ये तीन बातें समझ लेना चाहिये।

१—विश्व-सुखवर्धन ध्येय है।

२—सुखवर्धन का निर्णय प्राणियों की संख्या पर नहीं चैतन्य की मात्रा पर करना चाहिये।

३—सुखवर्धन के लिये अगर किसी को दुःख देना प्राकृतिक नियम से अनिवार्य हो तो वह कम से कम दिया जाय ऐसा प्रयत्न होना चाहिये।

प्रश्न—कोई जीव छोटा हो या बड़ा उसका सुख उसको उतना ही प्यारा है जितना अपना सुख हमें प्यारा है। जीने का जन्म-सिद्ध अधिकार भी जितना हमें है उतना उसे है फिर हम असंख्य प्राणियों का वध करके स्वयं जिन्दे रहें या सुखी बनें यह कहां तक उचित कहा जा सकता है?

उत्तर—प्रत्येक प्राणी को आत्मरक्षा का अधिकार है और आत्मरक्षा के लिये प्राकृतिक दृष्टि से जो कार्य अनिवार्य हैं वे भी उसके कर्तव्य के भीतर हैं। जैसे एक प्राणी श्वास लेने में भी असंख्य प्राणियों का वध कर जाता है तोभी श्वास लेना आत्मरक्षा के लिये अनिवार्य होने से श्वास लेने का जीव-वध क्षन्तव्य है। यह प्राणी का अपराध नहीं प्रकृति का अपराध है। प्रकृति के अपराध की जिम्मेदारी प्राणी के ऊपर नहीं है। **आत्मरक्षा के संघर्ष में जो अनिवार्य प्राणिवध या दुःखवर्धन हो जाता है वह धर्म के वश की बात नहीं है।** इस सुख-दुःख पूर्ण जगत में धर्म तो इतना ही कर सकता है कि यथासाध्य दुःख को कम करे और सुख को बढ़ावे। यही धर्म जीवन का ध्येय है।

प्रश्न—यदि श्वासोच्छ्वास का जीववध प्रकृति का अपराध है तो सिंह के लिये मांस-भक्षण भी प्रकृति का अपराध है इसलिये सिंह को हम दोषी नहीं कह सकते तब अनेक पशुओं और मनुष्यों

की रक्षा करने के लिये सिंह का वध करना अनुचित है। पर सिंह आदि हिंस्र प्राणियों के रक्षण से जितना सुखवर्धन होता है उससे कई गुणा दुःखवर्धन होता है। ऐसी हालत में धर्म क्या करे? वह सुखवर्धन के लिये हिंस्र प्राणी का वध करे अथवा हिंस्र की हिंस्रता को प्रकृति का अपराध मानकर उसका रक्षण करे?

उत्तर—प्राणरक्षा के प्रयत्न में सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टि से विश्वसुखवर्धन का ही ध्यान रखना चाहिये। अगर आत्मरक्षा के लिये इस प्रकार के विश्वसुखवर्धन में बाधा पड़ती हो तो प्राणत्याग कर देना चाहिये। जैसे अगर किसी मनुष्य को प्राण रक्षण के लिये दूसरे मनुष्यों का भक्षण करना पड़े तो उसका धर्म है कि वह मनुष्य-भक्षण करने की अपेक्षा प्राण-त्याग करदे। **प्राण-रक्षण के लिये अपने समान कोटि के या उच्च कोटि के प्राणियों का नाश उचित नहीं है।** सिंह की बात पर भी हम इसी दृष्टि से विचार करें। सिंह प्राण-रक्षण के लिये समान कोटि के अनेक प्राणियों को खाता है इसलिये उसको उचित है कि वह अनशन करके प्राण त्याग दे। पर उसमें इतनी समझदारी नहीं है इसलिये जो इस बात को समझते हैं उनका कर्तव्य है कि वे सिंह को प्राण-त्याग करायें।

प्रश्न—सिंह विक्रमशाली प्राणी है इसलिये उच्च श्रेणी का है हरिण आदि निर्बल होने से क्षुद्र श्रेणी के प्राणी हैं इसलिये सिंह की कोटि में कैसे रक्खे जा सकते हैं?

उत्तर—यहाँ प्राणियों की श्रेणी शारीरिक शक्ति के अनुसार नहीं किन्तु चैतन्य शक्ति के अनुसार समझना चाहिये। शारीरिक शक्ति में मनुष्य सिंह से निर्बल है पर इसका चैतन्य बल अनेक गुणा है। सुख दुःख का सम्बन्ध चैतन्य शक्ति से है शारीरिक शक्ति से नहीं। इसलिये अपनी रक्षा के लिये सिंह जो प्राणिवध करता है उससे जगत की कई गुणी हानि है।

प्रश्न—मनुष्य तो पशुओं से श्रेष्ठ है इसलिये वह अगर प्राणिवध करे तब तो हानि नहीं?

उत्तर—एक पशु का वध अगर एक मनुष्य के रक्षण के लिये अनिवार्य हो तब तो हानि नहीं—बशर्ते कि इस अपवाद का उपयोग निस्वार्थता के साथ किया जाय—परन्तु एक पशु के वध से एक मनुष्य का रक्षण दो चार दिन के लिये ही हो सकता है इस प्रकार उसके लम्बे जीवन में मनुष्य अनेक पशुओं को नष्ट कर देता है इसलिये यह ठीक नहीं, इससे सुख की अपेक्षा दुःख बढ़ जाता है। मतलब यह कि इस नीति के अनुसार मांस-भक्षण का समर्थन नहीं किया जा सकता।

प्रश्न—जीवन निर्वाह के लिये जहां पशुवध के बिना दूसरा कोई मार्ग न हो वहां वह क्या करे? जैसे उत्तर ध्रुव की ओर खेती आदि नहीं हो सकती वहां पशुवध अनिवार्य है। और कई देश ऐसे हैं जहां कृषि आदि इतनी मात्रा में नहीं हो सकती कि सब मनुष्यों की गुजर हो सके वहां जितने अंश में अन्न की कमी होगी उतने अंश में पशुवध या मत्स्यादिवध करना पड़ेगा।

उत्तर—जहां शाकादि का अभाव है वहां दो कारणों से पशुवध की छूट दी जा सकती है। पहिला तो यह कि जहां शाकादि नहीं है वहां अन्य जानवर भी मांसभक्षी होंगे उनके वध से उनके भक्ष्य अन्य अनेक जानवरों का रक्षण होगा। दूसरा यह कि वहां मनुष्य सरीखे असाधा-

रण बुद्धिमान प्राणी का मूल्य अधिक हो जायगा और इसीलिये उसका रक्षण अधिक जरूरी हो जायगा। फिर भी यह बात तो रहेगी ही कि जहां मांस भक्षण अनिवार्य हो उठा है वहां जीवन का ध्येय पूरे रूप में पाया नहीं जा सकता, मनुष्यता का और धर्म का पूर्णरूप दिखाई नहीं दे सकता। ऐसे स्थानों में उतने ही मनुष्यों को रहना चाहिये जितने का वहां शाकपर निर्वाह हो सके। शाक प्राप्त होने पर भी मांस भक्षण करना जीवन के ध्येय को नष्ट करना है। जहां शाक प्राप्त न हो वहां हिंस्र पशुओं का वध किया जा सकता है। भोजन के लिये शाक-भोजी पशुओं का वध न करना चाहिये। क्योंकि इससे जितना दुःख बढ़ता है उतना दुःख रुकता नहीं है न उतना सुख बढ़ता है।

प्रश्न-क्या विश्वसुखवर्धन की नीति निर्बल को सताने का अधिकार देती है। प्रकृति तो बलवान का ही चुनाव करती है अगर धर्म भी यही कार्य करता है तो उसकी आवश्यकता ही क्या है? जो काम स्वाभाविक रूप हो में रहा है उसके लिये इतना प्रयत्न क्यों?

उत्तर--प्रकृति को सुखदुःख विवेक नहीं है उसको सिर्फ बलाबल विवेक है। प्रकृति बलवान को जिलाती है और बल का मतलब शरीर बल ही नहीं है किन्तु मन बुद्धि आदि का वह बल भी है जो आत्मरक्षण के लिये अनुकूल हो। इस प्रकार प्रकृति सब से अनुकूल का चुनाव करती है। न्याय अन्यायकी भी उसे पर्वाह नहीं है। **प्रकृति की इस कमी को यथासाध्य दूर करने के लिये धर्म है।** धर्म दुःख घटाने और सुख बढ़ाने के लिये प्रयत्न करता है।

प्रश्न--यदि धर्म को प्रकृति का विरोध करना है तब धर्म असफल ही रहेगा क्योंकि प्राकृतिक नियम अटल हैं।

उत्तर--प्राकृतिक नियम अटल हैं पर कुछ अंश में ही वे धर्म के बाधक हैं। जैसे प्रायः प्रत्येक जीव को दूसरे जीव का भक्षण करके निर्वाह करना पड़ता है। प्रकृति ने जो यह कुछ अंश में आवश्यक संहार रूप धारण किया है उसका अमुक अंश में नियन्त्रण किया जा सकता है। जैसे-दूसरे जीवों का कम संहार हो, संहार में भी अधिक चैतन्य वालों का कम संहार हो। इस प्रकार का नियन्त्रण या संशोधन धर्म का काम है और यह प्रसन्नता की बात है कि धर्म के इस कार्य में प्रकृति काफी सहायता पहुँचाती है। प्राकृतिक नियम अपने सदुपयोग के लिये या नियन्त्रण के लिये काफी सहायता पहुँचाते हैं इसके दृष्टान्त चारों ओर भरे पड़े हैं। जैसे प्राकृतिक नियम के अनुसार आकर्षण शक्ति के कारण पानी नीचे (केन्द्र की ओर) बहता जाता है परन्तु इसी नियम का उप-योग हम नल के द्वारा जल ऊपर ले जाने में भी करते हैं। टाँकी के पानी पर जो आकर्षण शक्ति का दबाव पड़ता है वही दबाव नल के जल को ऊपर ले जाता है। इस प्रकार प्राकृतिक नियम ही पानी को ऊपर ले जाने में सहायता पहुंचाता है। धर्म के विषय में भी यही बात है। प्रकृति के नियमानुसार ही हम प्रकृति की कमी को पूरा करते हैं। उदाहरणार्थ-निर्बल होते हुए भी प्रेम से संगठित जाति अधिक जीती है और परस्पर में लड़नेवाली असंगठित जाति जल्दी नष्ट हो जाती है या गुलाम बनकर दूसरों का शिकार बनती है यह प्राकृतिक नियम धर्म में सहायक

है । इस प्रकार धर्म का प्रकृति से विरोध नहीं है । धर्म को प्रकृति के कार्यों में से चुनाव करना पड़ता है । और अधिक सुख के अनुकूल उसे समतौल बनाना पड़ता है ।

प्रश्न—अधिक सुख पैदा करना अगर धर्म का कार्य हो तो इससे एक बड़ा अन्धेर हो जायगा। जब किसी कारण वश हमें दूसरों को सताना अनिवार्य हो जायगा या किसी स्वार्थवश कोई दूसरों को सतायगा तब निर्बल को सताने की अपेक्षा बलवान को सताने में कम पाप होगा, असंयमी को सताने की अपेक्षा संयमी को सताने में कम पाप होगा, अयोगी को सताने की अपेक्षा योगी को सताने में कम पाप होगा क्यों कि बलवान संयमी और योगी अपने तन बल और मन बल के कारण अधिक दुःख सहन कर सकते हैं । इस प्रकार संयमी और योगी के लिये आपकी नीति विचित्र बदला देगी । तब सताये जाने के लिये संयम या योग कौन धारण करेगा ?

उत्तर—इसके उत्तर में चार बातें कहीं जा सकती हैं पहिली यह कि अमुक अंश में यह बात सत्य है । एक गरीब की चोरी की अपेक्षा अमीर की चोरी में कम पाप है । हां, अन्य सब परिस्थितियाँ समान होना चाहिये । यही बात शक्ति आदि के विषय में भी कही जा सकती है । दंड देते समय भी हम इस बात का विचार करते हैं कि यह सहन करने योग्य है या नहीं ? जो बात इस लोक नीति के लिये लागू है वही धर्म भी कहता है । पर संयमी आदि के बारे में हमें दूसरी बातों का भी विचार करना पड़ेगा ।

दूसरी बात यह है कि दुःख होना एक बात है और दुःख-सहन करना दूसरी बात । गरीब की अपेक्षा अमीर की चोरी करने में कम पाप है इसका कारण यह है कि गरीब की अपेक्षा अमीर की कम हानि होती है इसलिये उसे दुःख भी कम होता है । जिसका शरीर बलवान है उसको चोट करने में कम पाप है क्योंकि उसके स्नायु आदि मजबूत होने से उनपर चोट का असर कम पड़ता है इसलिये दुःख भी कम होता है । इस प्रकार अन्य परिस्थितियों की समानता में जहां पर दुःख कम होता हो वहां पाप भी कम होता है । पर संयमी या योगी के विषय में यह बात नहीं है उसे दुःख कम नहीं होता है परन्तु वह संयम के कारण सहन अधिक करता है । संयमी या योगी निर्बल होने पर भी अधिक से अधिक चोट सह जाता है इसका कारण यह नहीं है कि उसे दुःख नहीं हुआ, दुःख तो पूरा हुआ पर उसने पर्वाह नहीं की । वह पर्वाह करे या न करे परन्तु विश्व में दुःख की वृद्धि तो हुई ही इसलिये संयमी को अधिक दुःख देने की नीति खराब है । विश्वसुख-वर्धन का ध्येय उसका समर्थन नहीं करता ।

तीसरी बात यह है कि असंयमी की अपेक्षा संयमी या योगी को दुःख अधिक होता है । क्यों-कि उसकी संवेदन शक्ति बढ़ी चढ़ी होती है । जो झगड़े असंयमी को दुखी नहीं करते उनसे संयमी घबराता है दूर भागता है । इस प्रकार उसकी संवेदन शक्ति अधिक होने से उसका दुःख और सुख भी बढ़ता है । अगर उसे दुःख दिया जाय तो असंयमी की अपेक्षा अधिक होगा । यह बात दूसरी है कि वह उसे व्यक्त न करेगा और न बसायगा विश्वप्रेम या नात्म-भावना का चिन्तवन कर सह जायगा । पर दुःख होगा अधिक, इसलिये विश्व सुखवर्धन के लिये संयमी का अधिक ख्याल रखना चाहिये ।

चौथी बात यह है कि संयमी या योगी दूसरों को कमसे कम दुःख और अधिक से

अधिक सुख देता है इसके बदले में अगर उसे अधिक दुःख मिले तो मनुष्य असंयम की ओर चला जायगा इससे दूसरों को और अपने को भी अधिक दुःख दे डालेगा इस प्रकार सार्वकालिक दृष्टि से विश्वसुख वर्धन में बाधा पड़ेगी इसलिये भी संयमी को दुःख न देना चाहिये।

इस प्रकार विश्वसुखवर्धन का ध्येय संयमी को दुखी करने का समर्थन नहीं करता।

प्रश्न--विश्वसुख वर्धन का कितना ही प्रयत्न किया जाय पर इस में सन्देह नहीं कि हमारे द्वारा प्राणियों की हिंसा होगी ही और हम दूसरों के दुःख के कारण बनेंगे ही, ऐसी हालत में हम अपना ध्येय मोक्ष क्यों न रक्खें ? मुक्तात्मा किसी की हिंसा नहीं करता।

उत्तर--इसमें भी वही बात है। हमारे द्वारा हिंसा होती है हिंसा से दुःख होता है इससे मोक्ष चाहिये, इसका मतलब यही कि हमारे द्वारा जो दूसरों को दुःख होता है वह दूर हो जाय। यह सुखवर्धन ही है; इस प्रकार हमारी मुक्ति-कामना भी विश्वसुखवर्धन के लिये कहलाई। इसलिये मोक्ष अंतिम ध्येय नहीं किन्तु उपध्येय कहलाया। इसीलिये कदाचित् मोक्ष की मान्यता में बाधा आ जाय तोभी हम विश्वसुखवर्धन के लिये प्रयत्न करेंगे। विश्वसुख वर्धन का ध्येय हमें पथ-निर्देश करता है कर्तव्य-निर्णय की कसौटी बनता है परन्तु मोक्ष अत्यन्त परोक्ष और विश्वासगम्य है वह कर्तव्य-निर्णय में सहायता नहीं पहुंचाता।

यह बात उस मोक्ष के लिये कही जा रही है जिसका अर्थ शरीर और आत्मा का अनन्त काल के लिये विच्छेद है, परन्तु मोक्ष नाम का पुरुषार्थ जो कि स्वाधीन सुखरूप और इसी जीवन की चीज है वह तो विश्वसुख-वर्धन का ही अंग है। इसलिये ध्येय के भीतर ही कहलाया। उसे स्वतन्त्र ध्येय नहीं बनाया जा सकता।

प्रश्न--मोक्ष पुरुषार्थ को ही अन्तिम या पूर्ण ध्येय मान लिया जाय तो ?

उत्तर--सुख की पूर्णता काम और मोक्ष दोनों के सम्मिलन में है। एक एक से जीवन सफल नहीं होता। केवल मोक्ष पुरुषार्थ को ध्येय बनाने से मनुष्य विश्वसुख की पर्वाह नहीं करेगा इसका परिणाम यह होगा कि विश्व भी इसकी पर्वाह न करेगा, इस प्रकार सहयोग नष्ट होने से जीवन का टिकाना अशक्य हो जायगा, यहां महामृत्यु का तांडव होने लगेगा। इसलिये मोक्ष पुरुषार्थ को विश्वसुख-वर्धन का अंग मान कर ध्येय का अंश मानना चाहिये।

[इन पुरुषार्थों का वर्णन विशेष रूप में पुरुषार्थ प्रकरण में किया जायगा]

प्रश्न--महामृत्यु का भय करना व्यर्थ है वह तो अनन्त शान्ति है। जीवन में सुख की अपेक्षा दुःख बहुत है। अगर प्रलय हो जाय तो दुःख और सुख दोनों चले जाँय। इस तरह हम लाभ में रहें इसलिये प्रलय ही हमारे जीवन का अंतिम ध्येय क्यों न हो ?

उत्तर--यह प्रलय की इच्छा भी इसीलिये है कि हम दुःख से छूटें और इससे हमें शान्ति या सुख मिले। इस प्रकार प्रलय की आकांक्षा के मूल में भी सुखवर्धन की आकांक्षा ही काम कर रही है। पर प्रलय के द्वार से सुखवर्धन का मार्ग कुमार्ग है। इस में दो आपत्तियाँ हैं। पहिली तो यह कि प्रलय हमारे हाथ में नहीं प्रकृति के हाथ में है। पृथ्वी किसी दिन जल उठे या सूर्य के बुझ जाने से इकदम ठंडी हो जाय और पशुपक्षी मनुष्य सब

नष्ट हो जाँयँ तो प्रलय हो सकता है पर यह हमारे हाथ में नहीं है। इसलिये प्रलय को ध्येय बनाना या न बनाना यह विचार ही निरर्थक है। दूसरी बात यह है कि कोई प्राणी प्रलय नहीं चाहता। विक्षोभ की अवस्था में कोई आत्म-हत्या करले यह दूसरी बात है पर सभी अधिक से अधिक जीना चाहते हैं। प्राणियों की यह जीवनाकांक्षा इतनी प्रबल है कि प्रलय को ध्येय बनाना व्यर्थ है।

प्रश्न-जो प्रलय हमारे वश में नहीं है उसे जाने दीजिये और जो लोग प्रलय नहीं चाहते उन्हें भी जाने दीजिये पर जो प्रलय हमारे वश में है और जो उसे चाहते हैं उन्हें वह प्रलय प्राप्त करना चाहिये। जैसे आत्महत्या के द्वारा अंश प्रलय पाया जा सकता है जो दुःख सुख का हिसाब लगा सकते हैं वे दुःख से छूटने के लिये आत्महत्या क्यों न करें?

उत्तर-जीवन में ऐसे अवसर भी आते हैं जब मनुष्य को विश्वसुख के लिये या स्वाभिमान आदि आत्मसुख के लिये प्राणदान करना पड़ता है, ऐसे अवसर पर वह प्रलय या प्राणदान सुख-वर्धन का कारण होने से उपादेय बन जाता है। अंतिम ध्येय तो वहां भी सुखवर्धन है। साधारण अवस्था में आत्महत्या हेय और व्यर्थ है। क्योंकि आत्मा अगर अमरतत्त्व है तो शरीर के छोड़ देने पर भी वह दुःख से नहीं छूट सकता उसे तुरंत दूसरा शरीर मिलेगा और वह इससे अच्छा ही होगा इसका कोई ठिकाना नहीं। अगर अच्छा भी हो तो भी जन्म समय के कष्ट भारी पड़ते हैं। और बुरा हुआ तब तो दुहरी मार समझना चाहिये। अगर आत्मा अमर नहीं है, भौतिक पिंड ही है तब भी आत्म हत्या व्यर्थ है क्योंकि यह भौतिक पिंड फिर नाना शरीर धारण कर प्राणियों की सृष्टि करेगा कदाचित् एक की जगह अनेक प्राणी हो सकते हैं और वे हमारी अपेक्षा अधिक दुःखी हो सकते हैं इसलिये आत्महत्या आदि करके दुःख से छूटने की कल्पना निरर्थक है। जीवन सब चाहते हैं और दुःख कोई नहीं चाहता इसलिये जीवन के साथ दुःख दूर करना या सुख बढ़ाना ही हमारा अंतिम ध्येय होना चाहिये।

प्रश्न--प्रलय असंभव है, अनिष्ट है इसलिये जाने दीजिये परन्तु अकषायता को ध्येय बनाने में क्या आपत्ति है? जितने दुःख हैं वे सब क्रोध मान माया लोभ आदि के परिणाम हैं, इन सब मनोवृत्तियों का नाश करना हमारे जीवन का ध्येय हो तो सब दुःख दूर हो जाँयँ, सब झगड़े शान्त हो जाँयँ, अनन्त मोक्ष अगर हो तो वह भी मिल जाय न हो तोभी यहीं सुख शान्ति होने से अकषायता सफल हो जाय।

उत्तर--इस प्रश्न में भी यह बात तो है ही कि अकषायता दुःख दूर करने के लिये या सुख शान्ति पाने के लिये है इसलिये अंतिम ध्येय सुखशान्ति रही उसके साधन के रूप में अकषा-यता रही। अगर **अकषायता का नाम या अर्थ सुखशान्ति के मार्ग में बाधक हो तो उसे छोड़ा भी जा सकता है।** अकषायता सुख की तरह निर्विवाद नहीं है न उसका कोई निश्चित रूप है। क्रोध आदि वृत्तियां का नाश हो सकता है या नहीं? अथवा होने से चैतन्य भी बचेगा या नहीं ये सब अनिश्चित बातें हैं। गंभीर विचार से यही मालूम होता है कि क्रोध मान माया लोभादि का नाश नहीं किया जा सकता, उनका दुरुपयोग रोका जा सकता है, उन पर अंकुश रक्खा जा सकता है, यही अभीष्ट भी है। अन्याय

पर क्रोध करना धर्म है और अन्याय पर उपेक्षा निर्बलता या कायरता है इसलिये पाप है। अभिमान से दूसरों का अपमान करना पाप है पर अहंकारियों या अत्याचारियों के सामने आत्म-गौरव या लोक-गौरव या न्याय-गौरव की रक्षा करना धर्म है। स्वार्थवश दूसरों को छलना पाप है किन्तु उसके कल्याण के लिये अतथ्य--भाषण पाप नहीं है। लोभ पाप है पर उसीका एकरूप शुद्ध प्रेम पाप नहीं है। मतलब यह है कि इन मनोवृत्तियों का उपयोग देखना चाहिये। इनके सात्विक रूप की आवश्यकता है। जनकल्याण विरोधी दुःस्वार्थमय रूप की आवश्यकता नहीं है, उन्हें ही नष्ट करना चाहिये। अकषायता की पराकाष्ठा पाने के लिये प्रसिद्ध महावीर बुद्ध आदि महात्माओं में इन मनोवृत्तियों का सात्विक रूप था इसीके बलपर वे समाजक्रान्ति कर सके थे संगठन कर सके थे। अगर उनकी ये मनोवृत्तियाँ हर तरह नष्ट हो गईं होतीं तो वे जड़ समान हो जाते। मनोवृत्तियों के इस सात्विक रूप को अकषायता शब्द से ठीक ठीक नहीं समझ सकते उनकी सात्विकता का निर्णय विश्वसुख-वर्धन की कसौटी पर ही किया जा सकता है और उसीके लिये उनका उपयोग है। इसलिये सार्वकालिक और सार्वदेशिक दृष्टि से विश्वसुखवर्धन ही जीवन का अन्तिम ध्येय है।

दृष्टिकांड, तीसरा अध्याय (मार्गदृष्टि)

[सुख-दुःख-समस्या]

खुद सुखी रहने और जगत को सुखी करने का ध्येय निश्चित होने के बाद उस ध्येय को पाने का मार्ग ढूँढ़ना जरूरी है । इसके लिये पहिले यह सोचना चाहिये कि दुःख क्या है, कितने तरह का है, किन किन कारणों से पैदा होता है ? दूसरी बात यह कि दुःखों पर विजय कैसे पाना चाहिये ? तीसरी बात यह कि सुख क्या है, कितने तरह का है, कैसे पैदा होता है ? चौथी बात यह कि सुख प्राप्त कैसे करें ? इन चार बातों के विचार में ध्येय मार्ग साफ़ दिखाई देने लगता है । इनमें से दुःख दूर करने के उपाय और सुख पाने के उपाय प्रायः मिल जाते हैं इसलिये इनका विचार भी मिल कर एक साथ करना होगा । इस प्रकार हमारे सामने तीन विचार बन जाते हैं । **१ दुःख विचार २ सुख विचार ३ उपाय विचार** ।

१ दुःख-विचार

दुःख एक ऐसा संवेदन है जो अपने को अच्छा नहीं मालूम होता अर्थात् **प्रतिकूल या अनिष्ट-संवेदन दुःख है** ।

यद्यपि सभी दुःख मन के द्वारा होते हैं फिर भी कुछ दुःख ऐसे हैं जो सीधे मनपर असर पड़ने से होते हैं और कुछ ऐसे हैं जो शारीरिक विकार से सम्बन्ध रखते हैं । यद्यपि सभी दुःखों का असर मन और शरीर पर पड़ता है फिर भी किसी में मन की प्रधानता है किसी में शरीर की । मानसिक दुःखों में पहिले मनपर असर पड़ता है पीछे उसका असर शरीर पर होता है । शारीरिक दुःखों में पहिले शरीर पर असर पड़ता है फिर मनपर । जैसे किसी ने तमाचा मारा, तो तमाचे का दुःखद प्रभाव पहिले शरीर पर होगा पीछे मनपर । और किसीने गाली दी तो गाली का दुःखद प्रभाव शरीर पर नहीं है, मनपर है । हां, मनमें दुःख होने से चिन्ता हो उससे शरीर सूखने लगे तो बात दूसरी है ।

कभी कभी ऐसा होता है कि एक ही घटना मन और शरीर दोनों पर सीधी ही दुःखद प्रभाव डालती है जैसे किसी ने तमाचा मारा तो शारीरिक चोट से जो वेदना हुई वह शारीरिक दुःख कहलाया और अपमान के अनुभव से जो वेदना हुई वह मानसिक कष्ट कहलाया । इस प्रकार संक्षेप में दुःख दो तरह के हुए **१-शारीरिक २-मानसिक** ।

शारीरिक दुःख छः तरह के हैं-**१ आघात २ प्रतिविषय, ३ अविषय, ४ रोग, ५ रोध ६ अतिश्रम** ।

१-आघात—शस्त्रास्त्र से या हाथ आदि से अथवा और किसी चीज़ से शरीर को जो दुःखद चोट लगती है वह आघात दुःख है ।

२-प्रतिविषय-इन्द्रियों के प्रतिकूल विषय से जो चोट पहुँचती है वह प्रतिविषय है । जैसे

दुर्गंध, कर्कश-शब्द, भयंकर या बीभत्स दृश्य, बहुत गरम या बहुत ठंडा स्पर्श आदि।

३--**अविषय**--शरीर के या इन्द्रियों के योग्य विषय न मिलने से जो वेदना पहुँचती है वह अविषय दुःख है। जैसे भोजन न मिलना, पानी न मिलना, हवा न मिलना अथवा किसी चीज़ के खाने का व्यसन हो और उस चीज़ का न मिलना आदि।

४ **रोग**--वात पित्त कफ की विषमता आदि कारणों से जो बीमारी होती है वह रोग दुःख है।

५ **रोध**--शरीर के या अंगों के रुक जाने से जो दुःख होता है वह रोध-दुःख है। जैसे बहुत समय तक एक ही जगह बैठना पड़े, अंगोपांग हिलाने का अवसर न मिले या किसी कमरे या मकान में बन्द कर दिया जाय तो रोध दुःख होगा।

६ **अतिश्रम**--अधिक परिश्रम करने से जो दुःख होता है वह अतिश्रम दुःख है।

बहुत से दुःख ऐसे हैं जो एक ही शब्द से कहे जाते हैं और कुछ अलग से मालूम होते हैं पर हैं वे इन्हीं भेदों के भीतर। जैसे-मौत का दुःख। मौत में रोग, रोध, अतिश्रम, अविषय, प्रतिविषय, आघात आदि किसी भी तरह का दुःख होता है। मौत में वियोग आदि का जो दुःख है वह मानसिक दुःख है। इसी प्रकार बुढ़ापे का कष्ट भी रोग अतिश्रम आदि में शामिल होजाता है। निर्बलता आजाने से अतिश्रम आदि जल्दी होने लगता है इसलिये कष्ट बढ़ता है।

मानसिक दुःख पाँच तरह के हैं। १ **इष्टायोग** २ **अनिष्ट योग** ३ **लाघव** ४ **व्यग्रता** ५ **सहवेदन**,

इष्टायोग--किसी प्यारी चीज़के अभाव या दूरी से जो दुःख होता है वह इष्टायोग दुःख है। इष्टायोग दो तरह का होता है एक तो **इष्टाऽप्राप्ति** दूसरा **इष्टवियोग**। जो चीज़ हम चाहते हैं वह जबतक नहीं मिलती तबतक **इष्टाऽप्राप्ति** दुःख है। भविष्य के लिये नाना आशाएँ और नाना स्वप्न जबतक पूरे नहीं होते हैं तब तक यही दुःख है। धनी होने के पहिले गरीबी का कष्ट, विवाह के पहिले पति या पत्नी के अभाव का कष्ट आदि इसी जाति के कष्ट हैं। जब कोई चीज़ मिलकर के फिर चली जाती है तब जो कष्ट होता है वह **इष्ट--वियोग** दुःख है। वैधुर्य या विधवा--पनका कष्ट, धनधान्य राज्य आदि छिन जाने का कष्ट सब इसी जाति का कष्ट है। इस इष्टायोग दुःख से १ चिन्ता २ लोभ ३ काम ४ शोक, ५ क्रोध ६ भय आदि पैदा होते हैं। इन मनोवृत्तियों के कारण इसे मानसिक दुःख कहते हैं।

प्रश्न--इष्टायोग में सिर्फ ये मनोवृत्तियाँ ही पैदा नहीं होतीं किन्तु शरीर भी क्षीण हो जाता है। जैसे बहुतों के चेहरे फीके पड़ जाते हैं, शरीर निर्बल या रुग्ण हो जाता है, बाल सफ़ेद हो जाते हैं इसलिये इष्टायोग शारीरिक दुःख क्यों न माना जाय?

उत्तर--इष्टायोग का मुख्य और पहिला दुःखद प्रभाव मनपर पड़ता है पर मन और शरीर इस प्रकार मिले हुए हैं कि अन्त में मानसिक दुःख का प्रभाव शरीर पर और शारीरिक दुःख का प्रभाव मन पर पड़े बिना नहीं रहता। इसलिये इष्टायोग का प्रभाव शरीर पर पड़ता है परन्तु इसीसे उसे शारीरिक दुःख नहीं कह सकते क्योंकि यहां भेद बनाने की यही दृष्टि है कि जिस का मुख्य और पहिला प्रभाव जिस पर पड़े उसको उसी भेद में गिना जाय।

प्रश्न–इष्टायोग तो शारीरिक दुःखमें शामिल हो सकता है। इष्टायोग एक तरह का अविषय दुःख है और अविषय दुःख शारीरिक दुःखों के छः भेदों में से एक है।

उत्तर–अविषय का दुखद प्रभाव सीधे शरीर पर पड़ता है। अविषय से शरीर क्षीण होने लगता है और अन्त में मर तक जाता है। जैसे भोजन न मिलना पानी न मिलना ये सब अविषय दुःख हैं। पर इष्टायोग शरीर के ऊपर ऐसा सीधा असर नहीं डालता। वह मनपर असर डालता है। जैसे किसी के सन्तान नहीं है इस का उसे दुख है। यह दुख मनपर ही पहिले प्रभाव डालता है क्योंकि भोजन, पान, श्वास आदि के समान सन्तान शरीर-स्वास्थ्यके लिये आवश्यक नहीं है। अगर हम मन को मज़बूत करलें तोभी भूख प्यास आदि का प्रभाव शरीर पर पड़ेगा पर पुत्र-वियोग का प्रभाव शरीर पर न पड़ेगा। इष्टायोग का दुख मन की कल्पना पर अधिक अवलम्बित है इसलिये वह मानसिक दुख ही कहलाया।

अनिष्टयोग–अनिष्ट वस्तु के सम्पर्क या कल्पना से जो मानसिक दुःख होता है वह अनिष्ट योग दुःख है। जैसे शत्रुका दर्शन या स्मरण आदि। यद्यपि शारीरिक अनिष्ट योग भी होता है परन्तु वह प्रतिविषय, आघात आदि में शामिल है। यहाँ तो ऐसे अनिष्ट योग से मतलब है जो प्रत्यक्षरूप में शरीर को चोट नहीं पहुँचाता, मनपर चोट पहुँचता है, फिर भले ही वह शरीर पर कुछ असर डाले। अप्रिय जनको देखकर हमारे शरीर पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता, सूर्यकिरण की तरह वह आँखों में चुभता भी नहीं है, न अन्य इन्द्रियों का प्रतिविषय होता है फिर जो हमें दुःख होता है उसका कारण मनकी कल्पना है इसलिये यह मानसिक दुःख कहलाया। इससे १ क्रोध, २ शोक, ३ भय, ४ घृणा, ५ ईर्ष्या, ६ छल, ७ चिन्ता आदि मनोवृत्तियाँ पैदा होती हैं। खेद और पश्चाताप एक तरह के शोक हैं हैं, उपेक्षा एक तरह की हलकी घृणा है जो इस मानसिक दुःख से पैदा होती है।

लाघव–गरीबी, अपांडित्य आदि से जो मानसिक दुःख होता है उसे लाघव कहते हैं। अपयश निंदा तिरस्कार उपेक्षा आदि का दुःख लाघव दुःख है। इससे अभिमान चिन्ता शोक भय दीनता घृणा ईर्ष्या आदि मनोवृत्तियाँ पैदा होतीं हैं। अपमान आदि से शरीर को चोट नहीं पहुँचती अभिमान या आत्मगौरव को चोट पहुँचती है इसलिये यह मानसिक दुःख है। अनिष्ट योग तो किसी घटना से सम्बन्ध रखता है और उसमें किसी से तुलना नहीं होती। लाघव दुःख अनिष्ट योग न होनेपर भी सिर्फ़ इस कल्पना से कि मैं छोटा हूं, होने लगता है। जीवन की सारी आवश्यकताएँ पूर्ण होने पर भी विकार-वासित मनमें यह दुःख पैदा होता रहता है।

व्यग्रता–चिन्ताओं के बोझ के दुःख को व्यग्रता कहते हैं। जैसे किसी के यहाँ शादी हो, काम करनेवाले नौकर चाकर और सहयोगी भी यथेष्ट हों, कोई विशेष शारीरिक कष्ट न हो फिर भी 'क्या होगा, कैसे होगा, क्या क्या कराया जाय' आदि चिन्ताओं के बोझ से वह परेशान हो जाता है। यह चिन्ताओं का बोझ शारीरिक कष्ट नहीं है इससे इसे शारीरिक दुःख में शामिल नहीं कर सकते। शादीका प्रसंग और आदमी अनिष्ट भी नहीं हैं कि उन्हें अनिष्ट योग कहा जाय न इष्ट वस्तु के छिनने का कष्ट है जिससे इष्टायोग कहा जाय और न अपमान या दीनता दुःख है

जिससे लाघव कहा जाय इसलिये व्यग्रता एक अलग ही दुःख है। व्यग्रता एक तरह की मानसिक निर्बलता का परिणाम है। व्यग्रता जितनी अधिक हो मानसिक शक्ति उतनी ही कम समझना चाहिये। व्यग्रता से क्रोध (झुँझलाहट) चिन्ता, आदि भाव पैदा होते हैं। अभ्यास न होने से या मन निर्बल होने से व्यग्रता अगर बढ़ जाय तो दुःख अधिक होगा पर अगर संयम हो तो वह दुःख सहा जा सकेगा।

सहवेदन–प्रेम करुणा भक्ति आदि के वश होकर दूसरों के दुःख में दुःखी होना सहवेदन दुःख है। कभी कभी सहवेदन दुःख अपने किसी स्वार्थ के कारण अन्य दुःखों में भी परिणत हो जाता है। जैसे अपने नौकर को चोट लगगई इससे अपने को दुःख हुआ। यह दुःख सहवेदन भी हो सकता है और नौकर दो चार दिन काम न कर सकेगा इस भाव से अनिष्ट--योग भी हो सकता है। जहाँ जितने अंश में शुद्ध प्रेम के वश में होकर दूसरों के दुःख में हम दुःखी होते हैं वहाँ उतने अंश में हमें सहवेदन--दुःख होता है। लोकसेवी महात्माओं को सब दुःख छूट जाने पर भी यह दुःख बना रहता है। यह दुःख जगत के दुःख दूर करने में सहायक होने से आवश्यक दुःख है। यह दुःख रौद्रानन्द का विरोधी और प्रेमानन्द का सहयोगी है।

इस प्रकार कुल ग्यारह प्रकार के दुःख हैं।

२ सुख-विचार

जो संवेदन अपने को अच्छा लगे वह सुख है अर्थात् **अनुकूल या इष्ट-संवेदन का नाम सुख है**। सुख और दुःख किसी क्रिया का नाम नहीं है जो क्रिया आज सुख देती है वही कल दुःख दे सकती है। गरमी में वस्त्र-हीनता सुखद हो सकती है शीत में दुःखद। कभी हाथ पैर दबाना या मरोड़ना दुःखद हो सकता है कभी (जैसे नाई के द्वारा) सुखद। इसलिये सुख-दुःख, संवेदन पर ही निर्भर है किसी क्रिया पर नहीं। सुख छः तरह के हैं:—

१ प्रेमानन्द २ जीवनानन्द ३ विषयानन्द ४ महत्वानन्द ५ मोक्षानन्द ६ रौद्रानन्द

१ प्रेमानन्द–प्रेमसे आनन्द तो होता ही है परन्तु प्रेम आनन्द के इतने पास है कि उसे प्रेम ही कह दिया जाय तो यह कोई बड़ा रूपक न होगा। हृदय से हृदय मिलने का आनन्द सुलभ स्वाभाविक और निर्दोष आनन्द है। दो सच्चे मित्र जब मिलते हैं तो वे आपस में कुछ दें या न दें परन्तु वे पूर्ण आनन्द पाते हैं। गाय बछड़े से या मा बेटेसे कुछ पाने की इच्छा से सुखी नहीं होती किन्तु प्रेम से सुखी होती हैं। प्रेम जितना फैलता जाता है सुख उतना ही निर्दोष और स्थायी होता जाता है। जो विश्वप्रेमी है वह प्रेमानन्द की पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ है। वह पूर्ण वीतराग, पूर्ण अकषाय, पूर्ण योगी और पूर्ण सुखी है। प्रेमानन्द सब सुखों में श्रेष्ठ है वह अधिक से अधिक निर्दोष और अधिक से अधिक स्थायी है।

२ जीवनानन्द–जीवन के लिये उपयोगी पदार्थों के मिल जाने से जो आनन्द होता है वह जीवनानन्द है। जैसे रोटी मिलना, पानी मिलना हवा मिलना आदि का आनन्द। जीवन की स्थिरता और उसके साधन प्राणी को एक प्रकार का सुख देते हैं वह जीवनानन्द है।

३ विषयानन्द–स्वादिष्ट भोजन, संगीत सौन्दर्य, सुगंध, अच्छा स्पर्श आदि का आनन्द विषयानन्द है।

शंका–जीवनानन्द भी खाने-पीने का आनन्द है और विषयानन्द भी खाने-पीने का आनन्द है फिर दोनों में अन्तर क्या है ?

समाधान–जीवनानन्द में इन्द्रिय–विषय-सेवन की मुख्यता नहीं है। पेट भरना एक बात है और स्वाद लेना दूसरी बात। अगर भरपेट भोजन मिल जाय तो रूखे सूखे भोजन मे भी जीवनानन्द मिल सकेगा पर विषयानन्द न मिलेगा। अगर स्वादिष्ट भोजन मिल जाय तो खाली पेट रहने पर भी विषयानन्द मिल जायगा पर जीवनानन्द न मिलेगा। शराबी जीवनानन्द नहीं पाता पर विषयानन्द पा जाता है। विषयानन्द जिस प्रकार अन्त में दुःख बढ़ाने वाला है वैसा जीवनानन्द नहीं। विषयानंद के चक्कर में पड़कर मनुष्य जीवनानंद खो बैठता है इसलिये कभी कभी इन दोनों आनन्दों में विरोध भी हो जाता है।

महत्वानन्द–मान, प्रतिष्ठा, यश आदि का आनन्द महत्त्वानन्द है। दूसरों से अपनी तुलना करने पर जो कभी संतोष होता है वह भी महत्त्वानंद है। इससे मनुष्य एक प्रकार के महत्त्व का अनुभव करता है। महत्त्वाकांक्षा एक प्रबल आकांक्षा है जो थोड़े बहुत रूप में सब में पाई जाती है। निराशा या दीनता के कारण कभी सो जाती है, गम्भीरता के कारण कभी कभी बाहर प्रगट नहीं होती, मात्रासे अधिक महत्त्व मिल जाने से या मिलते रहने से उसपर उपेक्षा अर्थात् लापर्वाही पैदा हो जाती है अथवा संयम के कारण भीतर भी वह मर्यादित रहती है या चातुर्यके कारण मर्यादितरूप में प्रगट होती है; यह सब है पर वह किसी न किसी रूप में सब में रहती है--वह निर्बीज नहीं होती। उसकी पूर्ति से एक अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है। बहुत से लोग इस आनन्द के लिये भारी धन सम्पत्ति अधिकार तथा जीवन तक दे डालते हैं।

मोक्षानन्द-अन्य सुख निरपेक्ष, दुःख से छूटने का जो सुख है वह मोक्षानन्द है। कभी २ मोक्षानन्द के साथ साथ जीवनानन्द विषयानन्द आदि मिल जाते हैं। जैसे बच्चों को छुट्टी मिली और उन्हें यह आनन्द हुआ कि अब घर चलकर अच्छा अच्छा भोजन मिलेगा या खेलने को मिलेगा तो इस विषयानन्द और प्रेमानन्द के साथ छुट्टीका मोक्षानन्द बढ़ गया पर अन्य आनन्द न मिलने पर भी दुःख छूटने का जो आनन्द है वह एक स्वतन्त्र ही आनन्द है। अन्य आनन्दों की जहां कल्पना भी नहीं होती वहां मोक्षानन्द होता है। बीमारी से छूटने पर या और किसी तरह बन्धन-मुक्त या दुःखमुक्त होने पर यह आनन्द होता है। यद्यपि कभी कभी अन्य आनन्दों की आशा से मोक्षानन्द बढ़ जाता है या मालूम होता है परन्तु कभी कभी बन्धन-मुक्ति के बाद का भविष्य अन्धकारमय होने पर भी मोक्षानन्द होता है। बहुत से कैदी लम्बी कैद काटने के बाद इस चिन्ता में परेशान रहते हैं कि जेल से छूटने के बाद कहां जायँगे ? क्या करेंगे ? आदि, इस प्रकार उनका भविष्य अन्धकारमय होने पर भी वे जेल से छूटने की तारीख की बाट प्रसन्नता से देखा करते हैं इसलिये अन्य आनन्द मिलें या न मिलें पर मोक्षानन्द स्वतन्त्र आनन्द है।

रौद्रानन्द–दूसरों को निरपराध दुःखी होते देख सुखी होना रौद्रानन्द है। शिकार का आनंद इसी तरह का आनन्द है। ईर्ष्यावश शत्रु को निरपराध दुःखी देखकर जो आनन्द होता है वह भी रौद्रानन्द है। जानवरों को लड़ाना और एक के या दोनों के घायल होने या मर जाने पर

सुखी होना भी रौद्रानंद है। **रौद्रानन्द को पापानन्द भी कहा जा सकता है।**

शंका--समाज को सतानेवाला कोई आततायी मनुष्य या पशु हो उसको दंड दिया जाय और दंड दे सकने पर संतोष हो तो इसे भी रौद्रानन्द कहना होगा पर यह तो समाज के सुखवर्धन के लिये आवश्यक कार्य है इसे पापानन्द कैसे कह सकते हैं ?

समाधान--निरपराधों को दुःखी देखकर जो आनंद होता है वह रौद्रानंद है--सापराधों को नहीं, पर मन में क्रूरतारूपी पाप हो तो सापराधों के विषय में भी हमें रौद्रानंद होगा। जैसे किसी अपराधी को हंटर से मार पड़ रही है, हम अकस्मात् देखने पहुँच गये, हमें इससे कोई मतलब नहीं कि इसने कोई अपराध किया या नहीं, हमें तो उसकी तड़पन देखकर ही आनंद आ रहा है तो ऐसी अवस्था में यह आनंद रौद्रानंद ही कहलायगा। अगर हममें जानकारी और समाजहित का ध्यान हो तो आततायी के पीड़न से जो समाज की रक्षा हुई उससे मोक्षानंद मिलेगा पर समाजहित या न्यायरक्षण की तरफ़ हमारा ध्यान नहीं है तो सापराधी के दंड-दुःख में भी हमें रौद्रानंद मिलेगा और इसे पापानन्द ही कहना चाहिये।

प्रश्न--क्रीड़ा, विनोद आदि में जो आनन्द आता है इसे विनोद नामका स्वतन्त्र आनन्द क्यों न कहा जाय ?

उत्तर--विनोद नाम का आनंद प्रेमानन्द है। कभी इसके साथ महत्त्वानन्द, विषयानन्द जीवनानन्द आदि भी मिल जाते हैं पर अन्य सुखों से निरपेक्ष विनोद का आनन्द प्रेमानंद है।

३ उपाय-विचार

पहिले जो ग्यारह प्रकार के दुःख बताये गये हैं वे कैसे कैसे पैदा होते हैं ? उनके कितने द्वार हैं ? वे कैसे बंद किये जा सकते हैं जिससे दुःख न आवें, यदि आजाँयँ तो हम क्या करें, उन्हें कैसे जीतें ? अथवा क्या कोई दुःख अनिवार्य या आवश्यक है ? यदि है तो कितने अंश में ? आदि बहुत सी बातें उपाय-विचार के विषय हैं। इसी प्रकार छः प्रकार के सुखों में कौन कौन सुख कितने अंश में उपादेय हैं ? और हम उन्हें कैसे पा सकते हैं ? इन सब का पूरा विचार एक अध्याय में नहीं किया जा सकता। यहां तो दुःख-निरोध और सुख-प्राप्ति के बारे में कुछ बातें कहकर दृष्टि-दान ही करना है।

तीन द्वार--दुःखों के तीन द्वार हैं--१ **प्रकृति द्वार** २ **परात्म--द्वार** ३ **स्वात्मद्वार**। कुछ तो प्रकृति की रचना ही ऐसी है कि एक न एक दुःख प्राणी के पीछे पड़ा रहता है। यह शरीर ही घृणित है, इसमें जल्दी ही रोग हो जाते हैं, भोगों से कमज़ोर हो जाता है, थोड़े समय बाद यों ही क्षीण होने लगता है और अन्त में छूट जाता है। फिर प्रकृति हमारी दासी नहीं है। उसके कार्य नियमानुसार होते रहते हैं, भले ही वे हमारे अनुकूल हों या प्रतिकूल, प्रकृति को इस की पर्वाह नहीं है। हम भले ही ठंडी हवा चाहें पर अगर लू चलना है तो हमारी पर्वाह किये बिना लू ही चलेगी। हमें पानी की ज़रूरत है पर अगर पानी के साधन नहीं जुड़े हैं तो पानी नहीं बरसेगा। इस प्रकार हमारी ज़रूरतों और इच्छाओं का प्रकृति से मेल नहीं बैठता। इस प्रकार प्रकृति द्वारा हमें बहुत दुःखी होना पड़ता है।

प्राणियों के परस्पर संघर्ष से भी बहुत से

दुःख होते हैं । प्राणियों की लालसा असीम है और प्राप्त सामग्री परिमित है । सब अपने अपने लिये खींचातानी करते हैं इसलिये दुःख कई गुणे बढ़ जाते हैं । अकाल को हम प्राकृतिक दुःख कह सकते हैं पर देश में भरपूर अन्न होते हुए भी जब आदमियों को भूखों मरना पड़ता है तब यह परात्मद्वारी दुःख हो जाता है । चोरी चपाटी व्यभिचार, हिंसा, छल-कपट आदि के दुःख परात्मद्वारी दुःख हैं ।

स्वात्मद्वार से आनेवाले दुःख हैं--ईर्ष्या, क्रोध आदि । अज्ञान और असंयम से पैदा होनेवाली हमारी मनोवृत्तियाँ दुःख का पर्याप्त कारण न होने पर भी हमें दुःखी कर देतीं हैं ।

इस प्रकार तीन द्वारों से आनेवाले दुःखों को दूर करने और सुख प्राप्त करने के पहिले यह भी समझ लेना आवश्यक है कि न तो सभी दुःख खराब हैं न सभी सुख अच्छे । किसी किसी का अच्छा बुरापन सदा के लिये या स्वाभाविक है और किसी किसी का कभी कभी के लिये । जैसे सहवेदन-दुःख स्वभावतः अच्छा है और रौद्रानंद सुख स्वाभावतः खराब । विषयानन्द और महत्त्वानंद में मात्रा से अधिक होने का बहुत डर है इसलिये इनके विषय में सदा सतर्क रहना चाहिये, ये पीछे बहुत दुःख देते हैं । दुःख सुख के विषय में नीति यह है कि **जो दुःख विश्व-सुख के लिये आवश्यक हो वह सहना चाहिये और जो सुख विश्वसुख में बाधक हो वह छोड़ना चाहिये ।**

जो दुःख दूर करने योग्य हैं उन्हें कैसे दूर करना चाहिये इस विचार में पहिले प्राकृतिक दुःखों का विचार आवश्यक है । प्रकृति की शक्ति असीम है । मनुष्य कैसा भी महान प्राणी हो पर आखिर अमुक अंश में वह भी प्रकृति का एक छोटासा अंश है । उसकी शक्ति प्रकृति की शक्ति के आगे नगण्य ही है । एक ज़रासा भूकम्प पृथ्वी पर जैसा तूफ़ान मचा देता है वैसा मनुष्य कभी नहीं मचा सकता । जब प्रकृति के द्वारा ऐसा कोई प्रचंड आक्रमण होता है तब सहिष्णुता और दूर भागने के सिवाय उस दुःख पर विजय पाने का कोई उपाय नहीं रहता । फिर भी यथाशक्य प्राकृतिक आक्रमणों से बचने के लिये प्रयत्न करना चाहिये । मनुष्यने जो घर, वस्त्र आदि हज़ारों आविष्कार किये हैं उनसे मानव-जाति के बहुत दुःख कम हुए हैं ।

प्रश्न--प्राकृतिक जीवन में जो शान्ति और आनन्द है वह आविष्कार-पूर्ण कृत्रिम जीवन में कहाँ है ? सहिष्णुता ही सब दुःखों की दवाई है । आदर्श जीवन बिलकुल नग्न और असंग्रहशील होगा ।

उत्तर--अनिवाद से सदा बचना चाहिये । आविष्कारों के द्वारा मनुष्य को बिलकुल निकम्मा और आलसी बनादेना जैसा बुरा है वैसा ही बुरा सहिष्णुता के द्वारा अपने रक्षण में असमर्थ बना देना है । सहिष्णुता की भी सीमा है और आविष्कार आदि के द्वारा रक्षण की भी सीमा । हमें आविष्कारों का इतना गुलाम न बन जाना चाहिये कि पद पद पर पराधीनता का कष्ट सहना पड़े और उनके लिये जीवन में इतना संघर्ष हो कि विश्व में सुख की अपेक्षा दुःख बढ़ जाय । इधर सहिष्णुता के ऊपर ही सारा बोझ न डालना चाहिये । अनिवार्य दुःखों को वीरता से सहजाना अच्छा और आवश्यक है पर निरर्थक दुःखों को बुलाना अच्छा नहीं । हां, सहिष्णुता का व्यायाम किया जा सकता है जैसा कि म. महावीर आदि

ने साधकावस्था में किया था। यह कर्तव्य नहीं है। शान्ति और आनन्द न तो सर्वथा प्राकृतिक जीवन में है न सर्वथा कृत्रिम जीवन में, दोनों के समन्वय में है। जब हम किसी एक जीवन से ऊब जाते हैं तब थोड़ी देर के लिये मिलनेवाला दूसरा जीवन शान्ति और आनन्दमय मालूम होता है। घर में रहते रहते जब हम ऊब जाते हैं तब नगर के बाहर मैदान या जङ्गल में आनन्द आने लगता है पर कड़ी धूप या घोर वर्षा में मैदान में रहना पड़े तो टहलने का सारा आनन्द भूल जाय। भोजन में चटनी की आवश्यकता है पर चटनी से ही पेट नहीं भरता उसी तरह **कभी कभी थोड़े समय के लिये अतिवाद भी सुन्दर और स्वादिष्ट मालूम होने लगता है पर वह स्थायीरूप में वैसा ही मालूम नहीं हो सकता।** इसलिये प्राकृतिक जीवन का अतिवाद और कृत्रिम जीवन का अतिवाद दोनों ही छोड़ना चाहिये।

प्रश्न—प्रकृति हमारी माता है हम उसके अंग या अंश हैं इसलिये अगर उसी पर अवलम्बित रहें तो क्या बुराई है?

उत्तर—इस तरह हम प्रकृति के कार्य में अड़ंगा ही लगायँगे। जो बच्चा भूख लगने पर रोता न हो, स्तनों में से दूध न चूसता हो, मुँह में डालने पर पेट के भीतर न खींच ले जाता हो वह माता के कार्य में अड़ंगा लगाकर आत्महानि ही करता है उसी प्रकार प्राकृतिक शक्तियों का सद्बुद्धि द्वारा उपयोग न करनेवाले प्राणी भी प्रकृति के कार्य में बाधा डालकर अपनी हानि करते हैं। प्रकृति शक्तियों का भंडार है पर उन शक्तियों का उपयोग करने के लिये हमें कुछ न कुछ प्रयत्न करना ही होगा। **प्राकृतिक जीवन का मतलब पशु के समान बुद्धि-शून्य जीवन बनाना नहीं है किन्तु प्रकृति का ऐसा और इतना उपयोग करना है जिससे प्रकृति कुपित होकर सुख की अपेक्षा अधिक दुःख न दे डाले।** बच्चा माँ का दूध पिये यहां तक माँ को प्रसन्नता है पर वह दाँतों से स्तन काटने लगे तो माँ दूध न पिलायगी और तमाचा तक जड़ देगी। इसी प्रकार प्रकृति का जो अत्युपयोग करते हैं, दूध के साथ उसका रक्त भी चूसलेना चाहते हैं उनका अप्राकृतिक जीवन दुःखद है, पर मर्यादा में रहकर विश्वहित के अनुकूल प्राकृतिक शक्तियों का अधिक से अधिक उपयोग करना अप्राकृतिक नहीं है।

प्रश्न—आप प्राकृतिक दुःखों से बचने का उपाय भाग जाना भी बताते हैं। पर यह तो कायरता है। कायरता कल्याण का उपाय नहीं हो सकती।

उत्तर—रास्ते में अगर पहाड़ आ जाय तो उससे सिर फोड़ लेना बहादुरी नहीं है। बहादुरी है, उसके ऊपर से या दायेंबायें से पार हो जाना। आग लग गई तो उसे बुझा डालना या बिना घबराये उससे बच निकलना बहादुरी है न कि उसमें जल मरना। हाँ, किसी महान कर्तव्य के लिये पहाड़ से टकरा कर मरना पड़े, अग्नि में जलना पड़े तो यह भी बहादुरी है पर जलने के लिये जलना बहादुरी नहीं है। बहादुरी विश्व-सुख-वर्धन में है। मूढ़ता-पूर्ण हठमें नहीं। **कर्तव्य-मार्ग से भागने का नाम कायरता है पर मार्ग में आये हुए काँटों से बचने का नाम कायरता नहीं है।** दुःखों से बचने के लिये हमें यही नीति रखना चाहिये। इस प्रकार प्राकृतिक दुःखों पर विजय पाने के तीन उपाय हैं। सहिष्णुता, रोध और चिकित्सा।

परात्मद्वार से आनेवाले दुःखोंपर विजय पाने

के लिये निम्न लिखित गुणों या कार्यों की आवश्यकता है। १ सहिष्णुता २ रोध ३ चिकित्सा ४ प्रेम ५ दंड।

१ सहिष्णुता—सहिष्णुता से दुःखों पर विजय मिलती है और कभी कभी दुःख दूर भी हो जाते हैं। जब पीड़क प्राणी देखता है कि इस पर अत्याचार का प्रभाव नहीं पड़ता तब वह हट जाता है। वह हटे या न हटे पर दुःख पर विजय तो मिलती है।

प्रश्न—सहिष्णुता का क्या अर्थ है? कोई प्राणी दुःख नहीं चाहता और जब जिसके सिर पर जो दुःख आ जाता है तब वह उसे सहना ही पड़ता है! इस प्रकार प्रत्येक प्राणी सहिष्णु ही है फिर सहिष्णुता की अलग आवश्यकता बताने से क्या लाभ?

उत्तर—किसी न किसी तरह दुःख भोग लेने का नाम सहिष्णुता नहीं है। किन्तु विचलित हुए बिना सहलेने का नाम सहिष्णुता है। दीन बन कर **रो रो कर भोगा जाता है** और वीर बनकर **हँस हँस कर सहा जाता है**। दुःख में जो जितना धीर-अविचलित और अविकृत है वह उतना ही सहिष्णु है।

२ रोध—आघात आदि को रोक रखना रोध है, जैसे छत्ते से हम वर्षा की बूँदों को रोकते हैं, ढाल से तलवार की चोटों को रोकते हैं, उसी प्रकार शत्रु की चोट अपने पर न होने देना रोध है। किसीने फँसाने के लिये जाल बनाया पर हम न फँसे, या और किसी तरह से आक्रमण किया पर अपने को बचा लिया यह रोध है। चोरी से बचने के लिये मकान बनाना, ताले लगाना, पहरेदार रखना आदि सब रोध हैं।

३ चिकित्सा—रोध में तो चोट होने ही नहीं पाती पर जब चोट हो जाती है तब उसे दूर करना या कम करना चिकित्सा है। जैसे चोरी का माल ढूंढ़ निकालना चिकित्सा है। और भी जितनी तरह की क्षतिपूर्त्ति है वह चिकित्सा है।

ये तीन उपाय तो प्राकृतिक और परात्मकृत दुःखों में बराबर हैं पर प्रेम और दंड ये दो उपाय प्राकृतिक दुःखों में उपयोगी नहीं हैं। ये परात्मकृत दुःखों के विजय में ही उपयोगी हैं।

४ प्रेम—दूसरे प्राणियों के द्वारा हमें जो दुःख सहना पड़ते हैं इसमें उनका स्वार्थ और अहंकार कारण होता है। प्रेम के द्वारा उनकी ये दोनों प्रवृत्तियाँ दूर हो जातीं हैं। प्रेम अहंकार को धो डालता है, शत्रुता का भ्रम दूर कर देता है, स्वार्थ-भेद की वासना को कम कर देता है। प्रेम के बिना बात बात में संशय, खेद, अपमान आदि मालूम होने लगता है और प्रेम होने पर बुराई उपेक्षणीय हो जाती है और बात बात में भलाई दिखाई देने लगती है। मनुष्यों की तो बात ही क्या है हमारी प्रेम-मुद्रा या अन्य व्यवहार से जब पशुओं को प्रेम का पता लग जाता है तब वे भी मित्र बन जाते हैं। प्राणि-समाज के कल्याण के लिये यह सर्वश्रेष्ठ औषध है। हमें दूसरों के दिल को प्रेम से (भक्ति, वात्सल्य सेवा उपकार दान क्षमा महानुभूति आदि सब प्रेम के ही रूप या कार्य हैं) जीतना चाहिये। इससे पर-प्राणिकृत दुःख बहुभाग में दूर हो जाँयगे। जो विश्वप्रेमी है उसके शत्रु अपेक्षाकृत कम होंगे और जो होंगे उनकी चोटों के सहने में उसकी सहिष्णुता बहुत बढ़ जायगी।

प्रश्न—विश्वप्रेम की क्या ज़रूरत है? हम राष्ट्र-

प्रेमी या अधिक से अधिक मनुष्य-प्रेमी बनें तो यही बहुत है और यही संभव है। कीट पतंग तथा अन्य क्षुद्र प्राणियों से हम प्रेम कहां तक कर सकते हैं? जिनसे हमें मतलब है उन्हीं से हमें प्रेम करना चाहिये।

उत्तर—राष्ट्र या ऐसे ही किसी क्षेत्र में प्रेम को सीमित करने से अमुक समय के लिये अमुक अंश में लाभ हो सकता है परन्तु अन्त में इस का परिणाम भयंकर होता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर अत्याचार करने लगता है और इसमे ऐसी अशान्ति और दुःख होता है कि उसके चक्कर में सभी राष्ट्र पिसने लगते हैं। इसलिये समान कोटिके प्राणी में प्रेम की ऐसी सीमा न होना चाहिये। हां अन्याय के प्रतीकार के लिये अमुक समूह का पक्ष लेना पड़े तो इसमें बुराई नहीं है क्यों कि ऐसा पक्ष-ग्रहण मनुष्यता या विश्वप्रेम के अनुकूल ही है। मनुष्य—मात्र में प्रेम को सीमित करना भी ठीक नहीं है क्योंकि मनुष्य से भिन्न प्राणियों में भी मनुष्य के बराबर न सही पर काफ़ी चैतन्य (सुख-दुःख) रहता है। बल्कि बहुत से प्राणियों में समझदारी, जान पहिचान, प्रेम, कृतज्ञता आदि गुण पाये जाते हैं जोकि एक तरह से सामाजिकता बनाते हैं। यद्यपि चैतन्य की न्यूनाधिकता से अधिक रक्षा या अल्प-रक्षा का विचार करना पड़ता है, अधिक चैतन्यवाले की रक्षा पहिले करना पड़ती है फिर भी जिसमें जितनी मात्रा है उसके अनुसार ख्याल रखना आवश्यक है। छोटे प्राणी का कम विचार भले ही करो पर विचार अवश्य करो उसे भुलाओ नहीं। इस प्रकार विश्व-प्रेम की सीमा में सब प्राणी आ जाते हैं।

यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि प्रेम शरीर या वचन की चीज़ नहीं है, वह मनकी चीज़ है इसलिये अवसर पर मीठा बोल देने से या कुछ शारीरिक शिष्टाचार प्रगट कर देने से प्रेम नहीं आ जाता। मनकी चीज़ मन में हो तभी सफल है। प्रेम को स्वाभाविक हो जाना चाहिये। कृत्रिम प्रेम अपनी कृत्रिमता दिखला ही देता है और उससे प्रतिक्रिया होती है, वैर पहिले की अपेक्षा बढ़ जाता है।

प्रेम जब स्वभाव बन जाता है तब उसकी सीमा नहीं रहती, वह सूर्य के प्रकाश की तरह चारों ओर फैलता है। यह बात दूसरी है कि जिस पदार्थ में जैसी योग्यता होती है वह पदार्थ उस प्रकाश मे उतना ही चमकता है। पर वह प्रकाश किसी पदार्थ पर उपेक्षा नहीं करता। स्वाभाविक प्रेम भी इसी तरह सब के सुख-वर्धन का ख्याल रखता है।

स्वाभाविक प्रेम या विश्व-प्रेम में एक बड़ा लाभ यह है कि हम अपने को सदा सर्वत्र सुरक्षित और सहाययुक्त समझते हैं। हर एक प्राणी को इसी जीवन में या नाना जीवनों में अनेक अच्छी बुरी परिस्थितियों में से गुजरना पड़ता है। अगर प्राणियों में स्वाभाविक प्रेम हो तो एक परिस्थिति में वह दूसरों का प्रेम पा सकेगा इसलिये यह विश्व-प्रेम का अद्वैत ही प्राणिसमाज के कल्याण के लिये--सुखवर्धन के लिये सर्वोत्तम औषध है।

५ दंड—कल्याण-विरोधी मनोवृत्तियों या उनके कार्यों को बलपूर्वक हटाना दंड है। जिन प्राणियों पर प्रेम का उचित प्रभाव नहीं पड़ता उन्हें दंड देकर व्यवस्थित करना पड़ता है। समाज-व्यवस्था के मूल में दो बातें हैं---एक संयम दूसरा भय। संयम प्रेम का अनुशासन मानता है और भय दंड का। प्रायः प्रत्येक समझदार प्राणी

में न्यूनाधिक रूपमें ये दोनों वृत्तियाँ रहतीं हैं। जो उत्तम श्रेणी के प्राणी हैं उनमें संयम इतना रहता है कि उसके आगे भय दब जाता है। जो अधम श्रेणी के प्राणी हैं वे भय की ही पर्वाह करते हैं। भय के आगे संयम दब जाता है। मध्यम श्रेणी में दोनों पर्याप्त मात्रा में रहते हैं। उत्तम श्रेणी के लिये दंड की आवश्यकता नहीं होती। मध्यम श्रेणी के लिये दंड-शक्ति की सत्ता या प्रदर्शन ही काफ़ी है पर अधम श्रेणी के लिये दंड का प्रयोग आवश्यक है, पर यह कह सकना कठिन है कि कौन प्राणी कब किस श्रेणीमें रहेगा? साधारणतः उत्तम श्रेणी के मालूम होनेवाले प्राणी परीक्षा के अवसर पर अधम श्रेणी के निकल पड़ते हैं इसलिये व्यवस्था के लिये दंड का रहना अत्यावश्यक है।

प्रश्न—दंड-नीति पशुता का चिह्न है उसका समर्थन करना पशुता का समर्थन करना है।

उत्तर—निःसन्देह दंड-नीति पशुता का चिह्न है पर चिह्न को नष्ट कर देने से पशुता न चली जायगी। बैल का सींग तोड़ देने से बैल आदमी नहीं बन जाता। जब तक हममें पशुता है तब तक तदनुरूप दंड-नीति का होना भी आवश्यक है। हाँ, उसका प्रयोग सँभलकर करना चाहिये और न्याय की हत्या न होने देना चाहिये। साथ ही यह भी देख लेना चाहिये कि यहाँ प्रेम-नीति से काम चल सकता है या नहीं? जब पशुता चली जायगी तब दंड-नीति विधान रूपमें रहने पर भी निरुपयोगी हो जायगी।

प्रश्न—अपराध भी एक तरह की मानसिक बीमारी है और बीमार आदमी दया का पात्र है-दंड का नहीं।

उत्तर—अवश्य ही उसपर दया करना चाहिये। किस परिस्थिति में उसने अपराध किया? क्या वह दूर की जा सकती है? उस पर प्रेम का क्या प्रभाव पड़ सकता है? आदि बातों का विचार करके जितनी दया की जाय उतनी अच्छी है पर व्यक्ति की दया में समष्टि की दया न भूल जाना चाहिये। रावण को बीमार कहकर दया करने की उदारता दिखाते समय सीताओं के ऊपर दया करना न भूल जाना चाहिये। माना कि शैतान के भीतर भी हृदय है और वह भी पिघल सकता है पर उसके पिघलने की आशा में जीवनभर उसका आततायीपन नहीं सहा जा सकता। पागल कुत्ता जब दूसरों को काटता है और उसके काटने से मनुष्य मर जाता है तो इसमें उस बेचारे कुत्ते का कोई अपराध नहीं, वह तो बीमार है पर इसीलिये उसे पुचकारने की मूर्खता उचित नहीं है। वह काटने आवे तो उसे मार भगाना या मार डालना ही उचित है। वृक्ष के लिये यदि पानी आवश्यक है तो ताप भी आवश्यक है। विश्व-कल्याण के लिये प्रेम-जल के साथ दंड-ताप भी अवश्य चाहिये।

प्रश्न—दंड सुधार के लिये होना चाहिये पर जब किसी मनुष्य को मृत्युदंड दे दिया जाय तो उसका सुधार क्या होगा?

उत्तर—मृत्युदंड का भय आजतक उसे उतने बड़े अपराध से रोके रहा और दूसरे सैकड़ों हजारों आदमियों को रोके हुए है यही समाज-सुधारमें उसकी उपयोगिता है। कभी कभी ऐसे अवसर आते हैं जब शरीर के अमुक भाग को [मवाद आदि को] शरीर से बाहर निकाल कर फेंक देना पड़ता है उसी प्रकार समाज से भी बड़े बड़े आततायियों को फेंक देना पड़ता

है। स्त्रियों के ऊपर बलात्कार करके उनके प्राण लेने वाले, मतभेद के कारण साधु पुरुषों का खून करनेवाले, अपनी ऐयाशी के लिये दूसरों का घर या देश लूटने में बाधक होने से प्राण लेनेवाले मृत्युदण्ड के पात्र हैं चाहे वे डाकू कहलाते हों गुंडा कहलाते हों या राजा कहलाते हों।

पर किसी भी तरह का दंड क्यों न हो हमारे मनमें समाजरक्षा या न्यायरक्षा का ध्यान रहना चाहिये। अपराधी से द्वेष न हो तो सिर्फ़ अपराध को नष्ट करने में अगर अपराधी नष्ट हो रहा है तो इसे अपनी विवशता समझना चाहिये। अगर प्रेम-नीति से काम चल सकता हो तो दंड-नीति का उपयोग न करना चाहिये।

स्वात्मद्वार से आने वाले दुःखों को दूर करने के लिये कर्मयोगी मनोवृत्ति सर्वोत्तम उपाय है। साधु-जीवन व्यतीत करना अर्थात् दूसरों से कम से कम से लेकर अधिक से अधिक देने की इच्छा करना और जीवन को एक नाटक समझ कर भीतर से निर्लिप्त रहना, इन दो बातों से कर्मयोगी जीवन बन जाता है और सब कर्तव्य करते हुए भी क्रोध अहंकार छल लोभ ईर्ष्या आलस्य आदि दुर्वृत्तियाँ ज़ोर नहीं पकड़ने पातीं।

इस विषय का विशेष वर्णन जीवन-दृष्टि अध्याय में किया जायगा।

इस प्रकार तीन द्वारों से आनेवाले सब प्रकार के दुःख दूर हो जाते हैं। रही सुखोपार्जन की बात, सो पहिले जो छः प्रकार के आनन्द बतलाये गये हैं उनमें से रौद्रानन्द का तो सदा त्याग ही करना चाहिये। प्रेमानन्द सदा हित-कारी है। परमपुरुपार्थ मोक्ष भी इस आनन्द में है। फिर भी इसमें एक बात का ख्याल रखना चाहिये कि इसके साथ कहीं मोहान्धता न आ जाय। मोहान्ध व्यक्ति विवेक-भ्रष्ट होकर कल्याण-मार्ग से विचलित हो जाता है इससे वह स्वयं दुःख उठाता है और दूसरों को भी दुःख देने लगता है। इसलिये प्रेमानन्द में मोहान्धता से बचे रहने का सदा प्रयत्न होते रहना चाहिये।

जीवनानन्द भी निर्दोष और उपादेय है परन्तु इसमें इस बात का ख्याल रखना चाहिये कि यह अन्याय्य न हो जाय, अपने जीवनानन्द के लिये दूसरों के उचित जीवनानन्द का नाश न हो जाय। स्वास्थ्य का भी ख्याल रखना चाहिये जीवनानंद यदि स्वास्थ्य-नाशक हो जाय तो वह जीवनानंद ही न रहेगा।

विषयानंद निर्दोष हो सकता है पर बहुत जल्दी विकृत या सदोष होने की पूरी सम्भावना है। इसके लिये विषयानंद में तीन बातों का अवश्य खयाल रखना चाहिये। १ निर्व्यसनता २ परिमितता ३ न्याय्यता।

विषय का आनन्द लो पर उसे व्यसन या आदत मत बनाओ कि उसके बिना जी तड़पता रहे। इससे बेचैनी तो होती ही है साथ ही मात्रा भी नहीं रहती, न्याय-अन्याय का विचार भी नहीं रहता इसलिये निर्व्यसनता आवश्यक है।

विषय मात्रा में अधिक होने पर शक्ति क्षीण करने लगते हैं और न्याय-अन्याय का विचार भी नष्ट कर देते हैं इसलिये परिमितता आवश्यक है।

विषय-सेवन इस प्रकार मत करो कि उससे दूसरों के साथ अन्याय होने लगे नहीं तो विश्व-सुख-वर्धन में बाधा पड़ेगी तथा अन्त में अन्याय का फल अपने को भी भोगना पड़ेगा। इसलिये न्याय्यता आवश्यक है।

महत्त्वानन्द की आकांक्षा हरएक को होती है। पर यह याद रखना चाहिये कि महत्त्व अन्याय्य विश्व-दुःख-वर्धक या सुख-नाशक न हो। सभी तरह के महत्त्व समग्र उपादेय नहीं हैं। विषय भेद से महत्त्व चौदह हैं। १-अधिकार, २ विभव, ३ संघ, ४ कुल, ५ यश, ६ तप, ७ कला, ८ शक्ति, ९ ज्ञान, १० सौंदर्य ११ असाधारणता, १२ दान, १३ त्याग, १४ सेवा।

१-**अधिकार,** समाज के द्वारा दी हुई या स्वीकृत की हुई निग्रह--अनुग्रह शक्ति है। इस की प्राप्ति सेवाके लिये करना चाहिये, अहंकार के लिये नहीं, और उसका उपयोग सुव्यवस्था के लिये करना चाहिये अपना अधिकारीपन बताने के लिये नहीं।

२-जीवन के लिये उपयोगी अपने अधिकार की सामग्री का नाम **विभव** है। इसका अतिसंग्रह न करना चाहिये। विभव का महत्त्व जगत में जितना कम होगा, सुख शान्ति उतनी ही अधिक होगी।

३--अपने समर्थक सहायक या समूह का नाम **संघ** है। मेरे इतने अनुयायी हैं इतने मित्र रिश्तेदार या कुटुंबी हैं, अमुक राजा, नेता, पदाधिकारी, श्रीमान या विद्वान से मेरी दोस्ती या परिचय है, मेरे इतने नौकर हैं आदि सब संघ का महत्त्व है। साधारणतः इस महत्त्व का आनंद कुछ बुरा नहीं है सिर्फ़ इसके दुरुपयोग से बचना चाहिये।

४--जन्म से सम्बन्ध रखने वाले परिवार का नाम **कुल** है। मैं अमुक कुटुम्ब में पैदा हुआ हूं, मेरे बाप माँ मामा चाचा आदि इतने महान हैं, मेरी जाति मेरा गोत्र इतना महान है आदि कुल का महत्त्व है। अथवा मैं महाराष्ट्री, बंगाली, गुजराती, पंजाबी आदि हूं या मैं अंग्रेज अमेरिकन जापानी या भारतीय हूं आदि प्रान्त या राष्ट्र का महत्त्व भी कुल का महत्त्व है। यह महत्त्व अच्छा महत्त्व नहीं है इसका उपयोग न करना चाहिये। अगर कभी करना हो तो बुराई से बचने के लिये ही करना चाहिये। 'मैं अमुक का बेटा हूं, अमुक प्रान्त या राष्ट्र का हूं फिर क्यों ऐसा पतित काम करूँ इस प्रकार पाप से बचने के लिये इसका उपयोग उचित है पर अहंकार आदि के लिये कुल का महत्त्व न बताना चाहिये।

५--लोगों के हृदय में अपने विषय में जो आदरभाव है वह **यश** है। यश का आनन्द बुरा नहीं है पर यश-प्राप्ति की कला और उस के लिये आवश्यक संयम कठिन है। मलिन और क्षणिक यश--चार दिन की वाहवाही--की बात दूसरी है पर निर्मल और स्थायी यश इन चार बातों पर निर्भर है। [१] असाधारण योग्यता [२] उसका समाज-हित में उपयोग [३] उस उपयोग के लिये किया गया त्याग [४] यशो-लाभ की गौणता। यश मोर के समान है जो बंदर की तरह गले में रस्सी बाँध कर नचाया नहीं जा सकता। वह वर्षा देखकर आप ही तांडव करता है। जो लोग यश के लिये ही कोई काम करते हैं उन्हें सच्चा यश नहीं मिल सकता। इस लिये यश को गौण रखना आवश्यक है। अपने नाम का प्रदर्शन कभी इस तरह न होना चाहिये जिससे यह मालूम हो कि यह प्रदर्शन के लिये अर्थात् यश के लिये हो रहा है। इस बात का सदा ख्याल रहे कि हमारा काम सेवा या समाज-सुख के लिये हो। उस की ओट में अगर नाम का प्रदर्शन हो जाय तो भले ही हो जाय। आत्म-

श्लाघा न होने पावे। इस विषय का शिष्टाचार भी कुछ होता है उसका भी ख़याल रखना चाहिये।

६–स्वपर-कल्याण के लिये विशेष साधना का नाम **तप** है। तपसे भी महत्व बढ़ता है और उससे आनन्द मिलता है। यह आदर सत्कार आदि के ध्येय से न होना चाहिये। विश्वकल्याण के ध्येय से होना चाहिये।

७–मन और इन्द्रियों के विषयों को आकर्षक ढंग से बनाना **कला** है, थोड़े खर्च में अधिक आकर्षकता लाना इस की कसौटी है। कलाके द्वारा अच्छी अच्छी कल्याणकर चीजें लोगों के पास पहुँचाई जा सकतीं हैं। इस प्रकार यह जन-सेवा में बहुत उपयोगी हो सकती है। पर विषयानन्द को मात्राधिक करने में इस का बहुत उपयोग होता है इससे बचना और बचाना चाहिये। अपनी कला का उपयोग विषयान्धता बढ़ाने के लिये कभी न करना चाहिये। इस संयम के साथ कलावान होने का महत्त्व मिले तो उसका आनन्द लेना चाहिये।

८—जिस योग्यता के द्वारा हम इच्छानुसार विशेष परिवर्तन कर सकें या परिवर्तन को रोक सकें वह **शक्ति** है। शक्ति शरीर की भी होती है मन की भी होती है और वचन की भी होती हैं। इसका महत्त्व भी अच्छा है पर उस की सच्ची कसौटी अच्छा बुरा उपयोग है।

९ शास्त्र, विचार, या अनुभव से पाये हुए ज्ञान का नाम **विद्या** है और समझने या विचार करने की शक्ति का नाम **बुद्धि** है, ये दोनों ही ज्ञान हैं। इनका महत्त्व बुरा नहीं है। हां, मद न होना चाहिये।

१० शरीर की आकर्षक रचना का नाम **सौंदर्य** है। सौन्दर्य यहां उपलक्षण है। शरीर की गन्ध, स्पर्श आदि की आकर्षकता भी यहां लेना चाहिये। इसका घमंड भी न करना चाहिये। यह विद्या बुद्धि आदि से कम स्थायी है। इससे विषयानन्द की मात्रा में भी अतिरूप होने की सम्भावना है इसलिये सतर्क रहना चाहिये। हां, विनय और संयम का ख़याल रखते हुए इसका आनन्द बुरा नहीं है। स्वच्छता, सौन्दर्य की सहायक या अंग है उसे अपनाना चाहिये।

११ आवश्यकता, अनावश्यकता उचित अनुचित का विचार न करते हुए किसी भी तरह की अद्‌भुतता का नाम **असाधारणता** है। विद्या बुद्धि, सौन्दर्य आदि का महत्त्व उनकी उपयोगिता के पीछे है पर इस असाधारणता में उपयोगिता का विचार ही नहीं है। किसी ने अपने नाखून ख़ूब बढ़ा लिये, किसी ने अपनी मूंछें ख़ूब बढ़ालीं, कोई ऊँचाई में असाधारण है, कोई निचाई में; इन सब असाधारणताओं में लोग महत्त्व का अनुभव करके प्रसन्न होते हैं। एक तरह से यह व्यर्थ है।

सिर के बाल लम्बे होने से सौन्दर्य बढ़ता हो, शरीर लम्बा होने से शक्ति बढ़ती हो तो यह असाधारणता का महत्त्व न कहलायगा, सौन्दर्य और शक्ति का महत्त्व कहलायगा। असाधारणता तो सिर्फ़ वहीं समझना चाहिये जहाँ अन्य किसी दृष्टि से उपयोगिता न हो उससे सिर्फ़ अद्‌भुतता ही प्रगट होती हो।

१२ परोपकार के लिये अपने प्राप्त विभव का ख़र्च करना या देना **दान** है।

१३—स्वपर-कल्याण के लिये प्राप्त या अप्राप्त विभव और सुविधाओं का छोड़ना **त्याग** है।

दान की अपेक्षा त्याग व्यापक और श्रेष्ठ है। दान भी एक तरह का त्याग ही है फिर भी दोनों

में मात्रा का अन्तर है । (१) दान में अपनी आवश्यक सुविधाएँ बहुत अंशों में सुरक्षित रहतीं हैं और त्याग में आवश्यक सुविधाएँ बहुत अंशों में छोड़ना पड़तीं हैं । (२) दानी के लिये अर्थोपार्जन के द्वार बहुत अंशों में खुले रहते हैं जब कि त्यागी के अर्थोपार्जन के द्वार बहुत अंशों में बन्द हो जाते हैं । (३) दानी संग्रहशील भी हो सकता है और अति-संग्रह भी कर सकता है पर त्यागी अति-संग्रह नहीं कर सकता और संग्रह--शीलता उसकी आवश्यक और सीमित रहती है । इन कारणों से दानी से त्यागी भिन्न और श्रेष्ठ है ।

१४ परोपकार के लिये अपनी योग्यता का उपयोग करना **सेवा** है ।

इन तीनों बातों का महत्वानन्द अधिक से अधिक प्राप्त करना चाहिये । इनमें से बहुत सी बातों का विशेष विवेचन तो आगे किया जायगा । यहाँ इतनी बात कहना आवश्यक है कि अहंकार किसी भी महत्त्व का न करना चाहिये । और उपर्युक्त सूचनाओं के अनुसार ही महत्त्वानन्द लेना चाहिये ।

मोक्षानन्द एक श्रेष्ठ आनन्द है । इसका श्रेष्ठ रूप है-दुर्व्यसनों, कुरूढ़ियों और दुर्वासनाओं से छूट जाना । परन्तु और भी अनेक तरह की परतन्त्रताएँ जीवन में सिर पर पड़ जातीं हैं उनके जालको तोड़ने का सदा उद्योग करना चाहिये । पर कुछ बन्धन ऐसे भी होते हैं जो स्वपर-कल्याण के लिये आवश्यक हैं । जैसे-नीति, भक्ति और प्रेम का बन्धन । ये बन्धन जीवन के सौन्दर्य और स्वास्थ्य के लिये आवश्यक हैं ।

इस प्रकार दुःख दूर करने और सुख पाने के मार्ग पर दृष्टि डालकर आगे बढ़ना चाहिये । दुःख दूर करने और सुख पाने का मार्ग बताने के लिये तो यह सारा ग्रंथ ही है । इस अध्याय में तो मार्ग पर दृष्टि डालने के लिये सुख-दुःख के विषय में विविध विचार किया गया है । इस मार्ग-दृष्टि से सुखी होने के कार्य का विचार करने में काफ़ी मदद मिलेगी ।



दृष्टिकांड, चौथा अध्याय (योगदृष्टि)

(चार योग)

योग का अर्थ है समाधि या तल्लीनता। दृष्टि-प्राप्त मनुष्य मार्ग देखकर उस में तल्लीन हो जाता है अर्थात् उस में वह एक तरह से सारी शक्ति लगा देता है। कल्याण के मार्ग में इस प्रकार तल्लीन हो जाने का नाम है योग।

ऐसा योगी अपने विषय में ऐहिक फलाफल या सुखदुःख की विशेष चिन्ता नहीं करता। उसका जीवन मोक्ष-सुख-प्रधान होता जाता है। काम-सुख गौण हो जाता है।

योग दो तरह का है-**ध्यान-योग** और **कर्मयोग**। जिस योग में समाज का संघर्ष कम हो, जीवन में एक तरह की एकान्तता आ जाय, समाज-सेवा गौण हो और निष्पाप आत्म-संतोष मुख्य हो इस प्रकार **कर्महीन एकाग्रता का नाम ध्यान-योग है**। जिस में समाज-सेवा मुख्य हो ऐसी **निष्पाप क्रिया-शीलता का नाम कर्मयोग है**। जनता के लिये आदर्श तो कर्मयोग है परन्तु परिस्थिति विशेष में व्यक्ति-विशेष को ध्यान योग की आवश्यकता हो सकती है। ऐसे समय में ध्यान-योग भी उचित है।

दुःख-हानि और सुख-प्राप्ति के लिये मनुष्य उक्त चार चीज़ों में से किसी एक का मुख्य रूप में सहारा लेता है। चारों में कोई परस्पर विरोध नहीं है। एक ही मनुष्य में चारों बातें पाई जा सकती हैं परन्तु जिस में जिस बात की मुख्यता है उस का योग उसी नाम से पुकारा जाता है। भक्त मनुष्य दुनिया के झगड़ों से निवृत्त होकर संन्यासी भी हो सकता है, विद्या-व्यसनी भी हो सकता है और अपने जीवन के दायित्व को पूरा करने वाला भी हो सकता है, परन्तु यदि उसके जीवन में प्रधानता भक्ति की हो तो वह भक्ति-योगी कहलायगा। इसी प्रकार अन्य योगियों की भी बात है। योग कोई भी हो उसके दो कार्य मुख्य हैं, निष्पाप जीवन और कष्ट-सहिष्णुता। निष्पाप जीवन में दुःखों की उत्पत्ति रुक जाती है और कष्टसहिष्णुता में दुःख असर नहीं कर पाते। इन दोनों बातों से कल्याण के साथ मनुष्य का संबंध अथवा योग हो जाता है।

भक्ति योग

भक्ति का मूल रूप भज् है जिस का अर्थ है सेवा करना। पर चिरकाल से भक्ति शब्द अपने मूल अर्थ से कुछ संकुचित हो गया है। अब तो इस का अर्थ रह गया है अपने से महान की पूजा प्रार्थना सेवा आदि। किसी आदर्श या आदर्श व्यक्ति की शरण ले लेने से प्राणी अपने को सुरक्षित समझने लगता है। अनाथता से घबराये हुए प्राणी को सनाथता का अनुभव होता है। इसलिये जो जो कष्ट उस पर आते हैं उनको वह अपने इष्ट देव गुरु के भरोसे सह जाता है।

यह तो हुई दुःख-सहिष्णुता। निष्पापता के लिये इष्ट देव गुरु का आदर्श और उसकी आज्ञा का पालन सहायक होता है। इस प्रकार भक्तियोगी निष्पाप जीवन और कष्ट-सहिष्णुता के सहारे अपना कल्याण कर लेता है।

भक्ति भय से भी होती है पर भक्तियोगी की भक्ति भय से नहीं होती। इसलिये साधारण भक्त बनने और भक्तियोगी बनने में अन्तर है।

भक्ति तीन तरह की है—१ ज्ञान-भक्ति २ स्वार्थ-भक्ति ३ अन्ध-भक्ति।

ज्ञानभक्ति—ज्ञान-भक्ति में गुणानुराग की मुख्यता होती है, स्वार्थ की नहीं। जो जीवन का आदर्श प्रभु, अथवा कल्याण-पथ में अपने से आगे माना गया हो उसकी गुणानुराग की मुख्यता से या आत्म-समर्पण की दृष्टि से जो भक्ति की जाती है वह ज्ञान-भक्ति है।

ज्ञान-भक्ति में भी स्वार्थ हो सकता है पर इतनी मात्रा में नहीं कि दूसरों के उचित अधिकार नष्ट कर दे।

प्रश्न—ज्ञान-भक्ति में भी जब आत्मसमर्पण है तब वह भी अन्ध-भक्ति हो गई। क्योंकि जहां पर आत्मसमर्पण है वहां अपनी विचार-शक्ति गौण हो जाती है। विचार-शक्ति का गौण होना ही अन्धता है।

उत्तर—जीवन में बड़े से बड़े ज्ञानी को भी किसी न किसी क्षेत्र में प्रायः आत्मसमर्पण करना ही पड़ता है। आत्मसमर्पण ज्ञान से भी होता है और अन्धता से भी होता है। जब हम अनेक अनुभवों से यह जान लेते हैं कि अमुक वैद्य सुयोग्य और ईमानदार है तब बीमारी में उस वैद्य को आत्म-समर्पण कर देना अन्धता का फल न कहलायगा क्योंकि यहां पर वैद्य की विश्वसनीयता जाँच ली गई है और समय समय पर रोग की अवस्था जान कर उसका फलाफल भी जाँच लिया जाता है। इसी प्रकार धर्म, गुरु आदि के विषय में भी है। अगर कोई ऐसा गुरु मिल जाय जो अपनी अपेक्षा अधिक ज्ञानी-अनुभवी और वीतराग हो, जिसकी आज्ञाएँ सत्पथ पर ले जानेवाली हों तो उसकी यथाशक्ति जाँच कर लेने के बाद उसे आत्मसमर्पण कर देना ज्ञानभक्ति ही है। अन्ध-भक्ति वहां होगी जहां सिर्फ वेष देख कर या परम्परा देख कर आत्मसमर्पण किया जाय या श्रद्धा रक्खी जाय। भक्तियोगी इस प्रकार अन्ध-समर्पण नहीं करता वह ज्ञान-समर्पण करता है।

स्वार्थ-भक्ति-जिस भक्ति की उत्पत्ति और स्थिति का कारण वैयक्तिक स्वार्थ है उसे स्वार्थ-भक्ति कहते हैं। नौकरों और मजदूरों के मनमें जो मालिक की भक्ति होती है वह स्वार्थभक्ति है। जहां पर व्यक्ति की योग्यता और कृति का विचार मुख्य न हो किन्तु अपना स्वार्थ मुख्य हो वहाँ स्वार्थ-भक्ति समझना चाहिये।

प्रश्न—विद्यार्थी के द्वारा अध्यापक की भक्ति स्वार्थ-भक्ति है या ज्ञान भक्ति?

उत्तर—गुण-परीक्षण और गुणानुराग-हो तो ज्ञानभक्ति है। यदि यह दृष्टि हो कि अध्यापक मुफ्त में पढ़ा देते हैं या कम फीस लेते हैं मेरे अपराधों पर ध्यान नहीं देते आदि, तो यह स्वार्थ-भक्ति कहलायगी।

प्रश्न-भक्तिमात्र स्वार्थ मूलक हैं। मनुष्य यों ही किसी की भक्ति नहीं करता, कुछ मतलब निकलता है तभी भक्ति करता है। ईश्वर की भी भक्ति हम इसलिये करते हैं कि उसकी दया से

हमारा कोई न कोई स्वार्थ निकलता है । दानी परोपकारी तथा समाज-सेवकों, साधुओं की भी भक्ति इसीलिये की जाती है कि उनसे हमारा कोई न कोई स्वार्थ सिद्ध होता है । संकट से हमारा कोई उद्धार करे और हम उसकी भक्ति करें तो ऐसे उद्धारक की भक्ति को स्वार्थ-भक्ति क्यों कहना चाहिये ? यह तो ज्ञानभक्ति है ।

उत्तर--स्वार्थ रहने पर भी ज्ञानभक्ति हो सकती है । उपर्युक्त अवसरों पर स्वार्थ-भक्ति भी हो सकती है और ज्ञानभक्ति भी । संकट में से किसी ने हमारा उद्धार किया । इससे हमारे मनमें यह विचार आय, कि यह आदमी बहुत परोपकारी है । इसने बिना किसी स्वार्थ या जानपहिचान के मेरा उद्धार किया, यह पूज्य है । इस प्रकार परोपकारी मानकर अगर हम भक्ति करेंगे तो वह भक्ति स्थिर होगी और कोई अनर्थ पैदा न करेगी । अब कल्पना करो वह उद्धारक आदमी हमारा निरीक्षक या न्यायाधीश बना और उसने हमारे अपराध का उचित दंड दिया तो उससे दंड पाकर भी हम उसकी भक्ति रख सकेंगे। भक्तिनाश का भय न्याय करने में बाधक न होगा। अगर स्वार्थ-भक्ति होगी तो भक्ति थोड़े से भी अप्रिय प्रसंग से नष्ट हो जायगी । वह न्याय अन्याय की पर्वाह न करेगी । आज स्वार्थ सिद्ध हुआ भले ही वह अन्याय हो-तो भक्ति हो गई, कल स्वार्थ-सिद्ध न हुआ-भले ही यह कार्य न्यायोचित हो-तो भक्ति नष्ट हो गई ऐसी भक्ति स्वार्थ-भक्ति है । स्वार्थ-भक्ति में पात्रा-पात्र का विचार नहीं रहता सिर्फ़ अपने स्वार्थका विचार रहता है । ज्ञानभक्ति ऐसी चंचल नहीं होती न उससे अन्याय को उत्तेजन मिलता है । ज्ञानभक्ति उस व्यक्ति की होगी जिसने हमारा भले ही उपकार न किया हो पर जगत का उपकार किया हो । स्वार्थ-भक्ति ऐसे पात्र की उपेक्षा करेगी ।

ईश्वर या देवी देवताओं की भक्ति ज्ञानभक्ति भी हो सकती है और अन्धभक्ति भी हो सकती है । ईश्वर को आदर्श मानकर उस आदर्श की ओर बढ़ने के लिये भक्ति की जाय, उसे नियंता मानकर पाप से बचने के लिये भक्ति की जाय, उसे हितोपदेष्टा मानकर उसकी आज्ञा का पालन करके पवित्र जीवन बनाने के लिये भक्ति की जाय, अपने मनको पापों--प्रलोभनों--विपत्तियों से हटाने के लिये आत्म-समर्पण के लिये भक्ति की जाय तो ज्ञानभक्ति है । दिनरात पाप करके उस पर माफ़ी की मुहर लगवाने के लिये भक्ति की जाय तो स्वार्थ-भक्ति है । बिना समझे रूढ़ि या संस्कारवश भक्ति की जाय तो अन्ध-भक्ति है ।

प्रश्न--जैसे स्वार्थ से भक्ति होती है उसी प्रकार भय से भी होती है । साधारण जनता बड़े बड़े अफ़सरों की जो भक्ति करती है वह इसलिये नहीं कि अफ़सरों से वह किसी भलाई की आशा करती है किन्तु इसलिये कि नाराज़ होकर कुछ बुराई न कर दें । इस प्रकार धर्म के नाम पर भी शनैश्चर आदि की पूजा की जाती है यह सब भयभक्ति है । भय-भक्ति भी स्वार्थभक्ति के समान एक अलग भक्ति है ।

उत्तर-भय-भक्ति भी स्वार्थ-भक्ति है । स्वार्थ-वासना दो तरह की होती है एक **आशा पूरक** दूसरी **ध्वंस-रोधक** । आशा पूरक में कुछ पाने की इच्छा रहती है और ध्वंस-रोधक में नाश न होने की चिन्ता रहती है । भय-भक्तिमें यही ध्वंस-रोधक स्वार्थ-वासना होने से भय-भक्ति भी स्वार्थ-भक्ति है ।

प्रश्न--भय-भक्ति या स्वार्थ-भक्ति को भक्ति क्यों कहना चाहिये ? यह तो एक तरह का छल

कपट या मायाचार है। अच्छे शब्द में इसे शिष्टाचार भी कह सकते हैं पर यह भक्ति तो नहीं है।

उत्तर--स्वार्थ-भक्ति, शिष्टाचार और चापलूसी के बहुत पास हैं फिर भी उसमें अन्तर है। जहाँ भक्ति है वहाँ मन तक विनय का प्रवेश है, शिष्टाचार और चापलूसी मन की पर्वाह नहीं करते। बल्कि इनमें वंचना भी हो सकती है। स्वार्थ-भक्ति या भय-भक्ति में यह बात नहीं है। उस में मन रँग जाता है। एक ईमानदार नौकर अपने गुणहीन मालिक का भी भक्त बन जाता है। स्वार्थ से उसके मन पर मालिक की महत्ता की छाप बैठ जाती है। और उसमें अनुराग की मात्रा भी पैदा हो जाती है। **जहाँ मन पर महत्ता की छाप हो और प्रेम हो वहाँ भक्ति समझना चाहिये। जहाँ ये दोनों या दो में से कोई एक न हो वहाँ सिर्फ शिष्टाचार रह सकेगा भक्ति नहीं।**

अन्धभक्ति--परम्परा की रूढ़ि के कारण या और किसी तरह के अज्ञान के कारण जो विचारहीन भक्ति होती है वह अन्ध-भक्ति है इस भक्ति में विवेक नहीं होता। और दृढ़ता मात्रा से अधिक होती है। अन्ध-भक्त युक्ति और अनुभव की पर्वाह नहीं करता।

प्रश्न--कभी कभी ज्ञान-भक्त भी दुनिया के बकवाद की पर्वाह नहीं करता तब क्या उसे भी अन्धभक्त कहना चाहिये।

उत्तर--अन्ध-भक्त और ज्ञान-भक्त की लापर्वाही में अन्तर है। अन्ध-भक्त बिना विचारे लापर्वाही करता है पर ज्ञान-भक्त अनेक बार के विचार के बाद लापर्वाही करता है। ज्ञान-भक्त जब युक्ति अनुभव से गम्भीर विचार कर लेता है और उसका विचार जब श्रद्धा का रूप धारण कर लेता है तब यदि कोई अपनी दुहाई देकर अथवा युक्तिशून्य या अनुभवशून्य बातें कह कर उसके विश्वास को डिगाना चाहता है तब ज्ञान-भक्त उसकी पर्वाह नहीं करता है। अथवा एक दो बार विचार करता है किन्तु जब वे या वैसे ही विचार उसके सामने आते हैं तब वह लापर्वाही करने लगता है। इस लापर्वाही के मूल में अन्धता या अज्ञान नहीं, किन्तु ज्ञान की विशालता है। इसलिये अन्ध-भक्त की लापर्वाही और ज्ञान-भक्त की लापर्वाही में बड़ा अन्तर है।

भक्ति-योगी न तो अन्ध-भक्त होता है न स्वार्थ-भक्त, वह ज्ञान-भक्त होता है।

प्रश्न--भक्ति-योगी ज्ञान-भक्त भले ही रहे परन्तु भक्ति से किसी को योगी मानना क्या उचित है? भक्ति तो एक तरह का मोह है। मोही को योगी कहना कहाँ तक ठीक है?

उत्तर--जिसने मोक्ष-पुरुषार्थ पालिया वह योगी है। मोक्ष का अर्थ मनोविकारों से यथासम्भव छूट जाना है, ज्ञानभक्ति जहां होती है वहाँ पूर्ण आत्म समर्पण होने से अहंकार नष्ट हो जाता है, जोकि पापों की जड़ है। पूरा भक्त अपने इष्ट के ध्यान में इतना लीन हो जाता है कि दुनिया की चोटें उसके दिल पर घाव नहीं कर पातीं, दुर्वासनाएँ दब जाती हैं, यही मोक्ष है और मोक्ष प्राप्त होने से वह योगी है। ज्ञानभक्ति मोह नहीं अन्धभक्ति मोह है। ज्ञानभक्ति में विवेक जगता रहता है। जहाँ विवेक है वहाँ मोह कहाँ?

संन्यास-योग

वृद्धता आदि शारीरिक अशक्ति अथवा मानसिक थकावट या समाज-सेवा के कार्य में अपनी विशेष उपयोगिता न रहने के

कारण समाज-संघर्ष का क्षेत्र छोड़ कर ऐहिक दुःखों की पर्वाह किये बिना निष्पाप जीवन व्यतीत करना **संन्यास-योग** है। संक्षेप में निवृत्ति-प्रधान निष्पाप जीवन संन्यास-योग है।

यह योग युवावस्था के व्यतीत हो जाने पर ही धारण करना चाहिये। इसमें भी योगकी दोनों विशेषताएँ पाई जाती हैं, निष्पाप जीवन और कष्ट-सहिष्णुता। इनसे दुःख-नाश और सुख-प्राप्ति होती है।

भक्तियोग की तरह यह भी आपवादिक मार्ग है। जीवन में कभी कभी इसकी भी आवश्यकता पड़ जाती है। उचित अवसर पर यह अच्छा है। पर जो लोग सिर्फ़ भिक्षा माँगने के लिये, आलसी जीवन बिताने के लिये या अपनी पूजा कराने के लिये संन्यास का ढोंग करते हैं, अपने आवश्यक कर्तव्य से मुँह मोड़ कर समाज के बोझ बन जाते हैं वे अवश्य ही निंद्य हैं। संन्यास-योगी अपने आपमें मस्त रहता है। वह दुनिया को नहीं सताता और दुनिया उसे सताये तो पर्वाह नहीं करता। शिष्टानुग्रह (भलोंकी भलाई) दुष्ट-निग्रह [बुरोंकी बुराई] उसके जीवन में गौण है। सदाचारी होने के साथ वह स्वावलंबी, एकान्त-प्रिय, तपस्वी और सहिष्णु होता है।

प्रश्न—भक्ति-योग और संन्यास-योग में क्या अन्तर है?

उत्तर—दोनों ध्यान योग हैं इसलिये दोनों में बहुत कुछ समानता है। अन्तर इतना ही है कि भक्ति-योगी का मन, वचन, शरीर किसी कल्पित या अकल्पित देव की उपासना गुणगान आदि में लगा रहता है और संन्यास-योगी के जीवन में ऐसी भक्ति या तो होती नहीं है या नाम मात्र को होती है इसकी मुख्यता नहीं होती। संभव है उस देव को पाना या उस में लीन हो-जाना उस संन्यास-योगी का ध्येय हो, परन्तु वह ध्येय अमुक दिशा का संकेत-मात्र करता है वह दिनचर्या में भर नहीं जाता जब कि भक्ति-योगी की दिनचर्या में भक्ति भरी रहती है।

प्रश्न—संन्यास अगर युवावस्था में लिया जाय तो क्या बुराई है? म. महावीर म. बुद्ध आदि ने युवावस्था में ही संन्यास लिया था।

उत्तर—ये लोग संन्यास-योगी नहीं थे कर्म-योगी थे। ये तीर्थंकर थे, तीर्थ की रचना कर्म-शीलता के बिना कैसे हो सकती है? इनका जीवन समाज-सेवक का जीवन था, समाजके साथ संघर्ष इन्हें करना पड़ा, सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति इनने की। प्रचारक बनकर गांव गांव सत्यका प्रचार किया। ये तो कर्मशीलता की मूर्ति थे इन्हें संन्यास-योगी न समझना चाहिये।

प्रश्न- गृह-त्याग के बाद इन लोगों का जीवन संन्यासी जीवन ही था। ये सुख दुःख की पर्वाह नहीं करते थे, समाज की पर्वाह नहीं करते थे तपस्या में लीन रहते थे, एकान्त--प्रिय थे इस प्रकार संन्यास के सारे चिह्न इनमें मौजूद थे फिर ये कर्मयोगी कैसे?

उत्तर—साधकावस्था में अवश्य ये लोग संन्यासी थे पर उनका संन्यास कर्मयोगी बनने की साधना मात्र था। जिस तरह की समाज सेवा ये करना चाहते थे उसके लिये कुछ वर्षों तक वैसा संन्यासी जीवन बिताना ज़रूरी था। इसलिये इनका संन्यास कर्म की भूमिका होने से कर्मयोग में ही शामिल समझना चाहिये।

प्रश्न--घरसे तो ये लोग आत्मशान्ति के लिये निकले थे, जगत्सेवा करना या तीर्थ रचना करना उस समय इनका ध्येय नहीं था। यह बात तो उन्हें तपस्या करते करते सूझ पड़ी।

उत्तर--ये लोग किस ध्येय से निकले थे इस बात की ऐतिहासिक मीमांसा करने की यहां ज़रूरत नहीं है। अगर ये जनसेवा के लक्ष्य से नहीं निकले थे तो तीर्थ-रचना के प्रयत्न के पहिले तक संन्यास-योगी थे। अगर जन-सेवा के ध्येय से इनने गृहत्याग किया था तो गृह--त्यागके बाद से ही ये कर्मयोगी थे। जैसे युद्ध करना और युद्ध की सामग्री एकत्रित करना एक ही कार्यधारा है उसी प्रकार कर्म करना और कर्म-साधना करना दोनों की एक ही धारा है।

प्रश्न--म. महावीर और म. बुद्ध ने तो तीर्थ रचना की इसलिये उन्हें कर्मयोगी कहा जाय तो ठीक है पर उनके सैकड़ों शिष्य जो गृहत्याग करते थे उन्हें संन्यास-योगी कहा जाय या कर्मयोगी।

उत्तर--उन में योगी कितने थे यह कहना कठिन है पर उन में जितने योगी थे उन योगियों में अधिकांश कर्मयोगी थे। म. महावीर के शिष्य एक सत्य तीर्थ के प्रचार के लिये स्वयंसेवक बने थे। शान्ति और क्रान्ति का संगठन करने के लिये वे दीक्षित हुए थे, दुनिया से हटकर एकान्त-सेवन के लिये नहीं, इसलिये वे संन्यास योगी नहीं कहे जा सकते कर्मयोगी ही कहे जा सकते हैं। हां, उन में ऐसे व्यक्ति भी हो सकते हैं जो सिर्फ़ आत्मशान्ति के लिये म. महावीर के संघ में आये थे, जनसेवा जिनके लिये गौण बात थी वे संन्यास-योगी कहे जा सकते हैं।

प्रश्न--जिस व्यक्ति ने कुल कुटुम्ब या धन पैसे का त्याग कर दिया ऐसा त्यागी वास्तव में संन्यासी ही है, वह जनसेवा करे तो भी उसे कर्मयोगी कैसे कह सकते हैं, कर्मयोगी तो गृहस्थ ही हो सकता है।

उत्तर--कर्मयोग ऐसा संकुचित नहीं है कि वह किसी आश्रम की सीमा में रुक जाय। जहां जीवन की जिम्मेदारियों को पूरा किया जाता हो और समाज के प्रति अपने दायित्व पर उपेक्षा नहीं की जाती हो वहां कर्मयोग ही है। फिर वह व्यक्ति चाहे गृहस्थ हो या संन्यासी। जो गृह-कुटुंब का त्याग विश्व-सेवाके लिये करते हैं वे गृहस्थ कहलायें या न कहलायें वे कर्मयोगी हैं। गृह कुटुंब के त्याग से तो उनने सिर्फ़ इतना ही साबित किया है कि उनके कौटुंबिक स्वार्थ अब संकुचित नहीं हैं। उनकी कुटुंब सेवा की शक्ति भी अब विश्व-सेवा में लगेगी। इस प्रकार कर्म करने के रंग ढंग बदल लेने से किसी की कर्मयोगिता घट नहीं जाती।

प्रश्न--कर्मयोगियों की नामावलि में महात्मा कृष्ण राजर्षि जनक आदि गृहस्थों के नाम ही क्यों आते हैं?

उत्तर--इसलिये कि कर्मयोग की कठिन परीक्षा यहीं होती है और उसका व्यापक रूप भी यहीं दिखाई देता है। कर्मयोगी बनने में संन्यासी को जितनी सुविधा है उतनी गृहस्थ को नहीं। संन्यासी का स्थान साधारण समाज की दृष्टि में स्वभाव से ऊँचा रहता है इसलिये मान अपमान और लाभालाभ से उसका गौरव नष्ट

नहीं होता । कुछ शारीरिक असुविधाएँ ही उसे उठाना पड़ती है पर समाज की दृष्टि में वे भी उसके लिये भूषण होतीं हैं। लेकिन गृहस्थ को यह सुविधा नहीं होती । गृहस्थ-योगी को योगी की सारी जिम्मेदारियाँ तो उठाना ही पड़ती हैं साथ ही समाज के द्वारा अयोगी को मिलने वाली जितनी विपत्तियाँ हैं वे सब भी सहना पड़ती हैं इसलिये संन्यासी की अपेक्षा गृहस्थ को योगी बनने में अधिक कठिनाई हैं। फिर संन्यासी समाज के लिये कुछ न कुछ बोझल होता है इसलिये भी सब के अनुकरणीय नहीं है। अगर गृहस्थ-रूप में सारा जगत कर्मयोगी हो जाय तो जगत स्वर्गकी कल्पना से भी अच्छा बन जाय परन्तु अगर सब संन्यासी हो जाँयँ तो जगत तीन दिन भी न चले इसलिये संन्यासी समाज के लिये अनुकरणीय भी नहीं है। संन्यासी की सेवाएँ इकरंगी होतीं हैं जब कि गृहस्थ की सेवाएँ नाना तरह की होतीं हैं इसलिये कर्मयोग का व्यापक और उच्च रूप गृहस्थ में दिखाई देता है, संन्यास में नहीं ।

आदर्श कर्मयोगी गृहस्थ होगा संन्यासी नहीं। इन सब कारणों से कर्मयोगियों की नाम-माला में गृहस्थ योगी ही मुख्य-रूप में बताये जाते हैं। खैर, प्रसिद्धि, व्यापकता आदि की दृष्टि से किसी का भी नाम लिया जाय परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि संन्यासी, कर्मयोगी नहीं होते हैं। कभी कभी असाधारण जनसेवा के लिये संन्यास लेना अनिवार्य हो जाता है उस समय संन्यासी-कर्मयोगी बनना ही उचित है। जैसे म. महावीर, म. बुद्ध म., ईसा आदि बने थे।

सारस्वत-योग

सरस्वती की उपासना में लीन होकर आत्म-संतोष की मुख्यता से निष्पाप जीवन बनाना सारस्वत-योग है। यह भी भक्ति की तरह ध्यान-योग है क्योंकि इसमें कर्म की प्रधानता नहीं है। पुस्तकें पढ़ने में तथा अनेक तरह के अनुभव एकत्रित करने में जो सेवा-हीन शान्तिमय निष्पाप जीवन बिताते हैं वे सारस्वत योगी हैं।

प्रश्न—सरस्वती की उपासना तो एक प्रकार की भक्ति कहलाई इसलिये इसे भक्तियोग ही क्यों न कहा जाय ?

उत्तर—सरस्वती की मूर्ति चित्र या कोई स्मारक रख कर अथवा बिना किसी स्मारक के सरस्वती का गुणगान किया जाय तो यह भक्ति-योग कहा जा सकेगा परन्तु सारस्वत-योग का यह मतलब नहीं है। वहां सरस्वती की उपासना का मतलब है ज्ञान का उपार्जन करना और ज्ञान-प्राप्ति में ही आनन्दित रहना । इस प्रकार पवित्र जीवन बिताने वाला विद्या-व्यसनी सार-स्वत योगी है।

प्रश्न—विद्योपार्जन करना ग्रंथ-निर्माण करना कविता वगैरह बनाना भी एक बड़ी समाज-सेवा है इसलिये विद्याव्यसनी को कर्मयोगी कहना चाहिये । सारस्वत-योग एक तरह का कर्म-योग ही है।

उत्तर—सरस्वती की उपासना अगर जगत की सेवा के लिये है तब तो वह कर्मयोग ही है अगर वह निवृत्तिमय जीवन बिताने का एक तरीका ही है तो वह कर्मयोग नहीं है इसलिये उसे अलग नाम देना उचित है।

प्रश्न–विद्याव्यसन के समान और भी निर्दोष व्यसन हैं इसलिये उनका अवलम्बन लेकर योग साधन करने वाले योगियों का भी अलग उल्लेख होना चाहिये। एक आदमी प्राचीन स्थानों के दर्शनों में पवित्र जीवन बिताता है कोई पुरानी खोज में लगा रहता है इन को किस में शामिल किया जायगा ?

उत्तर––देशाटन यदि जनसेवा के लिये है तो कर्मयोग है, अगर सिर्फ नये नये अनुभवों का आनन्द लेने को है तो सारस्वत योग है। प्राचीन चीज़ों की खोज जनहित के लिये है तो कर्मयोग है सिर्फ आत्म-संतुष्टि के लिये है तो सारस्वत-योग है। कविता आदि के विषय में भी यही बात समझना चाहिये।

प्रश्न––सारस्वत योग को संन्यास-योग क्यों न कहा जाय ? दुनियादारी को भूलकर अध्ययन आदि में ही लीन हो जाना एक तरह का संन्यास ही है।

उत्तर––एक तरह का संन्यास तो भक्ति-योग भी है। सभी ध्यान योग एक तरह के संन्यास हैं फिर भी ध्यान योग के जो तीन भेद किये गये हैं वे ऐसे निमित्तों के भेद से किये गये हैं जो कि पवित्र और निर्द्वंद जीवन में सहायक हैं। भक्ति और तप के समान विद्या भी निर्दोष जीवन में सहायक है इसलिये उसका अलग योग बतलाया गया।

प्रश्न––ध्यान-योग में काम-योग क्यों नहीं माना गया ?

उत्तर––योग के साथ कोई नाम तभी लगाया जा सकता है जब वह जीवन-चर्या का प्रधान अंग बन जाय काम यदि जीवनचर्या का प्रधान अंग बन जाय तो जीवन इतना पवित्र न रह जायगा कि उसे योगी जीवन कहा जा सके।

प्रश्न–काम भी तो एक पुरुषार्थ है अगर वह जीवन चर्या का मुख्य अंग बन जाय तो पवित्रता क्यों नष्ट हो जायगी ?

उत्तर––काम, मोक्ष की तरह अपने में पूर्ण नहीं है उसका असर दूसरों पर अधिक पड़ता है। बल्कि अधिकांशतः अपना काम दूसरों के काम में बाधक हो जाता है ऐसी हालत में काम-प्रधान जीवन पर-विघातक हुए बिना नहीं रह सकता। काम को पवित्र जीवन में स्थान है पर धर्म अर्थ और मोक्ष के साथ अकेला काम-हिंसक और पापमय हो जायगा। इसलिये काम-योग नाम का भेद नहीं बनाया जा सकता। योगी के पास काम रहता है और पर्याप्त मात्रा में रहता है पर वह भक्ति तप विद्या आदि की तरह प्रधानता नहीं पाने पाता। अन्य पुरुषार्थों के साथ रहता है ऐसी हालत में योगी काम-योगी नहीं किन्तु कर्मयोगी बन जाता है।

प्रश्न–चित्र संगीत आदि काम के किसी ऐसे रूप को-जो विघातक नहीं है-अपनाकर पवित्र जीवन बितानेवाला योगी किस नाम से पुकारा जाय ?

उत्तर–कलाओं की शुद्ध उपासना में ईश्वर के साथ, और ईश्वर न मानते हों तो प्रकृति के साथ तन्मयता होती है इसलिये साधारणतः कलोपासक योगी, भक्ति-योगी है। अगर कलोपासना में नये नये विचार और अनुभवों का आनन्द मिलता है तो वह सरस्वती की उपासना हो जाती है जैसे कविता कला। ऐसा आदमी अगर योगी हो तो सारस्वत योगी होगा। यदि उसका कला-प्रेम लोकहित के काम में आता होगा तो वह कर्मयोगी बन जायगा।

प्रश्न--यदि विद्या, कला आदि आराम के कार्मों-से मनुष्य कर्मयोगी कहला सकता है तो समाज सेवा के लिये सर्वस्व देने वाले, उसके कल्याण के लिये दिनरात चोटें खाने वाले क्या कहलायँगे ? और जो लोग समाजहित की पर्वाह नहीं करते उनको भी आप योगी कहें-तो यह भी अंधेर ही है ?

उत्तर--योगी के जो चार भेद बताये गये हैं वे रूप-भेद हैं, श्रेणी-भेद नहीं, प्रत्येक योग के पालन में तरतमता होती है । कर्मयोगी हजारों हो सकते हैं पर वे सब बराबर होंगे यह बात नहीं है । इसलिये विद्या, कला आदि के साथ कर्मयोगी बननेवाले और सर्वस्व देकर क्रान्ति करके कर्मयोगी बननेवाले समान नहीं हैं । उनका मूल्य तो योग्यता, त्याग और फलपर निर्भर है । इसलिये अधिक सेवा का महत्व नष्ट नहीं होता । इसके अतिरिक्त एक बात यह भी न भूल जाना चाहिये कि भक्ति करने से ही कोई भक्ति-योगी नहीं हो जाता, न विद्या कला से सारस्वत-योगी, न गृह-त्याग से संन्यास-योगी और न कर्म करने से कर्मयोगी । ये काम तो हर एक आदमी करता ही रहता है पर इन कामों के करते हुए योगी होना बात दूसरी है । योगी होने के लिये निष्पाप जीवन तत्वदर्शीपन और समभाव आवश्यक है । रही समाजहित की बात, सो समाजहित अपनी भीतरी और बाहिरी परिस्थिति पर निर्भर है । कभी कभी इच्छा रहते हुए भी समाजहित नहीं हो पाता ऐसी हालत में समाज का अहित न किया जाय यही काफी है । ध्यान-योगी कम से कम इतना तो करते ही हैं । अगर किसी कारण वे समाजहित नहीं कर पाते तो उनका स्थान समाजहितकारियों-कर्मयोगियों से नीचा रहेगा पर वे अपनी आत्मशुद्धि के कारण योगी अवश्य कहलायँगे ।

इन तीनों प्रकार के योगों में कर्म की प्रधानता नहीं है किन्तु एकाग्र मनोवृत्ति की प्रधानता है इसलिये ये तीनों ध्यान योग हैं ।

कर्मयोग

समाज के प्रति शक्त्यनुसार उचित कर्तव्य करते हुए भीतर से पूर्ण समभावी रहकर निष्पाप जीवन बिताना **कर्मयोग** है । चारों योगों में कर्मयोग श्रेष्ठ और व्यापक है । ध्यान योग तो एक तरह से अपवाद है पर कर्मयोग सब के लिये है । ध्यानयोगी अगर बहुत अधिक हो जाँयँ तो समाज उनके बोझ से परेशान हो जाय पर कर्मयोगी सारा संसार हो जाय तो भी परेशानी नहीं होगी ।

प्रश्न--म. महावीर म. बुद्ध आदि गृहत्यागियों और भिक्षाजीवियों को भी आप कर्मयोगी कहते हैं अगर ऐसे कर्मयोगी अधिक हो जाँयँ तो समाज के ऊपर उनका भी बोझ हो जायगा फिर ध्यान योग में ही बोझ होने की सम्भावना क्यों ?

उत्तर--गृह त्यागी कर्मयोगी अगर मर्यादा से अर्थात्-आवश्यकता से अधिक हो जाँयँगे तो कर्मयोगी ही न रह जाँयँगे । क्योंकि कर्मयोगी तो उचित और आवश्यक कर्म करता है । अब अगर किसी कर्म की समाज को आवश्यकता नहीं है अथवा आवश्यकता जितनी है उसकी पूर्ति अधिक हो रही है इसलिये अधिक पूर्ति करने वाले बोझ हो रहे हैं तो ऐसी अवस्था में वे बोझ बनने वाले कर्म करते हुए भी कर्मयोगी न कहलायेंगे । इसलिये म. महावीर म. बुद्ध आदि के श्रमण संघ में उतने ही श्रमण कर्मयोगी रह

सकते हैं जितने समाज के लिये जरूरी हों। और उस आवश्यकता के कारण समाज पर बोझ न बन सकें।

प्रश्न--उस आवश्यकता का निर्णय कौन करेगा?

उत्तर--आवश्यकता का निर्णय कर्मयोगी की सदसद्विवेक बुद्धि करेगी क्योंकि क्रान्तिकारी कर्म योगियों की सेवा का मूल्य समाज समझ नहीं पाता। उनके जीवन-काल में वह उन्हें सताता ही रहता है और उनके जाने के बाद वह उनकी पूजा करता है। क्या धर्म क्या समाज क्या राजनीति सब में प्रायः सब महापुरुषों के जीवन ऐसी परिस्थिति में से गुजरे हैं। इसलिये बहुत सी आवश्यकताओं का निर्णय उस समाज-सेवी को ही करना पड़ता है।

प्रश्न--ऐसी हालत में हरएक निकम्मा कर्मयोगी बन जायगा। दुनिया माने या न माने, आवश्यकता हो या न हो पर वह अपनी सेवा की उपयोगिता के गीत गाता ही रहेगा। व्यर्थ गाल बजाने को या कागज़ काला करने को सेवा कहेगा कदाचित् अपना वेष दिखाने को भी वह सेवा कहे। नाटक के पात्र अगर नाना वेष दिखा कर समाज का मनोरंजन आदि करते हैं तो वह साधु-वेष से कुछ न कुछ रंजन करेगा और उसको महान सेवा कहेगा। इस प्रकार कर्मयोग की तो दुर्दशा हो जायेगी।

उत्तर--सेवा की आवश्यकता का निर्णय विवेक से होगा इसलिये हरएक निकम्मा कर्मयोगी न बन जायगा हाँ, वह कह सकेगा। सो कहा करे उसके कहने से हम उसे कर्मयोगी मानलें ऐसी विवशता तो है नहीं। किसी भी तरह के योगी का बोझ उठाने के लिये हम बँधे नहीं हैं फिर कर्मयोगी के लिये तो हम और भी अधिक निश्चिंत हैं। कर्मयोगी तो अपना मार्ग आप बना लेता है। समाज उसका अपमान करे उपेक्षा करे तो भी वह भीतर मुसकराता ही रहता है वह अपनी पूजा कराने के लिये आतुर नहीं होता। निकम्मे और दंभी अपने को कर्मयोगी भले ही कहें पर विपत्तियों के सामने भीतर की मुसकराहट उन में न होगी और वे इस परमानन्द से वंचित ही रहेंगे। इस प्रकार चाहे वे कागज़ काला करें, चाहे गाल बजायें चाहे रूप दिखावें, अगर वे कर्मयोगी नहीं हैं तो उसका आनन्द उन्हें न मिलेगा। और दुनिया तो सच्चे कर्मयोगियों को भी नहीं मानती रही है फिर इन्हें मानने के लिये उसे कौन विवश कर सकता है? मतलब यह है कि अपनी समाज-सेवा की आवश्यकता का निर्णय करने का अधिकार तो कर्मयोगी को ही है, इससे वह कर्मयोगी बन जायगा उसका आनन्द उसे मिलेगा और समय आने पर उसका फल भी होगा कदाचित् न हुआ तो इस की वह पर्वाह न करेगा, परन्तु उसे कर्मयोगी मानने न मानने, कहने न कहने का अधिकार समाज को है। दोनों अपने अपने अधिकार का उपयोग करें इसमें कोई बाधा नहीं है।

प्रश्न--कर्मयोगी गृह-त्यागी भी हो सकता है और गृही भी हो सकता है, पर दोनों में अच्छा कौन?

उत्तर--अच्छे तो दोनों हैं पर किसी एक से अधिक अच्छेपन का निर्णय देश काल की परिस्थिति पर निर्भर है। थोड़ी बहुत आवश्यकता तो हर समय दोनों तरह के कर्मयोगियों की रहती

है पर जिस समय जिसकी अधिक आवश्यकता हो उस समय वही अधिक अच्छा। इस प्रकार दोनों प्रकार के कर्मयोगी अपनी अपनी जगह पर अच्छे होने पर भी गृहत्यागी की अपेक्षा गृही कर्मयोगी श्रेष्ठ है। इसके निम्न लिखित कारण हैं।

१—गृहत्यागी का बोझ समाज पर पड़ता है अथवा गृही की अपेक्षा अधिक पड़ता है। गृहत्यागी के बंधन अधिक होने से उसकी आवश्यकता-पूर्ति की नैतिक जिम्मेदारी समाज पर आ पड़ती है।

२—गृहत्यागी के वेष की ओट में जितने दंभ छिप सकते हैं उतने गृही की ओट में नहीं छिप सकते।

३—गृहत्यागी की सेवा का क्षेत्र सीमित रहता है उसको बाहिरी नियम कुछ ऐसे बनाने पड़ते हैं कि उस में बद्ध होने के कारण बहुत सा सेवा-क्षेत्र उसकी गति के बाहर हो जाता है। गृही को यह अड़चन नहीं है।

४—गृहत्यागी समाज को उतना अनुकरणीय नहीं बन पाता जितना गृही बनपाता है। गृहत्यागी की शान्ति क्षमा उदारता आदि देख कर समाज सोचलेता है कि "इनको क्या ? इन को क्या करना धरना पड़ता है कि इनका मन अशान्त बने, घर का बोझ इनके सिर पर होता तब जानते। आसमान में बैठ कर सफ़ाई दिखाने से क्या ? ज़मीन में रहकर सफ़ाई दिखाई जाय तब बात' संकोचवश लोग ये शब्द मुँह से भले ही न निकालें पर उनके मन में ये भाव लहराते रहते हैं इसलिये गृहत्यागी उनके लिये अनुकरणीय नहीं बन पाता। पर गृही के लिये यह बात नहीं है। वह तो साधारण जनता में मिल जाता है उसके विषय में समाज ऐसे भाव नहीं ला सकता या कम से कम उतने तो नहीं ला सकता जितना गृहत्यागी के विषय में ला सकता है। समाज जब उसे अपनी परिस्थिति में देख कर शान्त सदाचारी और सेवामय देखता है तब समाज पर उसके जीवन का अधिक प्रभाव पड़ता है।

५—गृहत्यागी को जीवन की झंझटें कम हो जाती हैं इसलिये उसको अनुभव भी कम मिलने लगते हैं। इन्हीं अनुभवों के आधार पर तो समाज को कुछ ठीक ठीक सीख दी जा सकती है। शान्ति शान्ति चिल्लाने से समाज संगीत का मज़ा लेने की कृपा कर सकती है पर प्रेरणा नहीं ले सकती। प्रेरणा उसे तभी मिलेगी जब उसकी परिस्थिति और योग्यता के अनुसार उसे आचार का पाठ्यक्रम दिया जावेगा और परिस्थिति के अनुसार अपना उदाहरण पेश किया जावेगा। गृहत्यागी गृही की अपेक्षा इस विषय में साधारणतः पीछे ही रहेगा। वैयक्तिक योग्यता की बात दूसरी है और उसकी संभावना दोनों तरफ़ है।

६—गृह-त्याग अस्वाभाविक है क्योंकि सब गृह-त्यागी होजाँयँ तो समाज का नाश हो जाय। पर गृही के विषय में यह बात नहीं है। फिर गृह-त्यागी को किसी न किसी रूप में गृही के आश्रित तो रहना ही पड़ता है। इसमें भी उस की अस्वाभाविकता मालूम होती है।

इस का यह मतलब नहीं है कि गृह-त्यागी से गृही श्रेष्ठ है। साधारणतः समाज-सेवा के लिये घर द्वार छोड़कर जो सच्चे साधु बन जाते हैं वे गृहियों के द्वारा पूजनीय और वंदनीय हैं। विश्व-सेवा के अनुसार मूल्य भी उनका अधिक है।

परन्तु यहाँ तो इतनी बात कही जा रही है कि गृह-त्यागी योगी की अपेक्षा गृही-योगी श्रेष्ठ और अधिक आवश्यक है।

प्रश्न–गृह-वास में योग हो ही कैसे सकता है? घर की झंझटों में किसी गृही का मन ऐसा स्थिर नहीं हो सकता जैसा गृहत्यागी का रहता है। इसलिये जो मन की दृढ़ता, निर्लिप्तता, शुद्धि गृहत्यागी की हो सकती है वह गृही की नहीं हो सकती।

उत्तर–मनः-शुद्धि दोनों जगह हो सकती है पर उसकी ठीक ठीक परीक्षा गृह में ही सम्भव है। झंझटों के छूट जाने से जो स्थिरता दृढ़ता आदि दिखाई देती है वह वास्तविक नहीं है विकार के कारण मिलने पर भी जहां विकार न हो वहीं शुद्धि समझना चाहिये। यों तो शेर भी गुफा में योगी की तरह शान्त पड़ा रहता है पर इससे उसकी अहिंसकता सिद्ध नहीं हो सकती। अहिंसकता सिद्ध हो सकती है तब, जब भूख लगने पर और जानवरों के बीच में स्वतंत्रता से रहने पर भी वह शिकार न करे। चोरी करने का अवसर न मिलने से हम ईमानदार हैं इस बात का कोई मूल्य नहीं। झंझटों के बीच में रहते हुए जो मनुष्य अपने मनको चार आना भी शान्त रखता है वह झंझटों से बचे हुए सोलह आना शान्त मन से श्रेष्ठ है। धूल में पड़े होने के कारण धूसरित होनेवाले हीरे की अपेक्षा वह मिट्टी या पत्थर का टुकड़ा अधिक शुद्ध नहीं है जो स्वच्छ स्थान में रक्खा हुआ है। शुद्धि की परीक्षा के लिये दोनों को एक परिस्थिति में रखना आवश्यक है।

प्रश्न–कर्मयोगी-फिर वह गृही हो या गृह-त्यागी-झंझटों में रहता है। समाज का व्यवहार बिलकुल शान्ति से नहीं चल सकता वहाँ निग्रह अनुग्रह करना ही पड़ता है और क्षोभ भी प्रगट करना पड़ता है। दुनिया के बहुत से प्राणी ऐसे हैं जो क्षोभ से ही किसी बात को समझते हैं, जानवर से यह कहना फिजूल है कि 'आप वहाँ चले जाइये या यों कीजिये' उसे तो लकड़ी या हाथ के द्वारा मारने का ढौंग करना पड़ेगा या मारना पड़ेगा तब वह आपका भाव समझेगा यहां योगी का अक्षोभ कहां रहेगा? बहुत से मनुष्य भी ऐसे होते हैं जिन्हें सीधी तरह रोको तो वे रोकने का महत्त्व ही नहीं समझते, क्रोध प्रगट करने पर ही वे आप का मतलब समझते हैं। गृहवास में जानवरों से या इस तरह का थोड़ा बहुत जानवरपन रखनेवाले मनुष्यों से काम पड़ता ही है, समाज में तो क्षोभ भी भाषा का अंग बना हुआ है ऐसी हालत में योगी अक्षुब्ध या शान्त कैसे रहे? और शान्त न रहे तो वह योगी कैसे?

उत्तर–जहां क्षोभ भाषा का अंग है वहां योगी क्षोभ प्रकट करे तो इसमें बुराई नहीं है। पर क्षोभ के प्रवाह में वह बह न जाय और परा मनोवृत्ति क्षुब्ध न हो जाय। अपरा मनोवृत्ति के क्षुब्ध होने से योगीपन नष्ट नहीं होता। वह निग्रह अनुग्रह करेगा, क्रोध प्रगट करेगा फिर भी परामनोवृत्ति निर्लिप्त रहेगी।

प्रश्न–यह परा और अपरामनोवृत्ति क्या है और इसमें क्या अन्तर है?

उत्तर–इसे ठीक समझने के लिये तो अनुभव ही साधन है। चिह्नों से या दृष्टान्तों से उसका कुछ अंदाज़ लगा सकते हैं। त्रैकालिक या स्थिर मनोवृत्ति को **परा मनोवृत्ति** कहते हैं और क्षणिक या अस्थिर मनोवृत्ति को **अपरा मनोवृत्ति** कहते हैं। जब हम स्मशान में जाते हैं तो एक

तरह का वैराग्य हमारे मन पर छा जाता है जो कि घर आने पर कुछ समय बाद दूर हो जाता है यह वैराग्य अपरामनोवृत्ति का है और जब बुढ़ापे में किसी का जवान बेटा मर जाता है जिसके शोक में वह दिनरात रोया करता है तो यह शोक परा मनोवृत्ति का है। हमारे मन में क्रोध आया परन्तु थोड़ी देर बाद क्रोध की निःसारता का विचार भी आया, जिस पर क्रोध हुआ था उस पर द्वेष न रहा तो कहा जा सकता है कि यहां अपरामनोवृत्ति क्षुब्ध हुई परा नहीं। जैसे नाटक का खिलाड़ी रोते हँसते भी भीतर से न रोता है न हँसता है उसी प्रकार योगी की परा मनोवृत्ति न रोती है न हँसती है। नाटक के खिलाड़ी दो तरह के होते हैं एक तो वे जो सिर्फ़ गाल बजाते हैं, हाथ मटकाते हैं पर मन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। उनकी अपरामनोवृत्ति भी नहीं भींगती वे सफल खिलाड़ी नहीं हैं। सफल खिलाड़ी वही हो सकता है जिसकी अपरामनोवृत्ति भी भींगती है। वह सचमुच रोता है, हँसता है फिर भी इस रोने हँसने के भीतर भी एक स्थायीभाव है जो न रोता है न हँसता है वह सिर्फ़ इतना विचार करता है कि मेरा खेल अच्छा हो रहा है या नहीं। यहीं परामनोवृत्ति है।

प्रश्न—इस प्रकार अपनी परावृत्ति और अपरावृत्ति का भेद समझा जा सकता है पर दूसरे की परावृत्ति और अपरावृत्ति का भेद कैसे समझ में आवे? यों तो हरएक आदमी कहने लगेगा कि मैं परमशान्त हूं, योगी हूं और जो अशांति या कषाय दिख रही है वह अपरावृत्ति की है इस प्रकार योगी-अयोगी में बड़ी गड़बड़ी हो जायगी।

उत्तर-ऐसी गड़बड़ी होना संभव है पर इस गड़बड़ी की परेशानी से बचने के दो उपाय हैं पहिली बात तो यह कि परामनोवृत्ति के विषय में शाब्दिक दुहाई का कोई मूल्य न किया जाय। समाज के प्रति मनुष्य अपनी अपरा मनोवृत्ति के लिये जिम्मेदार है। परामनोवृत्ति का मज़ा उसे लेना है तो लेता रहे, समाज को इससे कोई मतलब नहीं। एक लम्बा समय बीत जाने पर अगर उसकी परावृत्ति की निर्दोषता के सूचक प्रमाण मिलेंगे तब देखा जायगा। दूसरी बात यह कि परा-मनोवृत्ति के सूचक तीन चिह्न हैं उनसे उसकी पहिचान की जा सकती है।

१—न्याय-विनय, २ विस्मृत-वत् व्यवहार ३ पापी-पाप-भेद।

न्याय-विनय—योगी तभी क्रोधादि प्रगट करेगा जब किसी अन्याय का विरोध करना पड़े इसलिये उसमें निष्पक्ष विचारकता तो होना ही चाहिये। वह अपनी गलती समझने और सुधारने को हर समय तैयार रहेगा और पश्चात्ताप भी करेगा। अगर न्याय के सामने वह झुक नहीं सकता तब समझना चाहिये कि उसकी परा-मनोवृत्ति भी दूषित है।

२—**विस्मृत-वत्-व्यवहार**—घटनाके हो जाने पर या उसके फलाफल का कार्य हो जाने पर इस तरह व्यवहार करना मानो वह घटना हुई ही नहीं है, हम वह घटना बिलकुल भूल गये हैं। इस प्रकार का व्यवहार अकषाय वृत्तिका सूचक है। इससे भी परामनोवृत्ति का अक्षोभ मालूम होता है।

प्रश्न—किसी दुर्जन की दुर्जनता के बाद भी हम उसकी दुर्जनता कैसे भूल सकते हैं? अगर भूल जाँय तो हमारी और दूसरों की परेशानी

बढ़ जायगी। इसलिये कम से कम उसकी दुर्जनता का स्मरण करके हमें उससे बचते रहने की कोशिश तो करते ही रहना चाहिये और अगर समाज-व्यवस्था के लिये दंड देना अनिवार्य हो तो दंड भी देना चाहिये विस्मृत-वत्-व्यवहार करने से कैसे चलेगा।

उत्तर--विस्मृत-वत् व्यवहार के लिये घटना का हो जाना ही आवश्यक नहीं है किन्तु उसका फलाफल-कार्य हो जाना भी आवश्यक है। एक चोर ने चोरी की है तो जब तक उसका दंड वह न भोगले तब तक हम उसकी बात नहीं भूल सकते। दंड देने का कार्य हम करेंगे। फिर भी उस पर दया रक्खेंगे, उसको सहज वैरी न बनायेंगे, तथा जब और जहाँ चोरी की बात नहीं है वहाँ उससे प्रेमल व्यवहार रक्खेंगे। मतलब यह है कि सुव्यवस्था रखने के लिये जितना दंड अनिवार्य है उतना तो देंगे लेकिन उस प्रकरण के बाहर उस घटना को भूले हुए के समान व्यवहार करेंगे।

३--**पापी-पाप-भेद**-जिसकी परावृत्ति अक्षुब्ध है वह पाप से घृणा करता है पापी से नहीं। पापी पर वह दया करता है उसे एक तरह का रोगी समझता है। पाप को रोग समझ कर उसे पाप से छुड़ाने की चेष्टा करता है। उसका ध्येय दंड नहीं होता सुधार होता है और दंड भी सुधार का अंग बन जाता है।

प्रश्न--ऐसे पाप या बुराई के लिये, जिसका असर दूसरों पर नहीं पड़ता अर्थात् दूसरों के नैतिक अधिकार को बाधा नहीं पहुँचती अगर अपराधी को दंड न दिया जाय, सिर्फ़ सुधार की दृष्टि से उसकी चिकित्सा ही की जाय तो ठीक है परन्तु उस पर दया करने के लिये दूसरों की क्षति-पूर्ति (मानसिक आर्थिक आदि) न करें तो समाज में बड़ी अव्यवस्था पैदा होगी। सताये हुए लोग न्याय न मिलने के कारण क़ानून को अपने हाथ में ले लेंगे एक खूनी को आप प्राण दंड न देकर सुधार करने के लिये छोड़ दें तो खून करने की भीषणता लोगों के दिल से निकल जायगी इसलिये अपराध बढ़ जाँयगे। दूसरे वे लोग क़ानून को हाथ में लेकर खूनी का या उसके सम्बन्धी का खून करेंगे जिनके आदमी का पहिले खून किया गया है। क़ानून से निराश होकर जब मनुष्य खुद बदला लेने लगता है तब वह बदले की मात्रा भूल जाता है। जितनी ताक़त होती है उतना लेता है। इस प्रकार समाज में अंधाधुंधी मच जायगी। परन्तु अगर खूनी को प्राण-दंड दे दिया जाय तो उसका सुधार कब और कैसे होगा, उस पर हमारी दया कैसे होगी? इस प्रकार पापी और पाप के भेद को जीवन में उतारना योगी को भी असंभव है।

उत्तर--पापी और पाप के भेद का मतलब यह है कि पापी से व्यक्तिगत द्वेष न रखना और उससे बदला लेने की अपेक्षा निष्पाप बनाने का प्रयत्न करना। मूल में तो सभी एक से हैं। परिस्थितियों ने या भीतरी मलने अगर किसी व्यक्ति का पतन कर दिया है, तो हमें उसके पतन पर दयापूर्ण दुःख होना चाहिये न कि द्वेष। पर अधिक सुख की नीति के अनुसार जब व्यक्ति और समाज का प्रश्न आता है तब समाज का अधिकार-रक्षण पहली बात है व्यक्ति का इलाज अगर समाज का नाइलाज बन रहा हो तो हमें व्यक्ति के इलाज पर उपेक्षा करना पड़ेगी। इसीलिये खूनी आदि को प्राणदंड की ज़रूरत है क्योंकि इससे उस व्यक्ति का इलाज भले

ही न हो पर समाज का इलाज होता है। जैसे कभी कभी हमें रोगी को भी प्राणदंड देना पड़ता है वैसे कभी कभी पापीको भी प्राणदंड देना पड़ता है। पागल कुत्ता काटता है और उसके काटने से आदमी मर जाता है, इसमें उस कुत्ते का क्या अपराध है ? फिर भी समाज-रक्षण के लिये उसे प्राणदंड देना पड़ता है। संक्रामक रोगियों से द्वेष न होने पर भी बच कर रहा जाता है। इस प्रकार व्यक्ति-द्वेष न होने पर भी दंडादि व्यवस्था चल सकती है।

इन तीन चिह्नों मे परा-मनोवृत्ति की पहिचान हो सकती है। जिसकी यह परा-मनोवृत्ति क्षुब्ध न हो उसे योगी समझना चाहिये।

प्रश्न--योगी का द्वेष जैसे भीतर से नहीं रहता उसी प्रकार राग भी भीतर से नहीं रहता। ऐसी हालत में योगी किसी से प्रेम भी सच्चा न करेगा। इस प्रकार उसका प्रेम एक प्रकार की वंचना हो जायगा। भक्ति आदि भी इसी प्रकार वंचना बन जायगी तब भक्तियोग असंभव हो जायगा। भक्ति से होनेवाला क्षोभ योगी के भीतरी मन तक कैसे जायगा और जब भक्ति परामनोवृत्ति में है ही नहीं तब उससे योग क्या होगा ?

उत्तर--परामनोवृत्ति अगर प्रेम से न भी भींगी हो तो भी वंचना न होगी। वंचना के लिये तीन बातें ज़रूरी हैं। एक तो यह कि अपरा मनोवृत्ति भी न भींगी हो दूसरी यह कि जो विचार प्रगट किये जाँयँ उनके पालन करने का विचार न हो। तीसरी बात यह कि दूसरे के हिताहित की पर्वाह न करके अपना स्वार्थ सिद्ध-करने की इच्छा हो। योगी का प्रेम ऐसा नहीं होता। म. राम कर्मयोगी थे उनकी परा मनोवृत्ति शान्त थी, अपरा मनोवृत्ति क्षुब्ध होती थी। उनका सीता-प्रेम और रावण-द्वेष ऐसा ही था। फिर भी उनका सीता प्रेम वंचना नहीं था क्योंकि सीता के लिये जान जोखम में डालकर वे रावण से लड़े। यद्यपि वह प्रेम प्रजा-सेवा में बाधा न डाल सका, प्रजा के लिये उन ने सीता का त्याग भी किया, फिर भी उनका सीता-प्रेम फीका न पड़ा, रिवाज़ के अनुसार आवश्यक होने पर भी उनने दूसरी शादी नहीं की-विश्वासघात नहीं किया। इस प्रकार परा मनोवृत्ति शांत थी इसलिये वे सीता का त्याग कर सके पर उनका प्रेम, वंचना नहीं था इसीलिये वे रावण से लड़ सके और जीवन भर सीता के विषय में विश्वासी रहे। परा और अपरा मनोवृत्ति का यह सुंदर दृष्टान्त है। हां, प्रेम परा-मनोवृत्ति में भी पहुँच कर मनुष्य को योगी बना सकता है। इस का कारण यह है कि द्वेष के समान प्रेम अधर्म नहीं है। द्वेष विभाव है प्रेम स्वभाव है क्योंकि यह विश्वसुख-वर्धक है। हां, प्रेम जहां पर अज्ञान या स्वार्थ के साथ मिल कर मोह बन जाता है-विश्वसुख-वर्धन रूप कर्तव्य में बाधक बन जाता है वहां पाप है। भक्तियोगी की भक्ति परा मनोवृत्ति तक जाती है फिर भी उस की परा-मनोवृत्ति दूषित नहीं होती क्योंकि उसकी भक्ति ज्ञान-भक्ति है, स्वार्थभक्ति या अन्धभक्ति नहीं। ज्ञान-भक्ति स्वपर-कल्याण की बाधक नहीं है बल्कि साधक है इससे वह दोष नहीं है जिससे परा-मनोवृत्ति दूषित हो जाय।

प्रश्न--बहुत से लोगों ने तो वीतरागता को ध्येय माना है-प्रेम भक्ति आदि को राग माना है। हां, इन्हें शुभराग माना है फिर भी योगी जीवन के लिये तो यह शुभराग भी बाधक है।

उत्तर—प्रेम और भक्ति भी शुद्ध न्याय आदि में बाधक हो जाते हैं इसलिये वे भी अशुद्ध रूप में हेय हैं। पर शुद्ध प्रेम और शुद्ध भक्ति न्याय या कर्तव्य में बाधक नहीं होते इसलिये वे उपादेय हैं। वीतरागता सिर्फ़ कषायों का अभाव नहीं है, क्योंकि अगर वह अभावरूप ही हो तो वस्तु ही क्या रहे, इस प्रकार की अभावात्मक वीतरागता या अरागता तो मिट्टी पत्थर आदि में भी होती है। मनुष्य की वीतरागता इस प्रकार जड़ता रूप नहीं है वह चैतन्य रूप है, प्रेम रूप है, विश्व-प्रेम रूप है इसलिये वह भाव-रूप है। प्रेम वहीं निंदनीय है जहाँ अपने साथ द्वेष की छाया लगाये रहे। कहा जाता है कि देवों के छाया नहीं होती, यह कल्पना इस रूप में सत्य कही जा सकती है कि योगी अर्थात् दिव्यात्माओं का प्रेम छाया-हीन होता है अर्थात् उनके प्रेम में काली बाजू नहीं होती। अगर योगी लोग प्रेम-हीन हों तो अकर्मण्य हो जाँयँ। म. महावीर म. बुद्ध यदि प्रेम-हीन होते तो जगत् को सुधारने का प्रयत्न ही क्यों करते? वास्तव में ये महान प्रेमी या विश्व-प्रेमी थे इसीलिये परम वीतराग थे। वीतरागता प्रेम के विरुद्ध नहीं है। वह मोह, लोभ, लालच, तृष्णा आदि के विरुद्ध है। भक्ति में भी स्वार्थ-भक्ति और अन्ध-भक्ति वीतरागता के विरुद्ध है ज्ञान-भक्ति नहीं। भक्ति-योगी तो ज्ञान-भक्त होता है।

प्रश्न—कहा जाता है कि म. महावीर के मुख्य शिष्य इन्द्रभूति गौतम म. महावीर के अत्यधिक भक्त थे इसलिये प्रारम्भ में इस भक्ति-वश उनका उत्थान तो हुआ परन्तु आगे इस भक्तिने उनका विकास रोक दिया। जब तक वे भक्त बने रहे तब तक उनने केवलज्ञान न पाया अर्थात् योगी न हुए। इससे मालूम होता है कि भक्ति भी एक तरह का राग है जो वीतरागता में बाधक है।

उत्तर—गौतम कर्म-योगी थे फिर भी जीवन भर म. महावीर के भक्त रहे। केवल ज्ञान हो जाने पर भी वह भक्ति नष्ट न हो गई सिर्फ़ म. महावीर के विषय में जो उनका मोह या आसक्ति थी वह नष्ट हो गई। इस आसक्ति के कारण गौतम में आत्मनिर्भरता का अभाव था, म. महावीर के वियोग में वे दुःखी और निर्बल हो जाते थे केवलज्ञान हो जाने पर यह बात न रही। म. महावीर ने जो जगत् का उपकार किया था उनका उपकार किया था उसे इन्द्रभूति न भूले, जीवन भर उनका गुणगान करते रहे उनके विषय में इन्द्र-भूति का आचरण विनय-युक्त रहा इस प्रकार वे योगी होकर भी उनके भक्त बने रहे।

भक्ति हो गुणानुराग हो कृतज्ञता हो या प्रेम का कोई दूसरा रूप हो जो दूसरों के अधिकार में बाधा नहीं डालता और न कर्तव्य का विरोधी बनाता है वह आत्मशुद्धि या योग का नाशक नहीं है। अपने सम्पर्क में आये हुए लोगों से उचित मात्रा में कुछ विशेष-प्रेम योगी को ख़ास कर कर्मयोगी को होता ही है। गुणानुराग कृतज्ञता दीन-वात्सल्य भी योगी के लिये आवश्यक है।

प्रश्न—योग के भेदों में हठयोग आदि का वर्णन क्यों नहीं किया? इन्हें ध्यान योग कहा जाय या कर्मयोग? ध्यान योग कहा जाय तो भक्ति संन्यास या सारस्वत?

उत्तर—हठ योग आदि का योग-दृष्टि में स्थान नहीं है। हठयोग आदि तो एक तरह की कसरतें हैं जो अपनी भौतिक अवस्थाओं पर विशेष प्रभाव डालती हैं। ऐसा योगी एक

तरह का वेष है। आत्मशुद्धि (संयम आदि) का उससे कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। पर योगदृष्टि में जो योग है वह तो संयम का एक विशाल उत्कर्ष है जिसे पाकर मनुष्य अर्हत्, बुद्ध वीतराग या समभावी बनता है।

प्रश्न—ध्यान-योगी जैसे नाना अवलम्बन लेते हैं जिनके तीन भेद किये गये हैं-भक्ति संन्यास और सारस्वत, उसी प्रकार हठयोग आदि में भी मन एक तरफ़ लगाया जाता है इस लिये ध्यान योग के भेदों में इसका भी एक स्थान होना चाहिये। जैसे सिर्फ़ भक्ति से कोई भक्ति-योगी नहीं होता उसी प्रकार हठयोग आदि से ही आप उसे योगी न मानें पर संयम की सीमा पर पहुंचा हुआ कोई योगी भक्ति आदि की तरह इस भौतिक योग का अवलम्बन ले तो ध्यान योग में एक भेद और क्यों न हो जाय ?

उत्तर—सब तरह के ध्यान योग एक तरह के संन्यास योग हैं। संन्यासी एकाग्रता के लिये कोई न कोई अवलंबन लेता ही है इसलिये हठ-योगी (भौतिक योगी) अगर संयम की दृष्टि से भी योगी-आध्यात्मिक योगी-हो तो वह संन्यास योगी कहलायगा। अगर वह अपनी चित्तवृत्ति को रोक कर किसी विचार, अन्वेषण आदि में स्थिर करता है तो वह सारस्वत-योगी है। इस लिये उसका अलग भेद बनाने की ज़रूरत नहीं है। भक्ति और सारस्वत योग अलग गिनाये इस का कारण यह है कि ये संयम के रास्तेमें आगे बढ़ाने के विशेष साधन हैं। संयम निष्पाप प्रेममय है। उसे मन और बुद्धि दोनों रास्तों से पाया जा सकता है। मन के रास्तेसे जब हम पाते हैं तब भक्ति योग बन जाता है उसमें मन की शक्ति प्रबल हो जाती है। जब बुद्धि के रास्ते से पाते हैं तब सारस्वत योग बन जाता है इस में बुद्धि की शक्ति प्रबल हो जाती है। जब बुद्धि और मन शिथिल होकर समन्वित होते हैं तब संन्यास योग हो जाता है। इसमें विशुद्ध प्रेम, भक्ति की तरह किसी एक जगह गाढ़ा न होकर प्रायः समानरूप में सब जगह फैलकर इतना सूक्ष्म बन जाता है कि उसे विराग कहने लगते हैं। (कर्मयोग में बुद्धि और मन दोनों की शक्ति प्रबल होकर समन्वित होती है) इस प्रकार ये चारों योग मन और बुद्धि के विविध रूपों से बने हैं। इन में व्यायाम का-फिर चाहे उसका नाम योग ही क्यों न हो—कोई स्थान नहीं है।

प्रत्येक प्राणी को योगी बनना चाहिये। ध्यान योगी की आवश्यकता अल्प है कर्मयोगी की आवश्यकता अपरिमित है। विश्व में जितने अधिक कर्मयोगी होंगे विश्व उतना ही अधिक विकसित और सुखी होगा।

दृष्टिकांड पाँचवाँ अध्याय (लक्षण-दृष्टि)

जो योगी बन गया है वही पूर्णसुखी है। पूर्ण सुखी बनने के लिये हरएक आदमी को योगी बनने की चेष्टा करना चाहिये। जो चार तरह के योगी बताये गये हैं उनमें से किसी भी तरह का योगी हो उसमें निम्न--लिखित पाँच चिह्न अवश्य होना चाहिये। अथवा योगी के ये अवश्य होते हैं। १ विवेक (अमूढ़ता) २ धर्म-सम-समभाव ३ जाति-समभाव ४ व्यक्ति-समभाव ५ अवस्था-समभाव

योगी की दो श्रेणियाँ हैं, सिद्ध और साधक। सिद्ध-योगी के पांचों चिह्न पर्याप्त मात्रा-में होते हैं। साधक योगी के सब नहीं रहते या पर्याप्त मात्रा में नहीं रहते। अपूर्णता या अपर्याप्तता की दृष्टि से साधक-योगी की असंख्य श्रेणियाँ हैं पर उन सब श्रेणियों को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं (१) लवसाधक (२) अर्धसाधक (३) बहुसाधक।

लवसाधक अर्थात् एक अंश [प्रथमअंश] विवेक (अमूढ़ता) की साधना करने वाला। उसमें बाकी चार अंशों की साधना नाम मात्र की रहती हैं। अर्धसाधक तीन अंशों की [विवेक, धर्म-समभाव, जाति-समभाव] साधना करनेवाला है, बाकी दो अंशों की साधना गौण है। बहुसाधक पांचों अंशों की साधना करता है पर कहीं कोई त्रुटि रह जाती है। सिद्धयोगी में यह त्रुटि नहीं रहती। जो मनुष्य लवसाधक भी नहीं है उस की मनुष्यता बहुत अंशों में निष्फल है। इसलिये कम से कम लवसाधक तो हरएक को बनना चाहिये।

प्रश्न--विवेक के बिना भी धर्म--समभाव और जाति-समभाव हो सकता है। कोई कोई समाज ऐसे हैं जिन में जाति--पाँति का विचार होता ही नहीं है, वे किसी भी जाति के हाथ का खाते हैं, कहीं भी शादी करते हैं पर विवेकी बिलकुल नहीं होते। रिवाज़ के कारण या अच्छे बुरे की अकल न होने के कारण वे जाति-समभावी या धर्मसमभावी बन गये हैं। वंश--परम्परा से सत्यसमाजी बननेवाला विवेकहीन होकर भी धर्म-जाति-समभावी होगा। ऐसे व्यक्तियों को लवसाधक कहा जाय या अर्ध-साधक ?

उत्तर--विवेकहीन व्यक्ति न तो लवसाधक होता है न अर्धसाधक। वह साधक ही नहीं है।

वंशपरम्परा से कोई प्रमाणित सत्यसमाजी नहीं बन सकता। प्रमाणित वह तभी होगा जब समझदार होने पर समझपूर्वक सत्यसमाज के तत्वों को स्वीकार करेगा। रूढ़ि-वश जो समभावी बनते हैं उनके समभाव का व्यावहारिक मूल्य तो है पर आध्यात्मिक मूल्य बिलकुल नहीं है, वे कोई भी समाजी हों साधक की पहिली श्रेणी में भी नहीं आ सकते। दूसरी बात यह है कि विवेक-हीन अवस्था में उनके भीतर जाति-समभाव या धर्म-समभाव आ भी नहीं सकता। अधिक से अधिक इतना ही होगा कि विषमभाव को प्रगट करनेवाले कुछ कार्य न हों। सब के साथ रोटी बेटी व्यवहार करने पर भी विषमभाव रह सकता है। विषमभाव के चिह्न घृणा और अभिमान हैं। रोटी-बेटी-व्यवहार का बन्धन न होने पर भी राष्ट्र, प्रान्त, रंग आदि के नामपर जातिमद आ सकता है। धार्मिक सम्प्रदायों में समभाव रहने पर भी सामाजिक सम्प्रदायों में रीति रिवाज़ों में विषमभाव आ सकता है। इसलिये जहां विवेक नहीं है वहां वास्तविक समभाव की अति हो जायगी। धर्म-समभाव में धर्म के नाम पर चलते हुए बुरेसे बुरे क्रियाकाण्ड आदि भी वह मानने लगेगा मनुष्य और पशु के बीच जो उचित भेद है वह भी नष्ट हो जायगा इस प्रकार के अति-वादी समभाव से कोई साधक योगी नहीं बन सकता। योगी होने के लिये निरतिवादी समभाव चाहिये जो कि विवेक के बिना नहीं हो सकता। योगी होने के लिये विवेक पहिली शर्त है।

१ विवेक

अच्छे बुरे का--कल्याण अकल्याण का ठीक ठीक निर्णय करना **विवेक है**। एक तरह से पहिले सत्यदृष्टि अध्याय में इसका विवेचन हो गया है। विवेकी में तीन बातें होना चाहिये निःपक्षता, परीक्षकता, और समन्वय-शीलता।

भगवान सत्य के दर्शन करने के लिये इन तीन गुणों की आवश्यकता है। भगवान सत्य के दर्शन हो जाने का अर्थ है विवेकी हो जाना। इसलिये उक्त तीन गुण विवेकी होने के लिये ज़रूरी हैं।

उक्त तीन गुणों के प्राप्त हो जाने पर मनुष्य लव-साधक योगी हो जाता है और किसी भी तरह की मूढ़ता कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय में बाधक नहीं रहती। फिर भी चार तरह की मूढ़ताओं का कुछ स्पष्ट विवेचन करना ज़रूरी है। क्योंकि योगी बनने के लिये इस प्रकार की मूढ़ताओं का त्याग आवश्यक है।

चार मूढ़ताएँ निम्न लिखित हैं--१ गुरु-मूढ़ता २--शास्त्र मूढ़ता, ३--देव-मूढ़ता ४ लोक मूढ़ता।

१--गुरु मूढ़ता--पूर्ण योगी के लिये गुरु की आवश्यकता नहीं होती। शिष्टाचार और कृतज्ञता के कारण वह पूर्व अवस्था के गुरु को गुरु मानता है पर योगी अवस्था में मनुष्य अपना गुरु आप हो जाता है। साधक अवस्था में प्रायः गुरु की आवश्यकता होती है पर अधिकांश लोग गुरु-मूढ़ता के शिकार बनकर गुरु के लाभ से वञ्चित रहते हैं और समाज पर कुगुरुओं का बोझ बढ़ाते हैं।

कल्याण के मार्ग में जो अपने से आगे है और अपने को आगे खींचने का प्रयत्न करता है वह गुरु है। साधुता के बिना कोई सच्चा गुरु नहीं हो सकता साधुता का अर्थ है निःस्वार्थ परोपकार अथवा स्वार्थ से अधिक परोपकार। ऐसा साधु को होना ही चाहिये।

गुरु की तीन श्रेणियाँ हैं--स्वगुरु, संघगुरु

विश्वगुरु। दुनिया के लिये वह कैसा भी हो परन्तु जो हमारा उद्धारक है वह **स्वगुरु है** । परोपकार आदि तो उसमें भी होना चाहिये इतना ही है कि उस का उपकार एक व्यक्ति तक ही सीमित रहता है।

जिसका उपकार किसी एक दल या समाज पर है वह **संघ-गुरु है** । हिन्दू मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध आदि सम्प्रदायों की सेवा करनेवाले गुरु भी संघ-गुरु हैं । इसी प्रकार राष्ट्र, प्रान्त आदि की सेवा करने वाले भी संघ-गुरु हैं ।

प्रश्न--मनुष्य कितना भी शक्तिशाली हो पर वह सारे जगत के प्रत्येक व्यक्ति की सेवा नहीं कर सकता इसलिये बड़ा से बड़ा गुरु भी संघ-गुरु कहलायगा फिर विश्व गुरु भेद किस लिये किया ?

उत्तर--विश्व-गुरु होने के लिये प्रत्येक व्यक्ति की सेवा करने की ज़रूरत नहीं है किन्तु उस उदारता की ज़रूरत है जिस में प्रत्येक व्यक्ति समा सके जिसकी सेवा--नीति मनुष्यमात्र या प्राणिमात्र के कल्याण की हो । फैलने के विशाल साधन न होने से वह थोड़े क्षेत्र में भले ही काम करे पर जिसका मन संकुचित न हो वह विश्व-गुरु है ।

प्रश्न-राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि महात्माओं ने किसी एक जाति या सम्प्रदाय के लिये काम किया था तो इन्हें संघ-गुरु माना जाय या विश्वगुरु ?

उत्तर--विश्वगुरु । क्योंकि इनकी नीति मनुष्यमात्र की सेवा करने की थी । उनने जो सम्प्रदाय भी बनाये वे मनुष्यमात्र की सेवा करने के लिये स्वयंसेवकों के संगठन के समान थे। वे जगत्कल्याण की प्रत्येक बात ग्रहण करने को तैयार थे इन्हें कोई पुरानी परम्परा का या अमुक मानव-समूह का कोई पक्षपात न था। विश्वहित के नियमों को जीवन में उतार कर बताना इनका ध्येय था इसलिये ये विश्व-गुरु थे।

पर इनके बाद जो साम्प्रदायिक लोग इनके अनुयायी कहलाये उनके लिये विश्वहित गौण था अमुक परम्परा या अमुक नाम मुख्य था जिनको अपना मान लिया था उनके लिये वे दूसरों की पर्वाह नहीं करते थे इसलिये वे नेता अधिक से अधिक संघ-गुरु कहे जा सकते हैं, विश्वगुरु नहीं।

प्रश्न--क्या कोई हिन्दू मुसलमान जैन बौद्ध या ईसाई आदि रहकर विश्वगुरु नहीं हो सकता ?

उत्तर--हो सकता है, पर वह हिन्दू या मुसलमान आदि अपने वर्ग के लिये दूसरों का नुक़सान न करेगा । नाम की छाप रहेगी पर काम व्यापक होगा । इसलिये वह विश्वमात्र की सेवा करने की नीति के कारण विश्व-गुरु कहलायगा ।

प्रश्न--इस प्रकार उदारता रखने से ही अगर कोई विश्वगुरु कहलाने लगे तब जिसको पड़ोसी भी नहीं जानता वह भी अपने को विश्व-गुरु कहेगा । विश्व-गुरुत्व बड़ी सस्ती चीज़ हो जायगी।

उत्तर--विश्व-गुरु को पहिले गुरु होना ही चाहिये, वह सिर्फ़ उदार नीति रखता है पर उस नीति पर दूसरों को चलाने की शक्ति नहीं रखता तो वह गुरु ही नहीं है विश्वगुरु क्या होगा ! इस प्रकार उदार और गुरु होने के साथ उसका प्रभाव इतना व्यापक होना चाहिये जो ज़माने को देखते हुए विश्वव्यापी कहा जा सके । जब जाने आने के साधन थोड़े थे, छापाखाना, समाचार-पत्र, तार आदि न होने से मनुष्य अपना प्रभाव बहुत नहीं फैला पाता था तब अरब या मगध में ही प्रभाव फैला सकना विश्वगुरुत्व होने के लिये

पर्याप्त प्रभाव था। आज उतने से काम नहीं चल सकता। आज विश्वगुरु होने के लिये कई राष्ट्रों की जनता पर थोड़ा बहुत प्रभाव चाहिये। कल गृह नक्षत्र आदि में मनुष्य की गति हो जाय तो केवल पृथ्वीपर प्रभाव होने से ही कोई विश्वगुरु न कहलायगा। उसे उससे भी अधिक प्रभाव फैलाना पड़ेगा। इसलिये विश्वगुरु होने के लिये उदार नीति, गुरुत्व और व्यापक प्रभाव चाहिये।

प्रश्न--ऐसा भी देखा गया है कि गुरुत्व और उदारता होने पर भी जीवन में किसी का प्रभाव नहीं फैला और मरने के बाद वह अपेक्षाकृत विश्वव्यापी हो गया। जैसे म. ईसा को लीजिये, उनके जीवन में उनके अनुयायी इनेगिने थे पर आज करोड़ों की संख्या में हैं तो उनका गुरुत्व उनके जीवन-काल की दृष्टि से लगाया जाय या आज की दृष्टि से।

उत्तर--ऐसे व्यक्ति मरने के बाद गुरु नहीं रहते, वे देव-व्यक्तिदेव-बन जाते हैं। यह स्थान विश्वगुरु से भी ऊँचा है। पर मानलो कोई देव नहीं बन सका, वह मनुष्यमात्र का सेवक या गुरु था पर अपने जीवन में नहीं फैला तो भी वह विश्वगुरु कहा जायगा। क्योंकि विश्वगुरु होने का बीज उसके जीवन में था जो कि समय पाकर फल गया। जीवन में फले या जीवन के बाद फले वह विश्वगुरु कहलाया। जो लोग बीज से ही फल का अनुमान कर सकते हैं उस की दृष्टि में वह पहिले ही विश्वगुरु था-बाकी जगत की दृष्टि में फलने पर हो गया।

प्रश्न--इस प्रकार स्वर्गीय लोगों को विश्वगुरु ठहराने से उन्हें क्या लाभ? और अपने को क्या लाभ?

उत्तर--उनको तो कोई लाभ नहीं पर हमें बहुत लाभ है। उनके पद-चिह्नों से हमें कल्याण-मार्ग पर चलने में सुभीता होता है।

प्रश्न--विश्वगुरु तो हर हालत में आवश्यक मालूम होता है पर संघ-गुरु तो कुगुरु है क्योंकि वह अपने संघ की जितनी भलाई करता है उससे अधिक दूसरे संघों की बुराई करता है।

उत्तर--जैसे स्वगुरु का यह अर्थ नहीं हैं कि पर की बुराई करे उसी प्रकार संघगुरु का भी यह अर्थ नहीं है कि वह संघ की बुराई करे। भलाई का सेवा-क्षेत्र परिमित है और बाकी क्षेत्र पर काफ़ी उपेक्षा है यही उसका संघ--गुरुत्व है, पर अगर विश्वका अहित करे तो वह एक प्रकार का कुगुरु हो जायगा। एक आदमी धर्म-मद के वश में होकर जगत की निन्दा करता है, सब को मिथ्यात्वी या नास्तिक बताता है तो वह कुगुरु है।

प्रश्न--पर-निन्दा से अगर गुरु कुगुरु बन जाय तो सत्य-असत्य की परीक्षा करना कठिन हो जायगा क्योंकि असत्य की निंदा करने से आप उसका गुरुत्व छीनते हैं।

उत्तर--असत्य की निंदा करना बुरा नहीं है, निष्पक्ष आलोचना आवश्यक है और कल्याण-कर को कल्याणकर और अकल्याणकर को अकल्याणकर भी कहना ही पड़ता है पर यह कार्य निष्पक्ष आलोचक बन कर करना चाहिये और धर्ममद आदि मद के कारण पर-निन्दा कभी न करना चाहिये।

प्रश्न--निष्पक्षता से क्या मतलब है? हर-एक मनुष्य कुछ न कुछ अपने विचार रखता ही है-आलोचना करते समय वह उन्हें कहाँ फेंक देगा?

उत्तर—अपने विचार होना ही चाहिये पर उनके अनुसार सिर्फ़ मन को ही बनाकर रक्खो जिससे उनके अनुसार काम कर सको। दृढ़ निश्चय होना भी अच्छा है पर मनके समान बुद्धि को भी उनका गुलाम बनाकर मत रक्खो आलोचना करते समय बुद्धिको बिलकुल स्वतंत्र रक्खो, अनुभव और तर्कका निर्णय माननेको तैयार रहो।

प्रश्न--घटना-विशेष पर कभी कभी ऐसा अनुभव होता है कि वह पुराने अनुभवों को नष्ट सा कर देता है। जो जीवनभर हितैषी होने से प्रिय रहा है वह अप्रिय सा मालूम होने लगता है, चिकित्सा के कष्ट से घबरा कर रोगी वैद्य को भी बुरा समझने लगता है। इसी प्रकार कोई कोई विद्वान अपने बुद्धि-वैभव से सत्य को भी असत्य सिद्ध कर देता है, अगर ऐसे समय में बुद्धि को स्वतंत्र छोड़ दिया जाय तो वैद्य को शत्रु मानना पड़ेगा और सत्य को असत्य मानना पड़ेगा।

उत्तर—यह बुद्धि का नहीं मनका दोष है। जिस समय मन क्षुब्ध हो उस समय मनुष्य सत्यासत्य का निर्णय नहीं कर सकता, कम से कम जिस विषय में क्षोभ है उस विषय में नहीं कर सकता या कदाचित् ही कर सकता है। इसलिये रोगी के क्षुब्ध मन के निर्णय का कुछ मूल्य नहीं; रही बुद्धि के विमोहित होने की बात सो विचारणीय विषय जैसा गंभीर हो उसके लिये उतना समय देना चाहिये और निष्पक्ष विचारक के नाम पर इतना कहना चाहिये कि अभी तो इस बात का उत्तर नहीं सूझा है पर कुछ समय बाद भी अगर न सूझेगा-दूसरों से चर्चा करने पर भी अगर न मिलेगा तो अवश्य विचार बदल दूंगा। काफ़ी समय लगाने पर भी अगर अपने विचार परीक्षा में न ठहरें तो मोहवश या मद-वश उनसे चिपके न रहना चाहिये। अगर कोई गुरु ऐसा पक्षपाती है तो वह कुगुरु है। जो स्वयं सत्य को नहीं पा सकता वह दूसरों को कैसे सत्य प्राप्त करायगा और कैसे सत्पथ पर चलायगा?

प्रश्न—कुगुरु किसे कहना चाहिये?

उत्तर—जो गुरु नहीं है किन्तु शब्द-भाषा या मौन-भाषा द्वारा गुरु होने का दावा करता है वह कुगुरु है।

प्रश्न—शब्द-भाषा और मौन-भाषा का क्या मतलब?

उत्तर—शब्दों से बोलकर या किसी प्रकार लिख कर विचार प्रकट करना **शब्द-भाषा** है। तार आदि में जो स्वर-व्यञ्जन-संकेत होते हैं वह भी शब्द-भाषा है पर वेष से या किसी तरह के व्यवहार से अभिप्राय प्रगट करना **मौन-भाषा** है।

किसी भी तरह से जो गुरु होने का दावा करे किन्तु गुरु न हो वह कुगुरु है।

प्रश्न—जो गुरु नहीं है उसे अगुरु कहना चाहिये कुगुरु क्यों?

उत्तर—अगुरु तो प्रायः सभी हैं। पर जो गुरु न होने पर भी गुरु होने का दावा करे वह वंचक है इसलिये कुगुरु है।

प्रश्न—हो सकता है कि कोई गुरु न हो पर अपने से अच्छा हो तो उसे गुरु मानने में क्या बुराई है?

उत्तर—अपने से अच्छा हो तो इतना ही मानना चाहिये कि वह अपने से अच्छा है। अगर वह अच्छापन हमें भी अच्छा बनाने के काम आता हो तो स्वगुरु मानना भी ठीक है पर अमुक आदमी से अच्छा होने के कारण कोई गुरुत्व का दावा करे तब वह कुगुरु ही है। वह अपने से

जितना अच्छा है उतना उसका आदर आदि होना चाहिये पर गुरु मान कर नहीं। खोटा रुपया पैसे की अपेक्षा अधिक क़ीमती होने पर भी बाज़ार में नहीं चलता क्योंकि वह रुपया बन कर चलना चहता है इसी प्रकार अगुरु हमसे सिर्फ़ कुछ अच्छा होने पर जब गुरु बन कर चलना चाहता है तब खोटे रुपये की तरह निंदनीय है।

परन्तु यह भी ख़याल चाहिये कि अच्छेपन की निशानी १ वेष, २ पद, ३ व्यर्थ क्रिया, और ४ व्यर्थ विद्या नहीं है। बहुत से लोग इनको गुरुत्व का चिह्न समझते हैं पर यह गुरु-मूढ़ता का परिणाम है।

नग्नता, पीले वस्त्र, सफ़ेद वस्त्र, भगवाँ वस्त्र, जटा, मुँहपत्ति आदि अनेक तरह के जो साधुवेष हैं उन्हें गुरुता का या साधुता का चिह्न न समझना चाहिये। वेष तो सिर्फ़ अमुक संस्था के प्रमाणित या अप्रमाणित सदस्य होने की निशानी है पर किसी संस्था के सदस्य हो जाने से गुरुत्व या साधुता नहीं आती।

प्रश्न--दुनिया के बहुत से काम वेष से ही चलते हैं। ख़ास कर अपरिचित जगह में कौन मनुष्य कितना आदरणीय है इसका निर्णय उसके वेष से ही करना पड़ता है।

उत्तर--वेष के ऊपर पूर्ण उपेक्षा करने की आवश्यकता नहीं है किन्तु उसकी उपयोगिता मामुली शिष्टाचार तक ही रहना चाहिये। विनय के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। शिष्टाचार में भी साधुता या अन्य गुणों की अवहेलना न होना चाहिये। उदाहरणार्थ एक समाज--सेवी विद्वान या श्रीमान है, इतने में एक साधुवेषी जैनमुनि, बौद्ध श्रमण, हिन्दू संन्यासी, पादरी या फ़क़ीर आया तो जबतक उसके विशेष गुणों का परिचय नहीं मिला है तबतक वह एक सभ्य गृहस्थ के समान आदर पायगा। बाद में परिचय होने पर उस समाजसेवी की अपेक्षा साधुवेषी की सेवा आदि जैसी कम--ज्यादा होगी उसके अनुसार आदर पायगा।

प्रश्न--वेष की उपयोगिता कहाँ तक है नियत वेष रखना चाहिये या नहीं? सब को कैसा वेष रखना चाहिये?

उत्तर--वेष भी एक तरह की भाषा है इस लिये अपने व्यक्तित्व का परिचय इस मौन भाषा में दिया जाता है। पर भाषा तो यही बता सकती है कि यह आदमी यह बात प्रगट करना चाहता है यह बात इसमें है ही ऐसा नियम तो है नहीं इसलिये जैसे कहने मात्र से हम किसी को साधु या महापुरुष नहीं मान लेते—उसके अन्य कार्यों का विचार करते हैं उसी प्रकार वेष-मात्र से किसी को साधु न मान लेना चाहिये। किसी संस्था की सदस्यता बताने के लिये नियत-वेष भी उचित है फिर भी वेष ऐसा रखना चाहिये जो बीभत्स या भयंकर न हो। नग्न वेष लेकर नगर में घूमना, खोपड़ियाँ पहिनना आदि अनुचित है। साथ ही वेष अपनी सुविधा, जलवायु तथा आर्थिक स्थिति के अनुसार होना चाहिये। वेष के द्वारा जनता में भ्रम पैदा न करना चाहिये और न अपने से भिन्न वेष देखकर घृणा। वेष को लेकर साधुता में काफ़ी भ्रम पैदा किया जाता है क्योंकि साधुता सब से अधिक पूज्य और वंदनीय है और गुरुता तो उससे भी अधिक। गुरुता का तो हमारे जीवन की उन्नति-अवनति से बहुतसा सम्बन्ध है, इसलिये इस विषय में

बहुत सतर्क रहने की जरूरत है। सिर्फ़ वेष देख कर किसी को गुरु या साधु न मानना चाहिये।

प्रश्न—जो साधु-संस्था जगत का कल्याण करती हो उसमें अगर धोखे से कोई निर्बल या चालाक आदमी घुस जाय और अपने दोष से उस साधु-संस्था की बदनामी करे तो साधु-संस्था की बदनामी रोकने के लिये उस साधु-वेषी के दोष छिपाये रखना और साधु-संस्था के सन्मान करने के लिये उस साधु का सन्मान करना क्या अनुचित है?

उत्तर—अनुचित है। साधु-संस्था को बदनामी से बचाने के लिये दोषी के दोष दूर करने की या उसे अलग कर देने की ज़रूरत है न कि छिपाने की। छिपाने की नीति से साधु-संस्था बदमाशों का अड्डा बन जाती है और सबसे पवित्र संस्था सबसे अधिक अपवित्र होकर जनता का नाश करती है और साधु-संस्था की बदनामी सदा के लिये हो जाती है। दुराचारी और बदमाश लोगों को उससे अलग कर दिया जाय तो जनतापर इस का अच्छा प्रभाव पड़ता है। जनता समझने लगती है कि इस साधु-संस्था में खराब आदमी की गुजर नहीं है, खराब आदमी यहां से निकाल दिया जाता है। वेष की इज्जत रखना हो तो वेष का दुरुपयोग न करने देना चाहिये। फिर भी यह तो हर हालत में आवश्यक है कि वेष की इज्जत साधुता आदि से अधिक न हो।

वेष के समान पद भी गुरुता की निशानी नहीं है। पद का सम्बन्ध किसी संस्था की व्यवस्था से है—गुरुता से नहीं। आचार्य, पोप खलीफ़ा आदि पद समय-समय पर लोगों ने धर्म-संस्था की व्यवस्था के लिये बनाये थे। हरएक चीज़ का दुरुपयोग होता है—पद का तो कुछ विशेष मात्रा में। फिर भी जो उस संस्था के अंग हैं उन्हें पद का सन्मान रखना चाहिये। उसका दुरुपयोग हो रहा हो या अनावश्यक हो तो भले ही वह नष्ट कर दिया जाय पर व्यवस्था के लिये पद का सन्मान करना उचित है। इतना होने पर भी पद गुरुता की निशानी नहीं है और पद का दुरुपयोग हो रहा हो तो उसको निभाते जाना भी उचित नहीं है। साधक किसी पद के कारण किसी को गुरु नहीं बनाता।

क्रियाकाण्ड भी गुरुता की निशानी नहीं है। एक आदमी अनेक तरह के आसन लगाता है, अनेक बार स्नान करता है या बिलकुल स्नान नहीं करता, धूप में तपता है या अग्नि तपता है, सिर के बाल हाथ से उखाड़ लेता है, घंटों पूजा करता है, जाप जपता है, एकान्त में बैठता है, मौन रखता है या दिन भर नाम आदि जपता रहता है, उपवास करता है या एक ही बार खाता है, अनेक घरों से माँगकर खाता है या एक ही घर में खाता है इत्यादि बहुतसा क्रियाकाण्ड भी गुरुता की निशानी नहीं है। उनमें बहुतसा निरर्थक है, बहुतसा सिर्फ़ व्यायाम के समान उपयोगी है वह भी किसी ख़ास समय के लिये-पर गुरुता की निशानी कोई नहीं है।

क्रियाकाण्ड वही उपयोगी है जिससे जगत की सेवा होती हो, जगत का कुछ लाभ होता हो। किसी तरह से असाधारणता बतला कर लोगों को चमकाना, उनका ध्यान अपनी तरफ़ खींचना और इस प्रकार अपनी पूजा कराना एक प्रकार का दंभ है। इस का गुरुता से कोई सम्बन्ध नहीं। इसलिये गुरुता के लिये

ये व्यर्थ क्रियाकाण्ड हैं ।

कष्ट-सहन भी पर-सेवा में उपयोगी होना चाहिये । निरर्थक कष्ट-सहन का कोई मूल्य नहीं हाय हाय, ये कितना कष्ट सहते हैं अपन तो इतना नहीं सह सकते, ऐसा आश्चर्य निरर्थक कष्ट-सहन के विषय में नहीं करना चाहिये ।

कोई कोई सार्थक क्रियाएं भी होती हैं, जैसे सेवा, विनय आदि । ये साधुता के चिह्न हैं अपने से अधिक मात्रा में हों तो गुरुता के चिह्न बन सकते हैं ।

विद्वत्ता भी गुरुता का चिह्न नहीं है । अनेक भाषाओं का ज्ञान वक्तृत्व, लेखन, कवित्व, धर्म दर्शन इतिहास पदार्थ विज्ञान गणित ज्योतिष आदि का पांडित्य यश और सम्मान की चीज़ है पर इसका गुरुत्व से सम्बन्ध नहीं है । इससे मनुष्य शिक्षक हो सकेगा-गुरु नहीं । गुरुता का सम्बन्ध सदाचार और सेवा से है ।

पर इसका यह मतलब नहीं है कि गुरु में विद्वत्ता न होना चाहिये । विद्वत्ता तो होना चाहिये । भले ही वह विद्वत्ता पुस्तक पढ़कर न आई हो-प्रकृति को पढ़कर आई हो । बिना ज्ञानके गुरुत्व मिल नहीं सकता-न टिक सकता है ।

अपना असली गुरु तो मनुष्य स्वयं है पर हरएक को कल्याण-मार्ग का पूरा परिचय नहीं होता कभी कभी जटिल समस्याएँ आकर किंकर्तव्य-विमूढ़ बना देती हैं, कभी कभी समझते हुए भी खुद पर अंकुश रखना कठिन होता है इसके लिये अधिकांश मनुष्यों को गुरु की आवश्यकता होती है पर गुरु बनाना ही चाहिये-ऐसा कोई नियम नहीं है । जिन में सदसद्विवेक काफ़ी है और मनकी उद्दाम वृत्तियों पर भी अंकुश है उन्हें गुरु की कोई ज़रूरत नहीं । गुरु मिल जाय तो अच्छा, न मिले तो गुरुहीन जीवन अच्छा, पर कुगुरु-सेवा अच्छी नहीं । भूख से आदमी इतनी जल्दी नहीं मरता जितनी जल्दी विष खाकर मरता है । गुरुहीन से कुगुरु-सेवक की हानि कई गुणी है ।

प्रश्न—गुरु का तो नाश ही करना चाहिये । गुरु के होने से गुरुडम फैलता है, धर्म के नाम पर अत्याचार शुरू होते हैं, समाज का बोझ बढ़ता है । आखिर गुरु की ज़रूरत ही क्या है ?

उत्तर—वैज्ञानिक आवश्यकता नहीं है । अमुक आदमी को गुरु मानना ही चाहिये या गुरु का पद होना ही चाहिये यह नियम भी नहीं है । । गुरुडम फैला है वेष और पद को अधिक महत्त्व देने से । सो नहीं देना चाहिये । जब गुरु के योग्य गुण दिखें तभी गुरु मानना चाहिये । हमारे सम्प्रदाय का आचार्य है, मुनि है, अमुक वेष में रहता है इसलिये हमारा गुरु है जब यह नियम टूट जायगा तब गुरुडम न फैल पायगा । गुरुडम शब्द ऐसे गुरुवाद के लिये प्रचलित है जिस में गुरु पद-वेष आदि के कारण भक्तोंपर अनुचित अधिकार रखता है या उस अधिकार का दुरुपयोग करता है, साधुताहीन जीवन बिताता है, छलकर लोगों की सम्पत्ति लूटता है और उससे मौज करता है, उन्हें अन्धश्रद्धालु बनाता है । ऐसे गुरुडम का नाश अवश्य करना चाहिये । पर जहाँ ज्ञान, त्याग, सेवा, विवेक हैं वहाँ गुरुत्व माना जाय तो कोई हानि नहीं है बल्कि लाभ है ।

प्रश्न—लाभ क्या है ?

उत्तर—अज्ञान के कारण कोई अच्छी बात हमारी समझमें नहीं आती तो वह समझाता है,

कुमार्ग में जाने से रोकता है, प्रमाद दूर करता है, साहस देता है, धैर्य की रक्षा करता है, विपत्ति में सहायक होता है और भी जो उचित सेवाएँ हो सकती हैं-करता है।

प्रश्न—गुरु और शिष्य में अन्तिम निर्णय कौन करे ? अगर शिष्य की चलती है तो गुरु गुलाम बन जाता है फिर वह उद्धार क्या करेगा और गुरु की चलती है तो गुरुडम फैलता है।

उत्तर—यह तो राज़ी राज़ी का सौदा है। दोनों अपनी अपनी जगह स्वतन्त्र हैं, शिष्य को गुरु की परीक्षा करने का पूर्ण अधिकार है इसलिये गुरुडम फैलने की बहुत कम सम्भावना है और सच्चा गुरु शिष्य की पर्वाह नहीं करता वह उसके हित की पर्वाह करता है। इसलिये गुरु के गुलाम होने की सम्भावना नहीं है।

प्रश्न—गुरु की परीक्षा कैसे होगी ? जो दोष अपने में हैं उन्हें दूसरे में निकालना कहाँ तक उचित है ?

उत्तर—ईर्षा द्वेष आदि के वश होकर किसी के दोष न निकालना चाहिये पर किसी पर कोई जिम्मेदारी डालना है तो उसमें उस जिम्मेदारी को सँभालने की योग्यता है या नहीं इसकी जाँच तो करना ही चाहिये। हो सकता है कि जो दोष उसमें है वह दोष अपने में उससे अधिक हो और अपने दोषों की संख्या भी अधिक हो फिर भी हम उसके दोष निकालेंगे क्योंकि उससे हमें अमुक योग्यताका काम लेना है, अध्यापक अगर अध्यापक के योग्य नहीं है तो इतने से ही वह संतोष नहीं हो सकता कि विद्यार्थी तो और कम जानता है। गुरु को गुरु के योग्य बनना चाहिये। जो जिस पद पर है उसे उस पद के योग्य बनना ज़रूरी है। इस प्रकार गुरु की पूर्ण परीक्षा कर गुरु-मूढ़ता का हर प्रकार त्याग करना चाहिये। साधक गुरु-मूढ़ता से सदा दूर रहता है।

शास्त्र-मूढता—साधक में शास्त्र-मूढ़ता भी नहीं होती। **परम गुरुओं या गुरुओं के वचन शास्त्र हैं।** जब हम गुरुओं की परीक्षा करते हैं तो शास्त्र की भी परीक्षा करना आवश्यक है।

प्रश्न—गुरुओं की परीक्षा करने से काम चल जाता है फिर शास्त्रों की परीक्षा करने की क्या ज़रूरत है ? खासकर परम गुरुओं के वचनों की परीक्षा करना तो और भी अनावश्यक है।

उत्तर—इसके पांच कारण हैं। १ गुरु-परोक्षता, २ परिस्थिति-परिवर्तन, ३ शब्द-परिवर्तन, ४ अर्थ-परिवर्तन, ५ अविकास।

शास्त्र के समय गुरु या तो स्वर्गीय हो जाते हैं या बहुत दूर हो जाते हैं। जब गुरु नहीं मिलते तब हम उनके बचनों से काम चलाते हैं। ऐसी हालत में गुरु की परीक्षा करने का ठीक ठीक अवसर ही नहीं मिल पाता तब सत्यासत्य की जाँच करने के लिये उनके वचनों की परीक्षा करना आवश्यक है। परम गुरु का मतलब है ऐसा महान विश्वगुरु जो देव कोटि में जा पहुंचा है अर्थात् व्यक्तिदेव। व्यक्तिदेव की भी परीक्षा करना ज़रूरी है क्योंकि ऐसा भी हो सकता है कि अयोग्य व्यक्ति भी कारणवश व्यक्तिदेव मान लिया गया हो। इस प्रकार किसी के भी वचन हों उनकी यथासम्भव जाँच तो होना ही चाहिये। परोक्ष होने के कारण गुरु की जाँच नहीं हो सकती तो उसके वचन की जाँच आवश्यक है।

परिस्थिति के बदलने से भी शास्त्र की बहुत सी बातें अग्राह्य हो जातीं हैं। जो बात एक समय के लिये जनकल्याणकर होती है वही दूसरे समय के लिये हानिकर या अनावश्यक हो जाती है। इस में शास्त्र का दोष नहीं है यह प्रकृति का ही परिणाम है। उस परिस्थिति के विचार से भी शास्त्र की परीक्षा अवश्यक है।

याद रखने में या कागज़ आदि पर नकल करने या छापने में शास्त्रों के शब्द बदल जाते हैं इस प्रकार शास्त्र ज्यों के त्यों नहीं रह पाते इसलिये शास्त्र की परीक्षा आवश्यक है।

कभी कभी शब्द तो नहीं बदलते पर अर्थ बदल जाता है। कुछ तो बहुत समय बीत जाने से शब्दों का वास्तविक अर्थ मालूम नहीं रहता जैसा कि वेदों के विषय में है। और कुछ लक्षण व्यंजना आदि से अर्थ बदल दिया जाता है। यही कारण है कि एक ही पाठ के नाना अर्थ हो जाते हैं और उन अर्थों के सम्प्रदाय भी चल जाते हैं इसलिये भी शास्त्र की परीक्षा आवश्यक है।

शास्त्रकार--फिर वे गुरु या परम गुरु कोई भी हों—ऐसे सर्वज्ञ नहीं हो सकते कि जिनके ज्ञान को ज्ञान की सीमा कहा जा सके। ऐसा सर्वज्ञ कोई भी नहीं हो सकता। वह अपने ज़माने के अनुरूप महान ज्ञानी हो सकता है। पर उसके बाद जगत में ज्ञान की वृद्धि स्वाभाविक है। संयम का विकास भले ही न हो पर ज्ञान का विकास सहज ही होता है और हो रहा है। इसलिये शास्त्रों में ऐसी बहुत सी बातें आ जातीं हैं जो आज तथ्यशून्य कही जा सकतीं हैं। इस में शास्त्रकारों का अपराध नहीं होता क्यों कि उनने तो अपने ज़माने में जितना तथ्य मिल सकता था उतना तथ्य लिख दिया। अब आज अगर ज्ञान का विकास हो जाने से पुरानी मान्यताएं अतथ्य हो गईं हैं तो उन्हें बदल देना चाहिये। शास्त्रकार जितना कर सकते थे किया, अब हमें कुछ आगे बढ़ना चाहिये और शास्त्रकारों ने जितनी सामग्री दी उसके लिये उनका कृतज्ञ होना चाहिये और कृतज्ञतापूर्वक उनके वचनों की परीक्षा करना चाहिये।

जहां परीक्षकता है वहां शास्त्र-मूढ़ता नहीं रहती, परीक्षकता के विषय में और शास्त्र के उपयोग के विषय में पहिले अध्याय में जो कुछ लिखा गया है उस पर ध्यान देने से और उसे जीवन में उतारने से शास्त्र-मूढ़ता दूर हो जाती है फिर भी स्पष्टता के लिये कुछ कहना ज़रूरी है।

शास्त्र मूढ़ता के कारण नाना तरह के मोह हैं। १ स्वत्वमोह, २ प्राचीनता-मोह, ३ भाषा-मोह ४ वेष-मोह आदि।

अपने सम्प्रदाय के, जाति के, प्रान्त के और देश के आदमी की बनाई यह पुस्तक है इसलिये सत्य है यह स्वत्व-मोह है। स्वर्गीय विद्वान की बनाई यह पुस्तक है इसलिये सत्य है यह प्राचीनता-मोह है। यह पुस्तक संस्कृत प्राकृत अरबी फारसी लेटिन भाषा की है इसलिये सत्य है यह भाषा-मोह है। यह पुस्तक जिसने बनाई है वह संन्यासी था मुनि था फकीर था इसलिये सत्य है यह वेष-मोह है। ये सब मोह शास्त्र-मूढ़ता के चिह्न हैं। बहुत से लोग किसी पुस्तक को इसीलिये शास्त्र कह देते हैं कि वह पुस्तक संस्कृत आदि किसी प्राचीन भाषा में बनी है, अपने सम्प्रदाय की है और बनाने वाला मर गया है यह मान्यता शास्त्र-मूढ़ता का परिणाम है। इस प्रकार शास्त्रमूढ़ता के और भी रूप हैं उन सब

का त्याग करना चाहिये और शास्त्र की यथा-साध्य परीक्षा करके उसका उपयोग करना चाहिये।

प्रश्न—परीक्षा करके ही अगर शास्त्र माने जाँय तो शास्त्र की उपयोगिता ही नष्ट हो जायगी शास्त्र की परीक्षा का अर्थ है उसमें लिखे हुए विषयों की परीक्षा। जिज्ञासु उनकी परीक्षा कैसे करे? जाने तो परीक्षा करे परीक्षा करे तो जाने, फिर पहिले क्या हो?

उत्तर—यहाँ एक तीसरी चीज़ भी है-मानना। पहिले जाने, फिर अपने अनुभव तथा अन्य ज्ञान के आधार से परीक्षा करे फिर माने। परीक्षा करके मानने की ज़रूरत है—जानने की नहीं। जानना तो पहिले भी हो सकता है।

प्रश्न—जो शास्त्र की परीक्षा कर सकता है उसे शास्त्र की ज़रूरत क्या है? जिस बुद्धि-वैभव से वह शास्त्र की परीक्षा कर सकता है उसी से वह शास्त्र में वर्णित विषय क्यों न जाने?

उत्तर—परीक्षा में उतने बुद्धि-विभव की ज़रूरत नहीं होती जितनी शास्त्र के निर्माण में। निर्माता को अप्राप्त वस्तु प्राप्त करना पड़ती है, परीक्षक को प्राप्त वस्तु की सिर्फ़ जाँच करना पड़ती है। प्राप्त वस्तु को जाँचना सरल है पर उसका निर्माण या अर्जन कठिन है इसलिये हर एक आदमी शास्त्र-निर्माता नहीं हो सकता पर परीक्षक हो सकता है।

प्रश्न—परीक्षक बनने के लिये कुछ विशेष ज्ञान की आवश्यकता है पर बिना परीक्षा किये किसी की कोई बात मानना ही न चाहिये ऐसी हालत में विशेष ज्ञान कैसे मिलेगा? बालक का भी कर्तव्य होगा कि वह माँ बाप की बात परीक्षा करके माने, इतना ही नहीं किन्तु माँ बाप की भी परीक्षा करे? जब सरस्वती माता की परीक्षा की जाती है, गुरु की परीक्षा की जाती है तब माँ बाप की परीक्षा क्यों नहीं? पर इस प्रकार परीक्षकताऽद्वैत से क्या जगत का काम चल सकता है?

उत्तर—दुनिया दुरंगी है, भीतर कुछ और तथा बाहर कुछ और इसलिये परीक्षक बने बिना मनुष्य की गुजर नहीं हो सकती? पर मनुष्य जन्म से विश्वासी होता है, दूसरों से वञ्चित होने पर वह परीक्षक बनना सीखता है। इस प्रकार के अनुभव ज्यों ज्यों बढ़ते जाते हैं त्यों त्यों मनुष्य परीक्षक बनता जाता है और जहाँ परीक्षक नहीं बन पाता वहां विश्वास से काम लेता है। मनुष्य का जीवन व्यवहार विश्वास और परीक्षा के समन्वय से चलता है जहां अपनी गति हो वहां परीक्षा करना चाहिये, बालक माँ बाप की बात की परीक्षा करते हैं और माँ बाप की भी परीक्षा करते हैं। जब बालक माँ बाप की बात का भी विश्वास नहीं करता है तब समझना चाहिये कि उसमें परीक्षकता है। हरएक आदमी को माँ बाप नहीं कहता, विशेष आकृति स्वर आदि से माँ बाप को पहिचानता है—यह माँ बाप की परीक्षा है। जैसी उसकी योग्यता है वैसी परीक्षकता है। प्रारंभिक शिक्षण में विश्वास से काम लेना ही पड़ता है और परीक्षकता का उपयोग भी कुछ नियमों के अनुसार करना पड़ता है। परीक्षा करने में तीन बातों का विचार करना चाहिये:—

१ वस्तु का मूल्य २ परीक्षा की दुस्साध्यता की मात्रा, ३ परीक्षा न करने से लाभ-हानि की मर्यादा।

१ सोना चाँदी आदि की जितनी परीक्षा की जाती है उतनी साधारण पत्थरों की नहीं। उसी प्रकार गुरु शास्त्र देव आदि की जितनी परीक्षा की जाती है उतनी अन्य सम्बंधियों की नहीं, क्योंकि गुरु शास्त्र आदि पर लोक-परलोक का कल्याण निर्भर है।

२ शास्त्र गुरु आदि की परीक्षा जितनी सुसम्भव है उतनी माता पिता आदि की नहीं। सम्भव है माता पिता कहलानेवाले माता पिता न हों कुछ संकरता हो, शैशव में उनने अपना लिया हो, तो हमारे पास ऐसे चिह्न नहीं है कि उनकी ठीक ठीक जाँच कर सकें। इस लिये माता पिता की असलियत की जाँच कम की जाती है।

३ माता पिता अगर असली न हों तो भी उससे कोई विशेष हानि नहीं है पर गुरु शास्त्र आदि के विषय में ऐसी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उनके असत्य होने से जीवन नष्ट हो सकता है।

शास्त्र की परीक्षा में सरस्वती माता का अपमान न समझना चाहिये। सरस्वती तो सत्यमयी है और शास्त्र के नाम पर तो सत्य-असत्य सभी चलता है, उसकी परीक्षा करके सत्य को खोज निकालना सरस्वती की खोज करना है उसकी परीक्षा करके उसका अपमान नहीं। सत्य की खोज करना भगवान सत्य का अपमान नहीं सन्मान है। परीक्षा को अपमान नहीं समझना चाहिये। इसलिये शास्त्र-परीक्षा अवश्य करना चाहिये। हां, जहां अपना बुद्धि-वैभव काम न दे वहां विश्वास से काम लें फिर भी इतना तो समझ ही लेना चाहिये कि वह प्रमाण-विरुद्ध तो नहीं है, देशकाल को देखते हुए सम्भव है या नहीं? जब विरोध समझ में आ जाये तब मोहवश असत्य को अपनाये न रहे।

इस प्रकार शास्त्रों की परीक्षा करके शास्त्र-मूढ़ता का त्याग करना चाहिये।

देव-मूढ़ता—जीवन का आदर्श देव है। जीवन के आदर्शरूप में जब हम किसी तत्त्व को अपनाते हैं तब वह **गुणदेव** कहलाता है, जब किसी व्यक्ति को अपनाते हैं तब उसे **व्यक्ति-देव** कहते हैं। सत्य अहिंसा आदि गुणदेव हैं, राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा मुहम्मद, जरथुस्त आदि व्यक्तिदेव हैं। गुणदेवों को जीवन में उतारना व्यक्ति-देवों के जीवन से शिक्षा लेकर उन का उचित अनुकरण करना, उनके विषय में अपनी भक्ति बताने के लिये आदर, पूजा, सत्कार स्तुति करना, यह सब देवों की उपासना है। साधक ऐसी देवोपासना तो करता है पर वह देव-मूढ़ता का परिचय नहीं देता। देव—मूढ़ता पाँच तरह की है १ **देव-भ्रम** अदेव को देव मानना २ **रूप-भ्रम** देव का स्वरूप विकृत या असत्य कल्पित करना ३ **कुयाचना** अनुचित मांग पेश करना ५ **परनिंदा** एक देव की पूजा के लिये दूसरे देव की निन्दा करना।

१—भय से, मोह से और अन्ध-श्रद्धा से किसी को देव मानना देवभ्रम है। जैसे भूत पिशाच शीतला आदि को देव मानना उनकी पूजा करना। पहिले तो भूत पिशाच आदि कल्पना रूप हैं। एक तरह के शारीरिक विकारों को लोग भूतावेश कहने लगते हैं पर अगर ये हों भी, तो भी इन्हें देव मानना देवभ्रम है। क्योंकि ये आततायी हैं-आदर्श नहीं। अगर ये उपद्रव करें तो इन्हें दंड देना चाहिये। दंड नहीं दे सकते तो इसका यह मतलब नहीं है कि इन्हें देव माना जाय।

शनैश्चर आदि ग्रहों को देव मानना भी देवभ्रम है। अनन्त आकाश में घूमनेवाले ये भौतिक पिंड कोई प्राणी नहीं हैं कि इन्हें देव माना जाय। इनकी गतिका जीवन पर ऐसा प्रभाव नहीं पड़ता जैसा कि लोग समझते हैं। वायुमण्डल आदि पर कोई प्रभाव पड़ता भी हो तो भी इन्हें देव मानने की ज़रूरत नहीं है। अगर इनका कोई दुष्प्रभाव होता हो तो उससे बचने के लिये हमें कोई चिकित्सा करना चाहिये, इनकी पूजा करना और इन्हें खुश करने की कल्पना से इनके दुष्प्रभाव से बचने की आशा करना मूढ़ता है। इस मूढ़ता से बड़ी भारी हानि यह है कि मनुष्य योग्य चिकित्सा से वञ्चित हो जाता है और अयोग्य चिकित्सा में अपव्यय करता है इस प्रकार दुहरी हानि उठाता है।

प्रश्न—ईश्वर भी एक कल्पना है तो क्या उसे मानना भी देवभ्रम समझा जाय ?

उत्तर—भय से, मोह से और अन्ध श्रद्धा से ईश्वर मानना देवभ्रम है पर विचारपूर्वक ईश्वर मानना और किसी तरह की अनुचित आशा नहीं रखना देवभ्रम नहीं है। जगत्कर्ता ईश्वर कल्पित भी हो तो भी यदि उसका दुरुपयोग न किया जाय तो देवभ्रम नहीं है। जैसे पाप करना और ईश्वर की पूजा करके पाप के फल से छुटकारा मानना यह ईश्वर का दुरुपयोग है। पर उसे पूर्ण न्यायी मान कर पाप से बचते रहना ईश्वर का सदुपयोग है। इससे मनुष्य का कल्याण है इसलिये अगर ईश्वर कल्पित भी हो तो भी उसकी मान्यता सिर्फ़ अतथ्य होगी-असत्य नहीं।

दूसरी बात यह है कि गुणमय ईश्वर कल्पित भी नहीं है। सत्य अहिंसा आदि गुणों का पिंड ईश्वर विश्वव्यापी है, घट घट वासी है, अनुभव में आता है, बुद्धि-सिद्ध भी है उसे मानना तथ्य भी है और सत्य भी है इसलिये ईश्वर की मान्यता देव-मूढ़ता नहीं है।

प्रश्न—मूर्ति को देव मानना तो देवभ्रम अवश्य है। क्योंकि मूर्ति तो पत्थर आदि का पिंड है। वह देव कैसे हो सकता है ?

उत्तर—मूर्ति को देव मानना देवभ्रम है पर मूर्ति में देव की स्थापना करना देवभ्रम नहीं है। अपनी भावना को व्यक्त करने के लिये कोई न कोई प्रतीक रखना उचित है। जैसे काग़ज़ और स्याही को (पुस्तकों को) ज्ञान समझना भ्रम है पर उसमें ज्ञान की स्थापना करके उसके द्वारा ज्ञानोपार्जन करना भ्रम नहीं है। हाँ, जब हम कला आदि का विचार न करके अन्ध-श्रद्धा-वश किसी मूर्तिविशेष में अतिशय मानते हैं, उसे देव को पढ़ने की पुस्तक न समझ कर देव ही समझने लगते हैं तब यह देवभ्रम हो जाता है। कोई मूर्ति सुन्दर और कलापूर्ण है तो उस दृष्टि से उसका महत्त्व समझो, अगर उसका कोई अच्छा इतिहास है तो ऐतिहासिक दृष्टि से उसे महत्त्व दो पर उसमें दिव्यता की कल्पना मत करो, उसे देव मत समझो देवमूर्ति समझो।

प्रश्न—मूर्ति द्वारा देव की उपासना करते समय अगर हम मूर्ति को न भुला सकें तो देव की उपासना ही न हो सकेगी। मूर्ति को भुला देने पर देवत्व ही देवत्व रह जायगा पर मूर्ति की जगह देवत्व को आप भ्रम कहते हैं।

उत्तर—मूर्ति द्वारा देव की उपासना करते समय मूर्ति को भुला देना ही ठीक उपासना है मूर्ति को याद रखना उपासना की कमी है। देव की उपासना में देव ही याद रखना चाहिये उसका आधार नहीं। जितने अंश में अवलम्बन [मूर्ति वगैरह] याद आता है उतने

अंश में वह देवोपासना नहीं है। जिस प्रकार अक्षरों की आड़ी टेढ़ी आकृतियों को देखते हुए और उनका उपयोग करते हुए भी उन्हें भुलाकर अर्थ पर विचार करना पड़ता है उसी प्रकार मूर्त्ति के सामने मूर्त्ति के रूप को भुलाकर देव का रूप याद करना पड़ता है। इस में अदेव को देव नहीं माना गया है जिससे देवभ्रम कहा जा सके।

२ देव के वास्तविक और मुख्य गुणों को भुलाकर कल्पित निरुपयोगी गुणों को मुख्यता देना उनका रूप बदल कर उसका वास्तविक उपयोग न होने देना आदि **रूपभ्रम है**। जैसे अमुक महात्मा के शरीर में दूध सरीखा खून था, ब्रह्मा विष्णु महेश उसका धात्री कर्म करने आये थे, वह बैठे बैठे अधर चला जाता था, वह समुद्र को हुक्म देकर शान्त करता था, वह उँगलीपर पहाड़ उठाता था, उसके चार मुँह दिखते थे, ये एक प्रकार के सब रूप-भ्रम हैं। दूसरे प्रकार के रूपभ्रम वे हैं जिनमें सम्भव किंतु महत्त्वशून्य बातों को महत्त्व दिया जाता है। जैसे महात्माओं की लोकोपकारकता आदि को गौण करके उनके असाधारण सौन्दर्य आदि को महत्त्व देना। हो सकता है कि वे सुन्दर हों पर वे महात्मा होने के कारण सुन्दर थे यह बात नहीं है। भक्ति के आवेश में ऐसी बातों को इतना महत्त्व न देना चाहिये कि उनके महात्मा-पन के चिह्न दब जाँयँ। तीसरे प्रकार का रूप-भ्रम वह है जिस में महात्माओं को उनके जीवन से बिलकुल उल्टा चित्रित किया जाता है जैसे किसी निष्परिग्रह साधु की मूर्त्ति को—जो नग्न तक रहा हो—गहने पहिनाना आदि। ये सब रूपभ्रम देव-मूढ़ता के ही एक रूप हैं।

प्रश्न—आलंकारिक वर्णन में थोड़ी अति-शयोक्ति हो ही जाती है। अगर उन्हें देव-मूढ़ता कहा जायगा तब तो काव्य की इति-श्री ही हो जायगी।

उत्तर—अलंकार अलंकाररूप में काम में आवें तो कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि उससे अर्थ में कोई कमी नहीं होती बल्कि अर्थ स्पष्ट होता है। मुख को चन्द्रमा कहने से सुन्दरता ही मालूम होती है उसे प्रकाश समझ कर रात में दीपक नहीं बुझाये जाते। दुःख का पहाड़ उठा लिया, विपत्ति के समुद्र को पी गया या पार कर गया आदि अलंकार वाक्य के अर्थ को सुन्दर और साफ़ बनाते हैं इसलिये अलंकार के उपयोग में मूढ़ता नहीं है। मूढ़ता है अलंकार को इति-हास या विज्ञान समझने में। पुराणों में आये हुए बहुत से वर्णन इसी प्रकार के आलंकारिक हैं उनका वास्तविक अर्थ पहिचान लेने पर मूढ़ता नहीं रहती।

३ तीसरी देव-मूढ़ता है कुयाचना। देवो-पासना का मतलब उनके गुणों को या आज्ञाओं को अपने जीवन में उतारना है जिससे हमारा उद्धार हो। भक्ति-मय भाषा में हम यह भी कह सकते हैं कि तुम हमारा उद्धार करो, जगत में शान्ति करो, हमारे पापों को दूर करो आदि इसका मतलब यही कि हम आप का अनुसरण करें जिससे हमारा उद्धार हो आदि। यह कुयाचना नहीं है। पर जहां अपने कर्तव्य की भावना तो है नहीं, सिर्फ़ देव को खुश करके धन की स्वास्थ्य की, सन्तान की, विजय की, शत्रु-क्षय की याचना है वह कुयाचना है। देव-पूजा अपने कर्तव्य को समझने और उसका पालन करने और उसपर दृढ़ रहने के लिये होना चाहिये, मुफ्त-

चोरी के लिये नहीं। कुयाचना करने से वह पूरी नहीं होती, सिर्फ़ अपनी क्षुद्रता और असंयम का पता लगता है। कुयाचना देव-मूढ़ता का परिणाम है।

प्रश्न–व्यक्तिदेवों की उपासना में उनके जीवन का अनुकरण लक्ष्य हो सकता है पर ईश्वर की उपासना में क्या ध्येय होगा ? ईश्वर का अनुकरण तो किया नहीं जा सकता। उससे छोटी बड़ी सभी चीज़ों की याचना ही की जा सकती है। प्राणी तो ईश्वर के आगे सदा भिखारी है। उससे याचना क्या और कुयाचना क्या ?

उत्तर–जगदीश्वर एक ही हो सकता है इसलिये हरएक आदमी जगदीश्वर नहीं बन सकता फिर भी उसका अनुकरण कर सकता है। ईश्वर सर्वगुण-भंडार है इसलिये जिस गुण का जितने अंशों में अनुकरण हो उतना ही अच्छा है। उसके सामने सिर झुकाने में उसके शासन के विषय में श्रद्धा प्रगट होती है और इससे उसकी व्यवस्था-नीति धर्म को बनाये रखने की इच्छा पैदा और प्रगट होती है उससे अपने विकास की या आत्मबल की ही याचना करना चाहिये--दया क्षमा की नहीं। प्रार्थना में अगर भक्तिवश दया क्षमा के शब्द आ भी जाँय तो इतना ही समझना चाहिये कि हम अपने पापों को स्वीकार कर रहे हैं और पश्चात्ताप प्रकट कर रहे हैं। ईश्वरीय न्याय को बदलना नहीं चाहते। वास्तव में कोई मनुष्य ईश्वर का अपराध नहीं करता, नहीं कर सकता, वह अपराध करता है उसकी सन्तान का अर्थात् हमारा तुम्हारा, उसका न्याय होना ही चाहिये। इसलिये न्याय से बचने की याचना कुयाचना है। हाँ पाप करने से दूर रहने की और संकट सहने की याचना सुयाचना है वह माँगना चाहिये। ईश्वर के आगे इतना ही भिखारीपन सार्थक है।

प्रश्न–धन सम्पत्ति आदि की याचना भी देवोपासना से सफल होती है। देवोपासना से पुण्य होता है और पुण्य से ऐहिक लाभ मिलते हैं फिर मनुष्य वह याचना क्यों न करे ? अथवा उसे कुयाचना क्यों कहा जाय ?

उत्तर--देवोपासना से पुण्य होगा तो उस का फल आगे मिलेगा इससे पुराने पाप का फल कैसे नष्ट हो जायगा ? दूसरी बात यह है कि देवोपासना से ही पुण्य नहीं हो जाता, पुण्य होता है देवोपासना के सत्प्रभाव--नीति सदाचार आदि को जीवन में उतारने से, प्रतिक्रमण आदि तप करने से। ये न हों तो देव--पूजा क्षणिक आनन्द देने के सिवाय और कुछ नहीं कर सकती। तीसरी बात यह है कि हरएक कारण से हरएक कार्य नहीं हो सकता इसलिये देव-पूजा शारीरिक चिकित्सा का काम नहीं कर सकती। बीमारी में या संकट में देव-पूजा से सहने की ताक़त आ सकती है, मन को बल मिल सकता है पर वैद्य का काम पूरा नहीं हो जाता। देव-पूजा से निःसन्तानता का कष्ट सहा जायगा विश्व-बन्धुत्व पैदा होकर संतान--मोह दूर हो जायगा पर सन्तान पैदा न हो जायगी। इसलिये कुयाचना न करना चाहिये।

४ चौथी देव-मूढ़ता दुरुपासना है। संयम को नष्ट करनेवाली उपासना दुरुपासना है। जैसे देवता के नाम पर पशुवध करना मद्यपान करना मांस-भोजन करना, व्यभिचार करना, आत्मघात करना [पहाड़ से गिर पड़ना जल में डूब मरना आदि] नरमेध यज्ञ आदि भी इसी मूढ़ता में शामिल हैं।

प्रश्न—कोई कोई देव ऐसी तामस प्रकृति के होते हैं जो ऐसे ही कार्यों से खुश होते हैं। उनकी उपासना के लिये ये कार्य करना ही पड़ते हैं-अन्यथा वे परेशान करते हैं।

उत्तर—पहिले तो ऐसे कोई देव हैं ही नहीं जो माँस आदि चाहते हों। यह सब हमारी लोलुपता का परिणाम है। अगर हों तो उन्हें पूजना न चाहिये। देव तो प्राणिमात्र के देव हैं वे पशुओं के भी देव हैं। जगदम्बा पशुओं की भी अम्बा है वह अपने लिये अपने पुत्रों का बलिदान कैसे चाहेगी? सच्चे देव पाप नहीं कराते। पाप करानेवाले देव कुदेव हैं। जो अपने लिये आदर्श नहीं है और देवरूप में माने जाते हैं वे कुदेव हैं। उनकी उपासना न करना चाहिये।

५ पाँचवीं देवमूढ़ता है परनिन्दा। सम्प्रदाय आदि के मोहवश दूसरे सुदेवों की निन्दा करना पर-निन्दा है। अगर किसी देव के विषय में तुम्हारा ख़ास आकर्षण है तो उस की खूब उपासना करो पर दूसरे देवों की निन्दा न करना चाहिये और न ऐसी प्रार्थना पढ़ना चाहिये जिससे उनकी निन्दा होती हो।

प्रश्न—इस तरह तो दो व्यक्ति-देवों में तुलना करना कठिन हो जायगा क्योंकि तुलना में तरतमता सिद्ध होना स्वाभाविक है। जिसका स्थान कुछ नीचा बनाया जायगा उसी की निंदा हो जायगी और इसे आप देव-मूढ़ता कह डालेंगे।

उत्तर—निष्पक्ष आलोचना में परनिंदा नहीं होती। परनिन्दा मोह का परिणाम है, आलोचना मोह का परिणाम नहीं है। तुलना करना चाहिये पर वह मोह और अहंकार का कारण या फल न होना चाहिये। साथ ही तुलना करने की बीमारी भी न होना चाहिये। जब विशेष आवश्यकता हो तब ही तुलना करना चाहिये फिर परनिन्दा का दोष नहीं रहता।

लोकमूढ़ता—बिना समझे या बिना पर्याप्त कारण के लोकाचार का पक्षपात होना लोकमूढ़ता है। रीतिरिवाज़ किसी अवसर पर किसी कारण से बन जाते हैं अगर कोई हानि न हो तो उनके पालन करने में बुराई नहीं है पर उन का पक्षपात न होना चाहिये। हमारे यहां ऐसे कपड़े पहिनते हैं, ऐसे बाल कटाते हैं ऐसा भोजन बनाते हैं, इस प्रकार सजाते हैं इस प्रकार अभिवादन करते हैं, विवाह विधि ऐसी होती है, जन्म मरण पर ऐसा करते हैं ऐसी बातों का पक्षपात प्रबल होना उसकी बुराई को न देख सकना उससे भिन्न लोकाचार की भलाई न देख सकना लोक-मूढ़ता है।

वेषभूषा में स्वच्छता सुविधा आदि का विचार करना चाहिये। जिस में हमें सुविधा है उसमें दूसरों को असुविधा हो तो चिढ़ना न चाहिये। इसी प्रकार खानपान में रुचि, स्वास्थ्य, स्वच्छता, निर्दोषता आदि का विचार करना चाहिये इसी प्रकार हरएक लोकाचार को बुद्धि-संगत बनाकर पालन करना चाहिये।

प्रश्न— लोकाचार को बुद्धि-संगत बनाया जाय तो बड़ी परेशानी हो जायगी। आज दिल चला यूरोपीय पोषाक पहिन ली, कल लँगोटी लगा ली, परसों मारवाड़ी बन गये, किसी दिन महाराष्ट्री बन गये, किसी दिन पंजाबी बन गये। इस तरह का बहुरूपियापन क्या अच्छा है? आखिर आदत भी कोई चीज़ है। उसके साथ बलात्कार करना कहाँ तक उचित है?

उत्तर—लोक-मूढ़ता के त्याग के लिये बहु-रूपिया बनने की ज़रूरत नहीं है न आदत के साथ बलात्कार करने की ज़रूरत है। ज़रूरत इतनी ही है कि रूढ़ियों की गुलामी छोड़ी जाय और सकारणक परिवर्तन के लिये तैयार रहा जाय। आज हमारे पास पैसा नहीं है, ठंड भी नहीं लगती तब कोट न पहिना तो अच्छा ही है, चादर ही ओढ़ लिया तो क्या बुराई है? अधिक भूषणों से शरीर मलिन रहता है असुविधा होती है तो रिवाज़ होने पर भी आभूषण न पहिने या कम पहिने तो अच्छा ही है। शरीर की ज़रूरत जैसी हो वैसी पोशाक कर लेना चाहिये। एक ज़माने में ब्राह्मण-वर्ण के निर्वाह के लिये जन्म मृत्यु के अवसर पर दान दक्षिणा भोजन आदि उचित था आज आवश्यकता नहीं है तो उस रूढ़ि का किसी न किसी रूप में पालन होना ही चाहिये यह गुलामी क्यों? रही आदत की बात सो आदत बुरी (स्वपर-दुःखकारक) न होना चाहिये फिर आदत के अनुसार कार्य करने में कोई बुराई नहीं है। अगर आदत बुरी है तब तो धीरे धीरे उसका त्याग करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये।

'हमारे बाप दादा क्या मूर्ख थे उनने रिवाज़ चलाया तो अच्छा ही होना चाहिये' इस प्रकार का आग्रह भी लोक-मूढ़ता है। क्योंकि बाप दादे हमारे उपकारी हो सकते हैं पर हमसे अधिक विद्वान थे ऐसा कोई नियम नहीं है। पर इससे भी अधिक महत्त्व की बात तो यह है कि बाप दादे विद्वान भी हों पर उनका कार्य उनके समय के लिये ही उपयोगी हो सकता है आज के लिये आज का युग देखना चाहिये। आज के रिवाज़ किसी न किसी दिन नये सुधार थे उन पुराने सुधारकों ने जब अपने समय के अनुसार रिवाज़ बनाते समय अपने पुरखों की पर्वाह नहीं की तो उनकी दुहाई देकर हमें क्यों करना चाहिये?

प्रश्न—बहुत से लोकाचार ऐसे हैं जिन के लाभ शीघ्र नहीं मालूम होते पर उनसे लाभ हैं ज़रूर। हर एक लोकाचार के विषय में छानबीन करने की हर एक आदमी को फुरसत भी नहीं रहती इसलिये बहुत से लोकाचारों का बिना विचारे पालन करना पड़ता है। इसमें लाभ हो तो ठीक ही है नहीं तो हानि तो कुछ है ही नहीं। ऐसी हालत में इसे लोकमूढ़ता कैसे कह सकते हैं?

उत्तर—लोकाचार का पालन करना लोक-मूढ़ता नहीं है पर विवेक छोड़कर हानिकर लोकाचार का पालन करना लोकमूढ़ता है। जिस विषय पर विचार नहीं किया है उसका पक्षपात न होना चाहिये और लोकाचार के दोषों पर जानबूझकर उपेक्षाभी न करना चाहिये। अवसर न मिलने से विशेष विचार न किया हो पर इतना विचार तो आवश्यक है कि इस लोकाचार से सत्य और अहिंसा में बाधा तो नहीं पड़ती। लौकिक हानि दूसरों की प्रसन्नता के लिये भले ही सहन करली जाय पर वह हानि ऐसी न होना चाहिये जिससे समाज के दूसरे लोगों को भी हानि का शिकार होना पड़े। जहां तक बने लोकाचार के संशोधन का प्रयत्न तो होते ही रहना चाहिये।

प्रश्न—मनुष्यता की उत्पत्ति का कारण बुद्धि भले ही हो पर उसकी स्थिरता का कारण संस्कार हैं। हम माँ बहिन बेटी को पवित्रता की दृष्टि से देखते हैं इसका कारण हमारे बौद्धिक विचार नहीं संस्कार हैं और इन संस्कारों का कारण लोका-चार है। संस्कार समझने से नहीं पड़ते किन्तु आसपास के लोगों के आचार से पड़ते हैं। और

यही लोकाचार है। इसलिये लोकाचार को कम महत्व देना ठीक नहीं।

उत्तर—लोकाचार की उपयोगिता अस्वीकार नहीं की जा सकती परन्तु उसका जितना महत्व है उतना ही उसका संशोधन आवश्यक है। जिस लोकाचार पर मनुष्यता-निर्मापक संस्कार तक अवलम्बित हों उसमें विवेक को स्थान न होना मनुष्यता को पशुता की तरफ़ ले जाना है। अच्छे अर्थात कल्याणकारी लोकाचार को नष्ट करने की ज़रूरत नहीं है, ज़रूरत है देशकाल विरुद्ध अकल्याण-कर लोकाचार को बदलने की जिससे संस्कार अच्छे पड़ें।

लोकमूढ़ता का त्यागी रूढ़ियों का गुलाम न होकर उचित रूढ़ियों का पालन करेगा, देश-काल के अनुसार सुधार करने को तैयार रहेगा। इस प्रकार चारों तरह की मूढ़ताओं का त्यागी और निःपक्ष विचारक बनकर मनुष्य विवेकी बनता है जो कि योगी जीवन की पहिली शर्त है।

२ धर्म-समभाव

योगी का दूसरा चिह्न है धर्म-समभाव। धर्म तो जगत में एक ही है उसे सत्य कहें, अहिंसा कहें, नीति सदाचार आदि कुछ भी कहें, पर उसके व्यावहारिक रूप असंख्य हैं। धर्म को पालन करने के लिये देश काल के अनुसार कुछ नियम बनाये जाते हैं उनको भी धर्म कहते हैं उनकी परम्परा भी चलती है इसलिये उन्हें सम्प्रदाय कहते हैं। धर्म, सम्प्रदाय, मत, मज़हब, रिलीज़न आदि शब्द उस नित्यधर्म-सत्य और अहिंसा के सामयिक दैशिक रूप के लिये प्रयुक्त होते हैं। हिन्दू धर्म, इस्लाम मज़हब, क्रिश्चियानिटी, जैन धर्म, बौद्ध धर्म आदि अनेक धर्म जगत में फैले हैं जो अपने अपने समय और अपने अपने देश के लिये हितकारी थे, और आज भी उनका बहुभाग जगत के लिये हितकारी है, उनकी विविधता परस्पर विरोधिनी नहीं है। इन धर्मों को पूर्ण सत्य समझना अथवा पूर्ण असत्य समझना भूल है। हर-एक धर्म सामयिक सत्य है—सत्य का अंश है। उस में से असत्य का अंश निकाल देना चाहिये आज के लिये आवश्यक सत्य जोड़ देना चाहिये और आदर के साथ उसका उपयोग करना चाहिये इस प्रकार का धर्म-समभाव पाये बिना धर्म का मर्म समझ में नहीं आ सकता। धर्म-समभाव तीन तरह का होता है १ भक्तिमय २ उपेक्षामय ३ घृणामय।

१—भक्तिमय--सब धर्मों की अच्छी अच्छी बातें ग्रहण करके धर्मों के विषय में आदर, प्रेम, भक्ति-रूप भाव रखना।

२—उपेक्षामय—सब धर्म--संस्थाओं को निरर्थक संस्था समझना।

३—घृणामय--सभी धर्म-संस्थाओं को अनर्थ का मूल समझना और उनके नाश हुए बिना जगत का अकल्याण समझना।

इन तीन में से पहिला समभाव श्रेष्ठ है। योगी को यही समभाव रखना चाहिये।

प्रश्न—धर्म के नाम पर जगत में जितने अत्याचार हुए हैं शायद ही उतने अत्याचार किसी दूसरी चीज़ के नाम पर हुए हों। इसलिये धर्म से घृणा पैदा हो जाय तो क्या आश्चर्य है ! क्रांति के चक्र में जब दुनियाभर के पाप पिसेंगे तब ये धर्म-नामक पाप भी पिसना ही चाहिये।

उत्तर—आज जो क्रान्ति है कल वही धर्म सम्प्रदाय आदि कहला सकती है। आज जो धर्म कहलाते हैं वे भी एक ज़माने की सफल क्रान्ति हैं। जैसे आज की क्रान्ति पाप नहीं है इसी प्रकार

एक समय की क्रान्ति ये धर्म भी पाप नहीं हैं। रही दुरुपयोग की बात सो दुरुपयोग किसका नहीं हुआ है ! कलम से लिखने की बजाय कोई कीड़े मारा करे तो इसमें कलम बेचारी क्या करे? अति-भोजन या विकृत भोजन से कोई बीमार हो जाय या मर जाय तो भोजन घृणास्पद नहीं हो सकता सिर्फ़ उसकी 'अति' घृणास्पद हो सकती है। सच पूछो तो धर्म के लिये लड़ाई नहीं होती धर्म के नाम पर होती है। धर्म का नाम अपनी पाप-वासनाओं के लिये ओट बना लिया जाता है।

प्रश्न—पाप के लिये जो ओट का काम दे वह क्यों न नष्ट कर दिया जाय ?

उत्तर—मकान अगर चोरों के लिये ओट का काम दे तो मकान गिराया नहीं जाता चोर ही ढूँढा जाता है। अगर कभी गिराने की आवश्यकता ही पड़ जाय तो फिर बनाना पड़ता है। आवश्य-कतानुसार पुनर्निर्माण करना उचित है पर सर्वथा ध्वंस नहीं। सच पूछा जाय तो धर्म का ध्वंस हो नहीं सकता। ध्वंस ध्वंस चिल्लाकर हम सिर्फ़ हानि-कर क्षोभ पैदा करते हैं। हम धर्म के विषय में कितनी ही नास्तिकता का परिचय दें अगर हमारी नास्तिकता सबल है तो उसी के नाम पर विराट् आस्तिकता पैदा हो जायगी। महावीर और बुद्ध ने ईश्वरवाद के विषय में नास्ति-कता का जो सफल प्रचार किया उसका फल यह हुआ कि उनके सम्प्रदायों में महावीर, बुद्ध, ईश्वर के आसन पर बिठला दिये गये। जिन देशों में धर्म की नास्तिकता सफल हुई है उन देशों में वे नास्तिकता के तीर्थंकर आज देवता की तरह पुज रहे हैं। उनकी क़ब्रोंपर हज़ारों आदमी प्रति-दिन सिर झुकाते हैं और नास्तिकता के गीत गाते हैं। मनुष्य के पास जब तक हृदय है तब तक उसके पास ऐसी आस्तिकता अवश्य रहेगी। मन्दिर, मसज़िद, चर्च, क़ब्र, शिला, ध्वजा, चित्र, मूर्ति, नदी, पहाड़, वृक्ष आदि प्रतीकों में परि-वर्तन भले ही होता रहे पर इनमें से कोई न कोई किसी रूप में रह कर आस्तिकता को जगाये रहता है। आस्तिकता इतनी प्रचंड है कि वह नास्तिकता को भी अपना भोजन बना लेती है। जब तक हृदय है तब तक आस्तिकता है। हृदय को कोई नष्ट नहीं कर सकता। सिर्फ़ अमुक समय के लिये सुला सकता है। पर उसका जागरण हुए बिना नहीं रहता। इसलिये उसके नष्ट करने की चेष्टा व्यर्थ है। उसका दुरुपयोग न होने पावे सिर्फ़ इतनी ही चेष्टा करना चाहिये।

प्रश्न—दुरुपयोग हर एक चीज़ का होता है यह ठीक है, पर धर्म का दुरुपयोग अधिक से अधिक होता है। धन, बल, सौन्दर्य, आदि के अहंकार की अपेक्षा धर्म का अहंकार प्रबल होता है। झगड़े आदि भी धर्म के लिये बहुत होते हैं इन सब का असली कारण क्या है ?

उत्तर— धर्म तो जगत में शान्ति प्रेम, और आनन्द ही फैलाता रहा है। परन्तु मनुष्य एक जानवर है, बुद्धि अधिक होने से इस में पाप करने की, पाप को छिपाये रखने या टिकाये रखने की शक्ति अधिक आगई है। अहंकार इस में सब से अधिक है। महत्त्वानन्द के लिये यह सब कुछ छोड़ने को तैयार हो जाता है। पर हर-एक आदमी को यह आनन्द पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलसकता जब कि लालसा तीव्र रहती है इसलिये मनुष्य अनुचित कल्पनाओं से इस लालसा को सन्तुष्ट करने की चेष्टा करता है उसी का फल है धर्म-मद। धन, जन और बल आदि का मद न तो अक्षुण्ण है न स्थिर। आज

धन है कल नहीं है, आज बल है कल बीमारी बुढ़ापा आदि से नहीं है इस प्रकार इन के मदों से मनुष्य को सन्तोष नहीं होता। तब वह धर्म और ईश्वर के नामपर मद करता है। हमारा धर्म सब से अच्छा, हमारा देव सब से अच्छा आदि। धर्म और देव बीमार नहीं होते, बुड्ढे नहीं होते और छिनते भी नहीं अर्थात् इन का नाम नहीं छिनता (अर्थ से तो ऐसे अहंकारियों के पास ये फटकते भी नहीं हैं फिर मिलेंगे क्या ?) इसलिये इन का अभिमान सदा बना रहता है और तुलना में क्षुण्ण भी नहीं होता। धन में तो लखपति का घमंड करोड़पति के आगे क्षुण्ण हो जाता है, बल आदि में भी यही बात है। पर ईश्वर और धर्म में तो तुलना करने की ज़रूरत ही नहीं है अन्धश्रद्धा के अँधेरे के कारण दूसरा दिखता ही नहीं फिर तुलना क्या ? तुलना तो सिर्फ़ कल्पना से की जाती है कि हम अच्छे सब खराब, क्योंकि हम हम हैं। इस प्रकार महत्त्वानन्द की अनुचित लालसा के कारण जो हमारे दिल में शैतान घुसा है वह ईश्वर और धर्म की ओट में ताण्डव कर रहा है। वास्तव में यह शैतान (पाप) का उपद्रव है धर्म या ईश्वर का नहीं।

प्रश्न-- धर्म का अपराध भले ही न हो पर उन में समभाव नहीं रक्खा जा सकता क्योंकि सब धर्म एक से नहीं हैं, सब धर्मों के संस्थापक भी एक से नहीं हैं, सब शास्त्र भी एक नहीं हैं, किसी किसी धर्म में तो मनुष्यमात्र के प्रति प्रेम भी नहीं है। कुछ पुराने धर्म तो जिन में नीति सदाचार आदि अपने गिरोह तक ही सीमित हैं, दूसरे गिरोहवालों को लूट लेना मार डालना भी कर्तव्य समझते हैं ऐसी हालत में सर्व-धर्म-समभाव कैसे रक्खा जासकता है और रखना भी क्यों चाहिये ?

उत्तर-- सब धर्म समान नहीं हो सकते, होना भी नहीं चाहिये क्योंकि वे तो देशकाल के अनुसार बने हैं, देशकाल के भेद से उन में भेद भी है इसलिये विविधता से घबराना न चाहिये। रही तरतमता, सो थोड़े बहुत अंशों में वह रहेगी ही। तरतमता तो माता पिता में भी है पर दोनों गुरुजन हैं दोनों पूज्य हैं इसी प्रकार धर्मों में पूज्यता-भाव रखना चाहिये। तरतमता पर उपेक्षा करना चाहिये। तरतमता का भाव दो तरह का होता है---१ **वैकासिक** और २ **भ्रमजन्य**

मानव-समाज क्रम-क्रम से विकासित होता जारहा है यद्यपि बीच बीच में मनुष्य अवनति की ओर भी झुकजाता है पर सब मिलकर वह विकसित ही होता जाता है। इसलिये अति प्राचीन काल में मनुष्यकी धार्मिक भावना संकुचित थी। मूसा के समय में मनुष्यकी नैतिकता अपने समाज तक सीमित थी जब कि ईसा के समय में वह मनुष्य-मात्र तक फैलगई थी। यह विकास सम्बन्धी वैकासिक तरतमता है। इस में हम उस महापुरुषको दोषी नहीं कह सकते। क्योंकि महापुरुष समाज के आगे चलता है। समाज की परिस्थिति की अपेक्षा ही उसके आगेपन का निश्चय किया जायगा। इसलिये हमें यही देखना चाहिये कि उस धर्म ने या धर्म-संस्थापक ने इस समय के जन-समाज को आगे बढ़ाया या नहीं ? इतनेसे ही वह हमारे लिये आदरणीय हो जाता है। वैकासिक तरतमता में अगर कोई धर्म या धर्म-संस्थापक दूसरे धर्मों की या धर्म संस्थापकों की अपेक्षा हीन भी मालूम हो तो भी हमें तीन कारणों से उनका आदर करना चाहिये १ --**पारिस्थितिक**

महत्ता, २—सामूहिक कृतज्ञता, ३ बन्धु-पूज्य-समादर।

१—पारिस्थितिक महत्ता का विवेचन ऊपर हो चुका है कि वह महापुरुष आज के लिये भले ही महान् न हो पर वह अपने ज़माने के लिये महान् था। वह अपने ज़माने में उस समय के लोगों के आगे बढ़ सका। यदि आज होता तो आज के साधन पाकर आज के लोगों के आगे भी बढ़ जाता। इसलिये परिस्थिति को देखते हुए वह महान् है।

२—सामूहिक कृतज्ञता का मतलब यह है कि हमारा जो आज विकास हुआ है उसके मूल में पूर्वजों की काफ़ी पूँजी है इसलिये आज के युग को पिछले युग का कृतज्ञ होना चाहिये आज के महापुरुष को पहिले के महापुरुषों का कृतज्ञ होना चाहिये। इस सामूहिक कृतज्ञता के कारण भी हमें पहिले महापुरुषों का आदर करना चाहिये।

३—बन्धु-पूज्य-समादर का मतलब उस व्यावहारिकता से है जो हम पड़ौसियों के गुरुजनों के विषय में रखते हैं। यदि हम किसी को मित्र कहते हैं तो हमारा कर्तव्य हो जाता है कि उसके माता पिता का यथोचित आदर करें। जो हमारे बन्धु के लिये पूज्य है वह हमारे लिये काफ़ी आदरणीय है। यही बन्धु-पूज्य-समादर है। धर्म के विषय में भी हमें इसी नीति से काम लेना चाहिये। मानलो हज़रत मूसा का जीवन आज हमारे लिये आदर्श नहीं है पर वे यहूदियों के गुरुजन हैं इसलिये यहूदियों के साथ बन्धुता प्रदर्शन करने के लिये हमें हज़रत मूसा का आदर करना चाहिये। यदि हम किसी यहूदी मित्र के बाप का-गुणदोष का विशेष विचार किये बिना-आदर कर सकते हैं तो समस्त यहूदियों के लिये जो पिता के समान हैं उनका आदर क्यों नहीं कर सकते?

प्रश्न—यदि बन्धुता के लिये दूसरों के देवों या गुरुओं का आदर करना कर्तव्य है तब तो बड़ी परेशानी हो जायगी। हमें उनका भी आदर करना पड़ेगा जिनको हम पाप समझते हैं। किसी शाक्त मनुष्य के साथ बन्धुता रखनी है तो बकरों का बलिदान लेनेवाली काली का आदर करना भी हमारा कर्तव्य हो जायगा। बहुत से चालाक धूर्त लोग भोले लोगों को बहकाकर गुरु बन जाते हैं अगर उन भोले लोगों का आदर करना हो तो उन धूर्त गुरुओं का भी आदर करना चाहिये। इस प्रकार हमें देव-मूढ़ता गुरु-मूढ़ता आदि मूढ़ताओं का शिकार हो जाना पड़ेगा।

उत्तर—इस प्रकार के अपवाद धर्म में ही नहीं साधारण लोक-व्यवहार में भी उपस्थित होते हैं। हम पड़ौसी के पिता को सन्मान की दृष्टि से देखते हैं इस साधारण नीति के रहते हुए भी यदि पड़ौसी का पिता बदमाश हो, क्रूर हो और अत्याचारी हो तो न्याय के संरक्षण के लिये हम उसका निरादर भी करते हैं पापका आदर नहीं करते। धर्म के विषय में भी हमें इस नीति से काम लेना चाहिये। फिर भी इसमें निम्न लिखित सूचनाओं का ध्यान रखना चाहिये।

१—गुणदेवों का तिरस्कार न करना चाहिये सिर्फ़ उनके दुरुपयोग दुरुपासना आदि का तिरस्कार करना चाहिये। जैसे काली, जगदम्बा आदि नामों से प्रसिद्ध शक्ति-देवी को शक्ति नामक गुण की मूर्त्ति समझ कर उसका सन्मान ही करना चाहिये। परन्तु शक्ति का जो विकराल रूप है पशु-बलि आदि जो उसकी उपासना का बुरा तरीका है उसका विरोध करना चाहिये। हाँ, विरोध में भी दूसरों को समझाने की भावना हो

उनका तिरस्कार करने की नहीं । समभावी को गुणदेवों का सन्मान करते हुए देव-मूढ़ता का कोई रूप न आने देना चाहिये ।

२—व्यक्तिदेवों की तीन श्रेणियाँ हैं (१) उपयुक्त (२) उपयुक्तप्राय (३) ईषदुपयुक्त । जो आज के लिये पूर्ण उपयोगी हैं वे **उपयुक्त** हैं । जो किसी समय के लिये पूर्ण उपयोगी थे परन्तु आज परिस्थिति बदल जाने से कुछ कम उपयोगी हो गये हैं, जिनके संदेश में थोड़े बहुत परिवर्तन की आवश्यकता है वे **उपयुक्तप्राय** हैं । जैसे राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा मुहम्मद आदि । ऐसा भी हो सकता है कि जो आज उपयुक्तप्राय हैं वे परिस्थिति बदल जाने पर उपयुक्त बन जाँय जो आज उपयुक्त हैं वे कभी उपयुक्तप्राय बन जाँय । मानव-समाज के विकास के कारण जो आज के लिये कम उपयोगी रह गये हैं वे ईषदुपयुक्त हैं । जैसे हज़रत मूसा आदि । इनमें से उपयुक्त और उपयुक्तप्राय तो पूर्णरूप से पूजनीय हैं अर्थात् इष्टदेव की तरह वन्दनीय हैं । ईषदुपयुक्त बन्धु-पूज्य-समादर आदि की दृष्टि से आदरणीय हैं ।

३—कुछ गुण-देव और व्यक्ति देव अनुपयुक्त भी होते हैं उन्हें कुदेव कहना चाहिये । भूत पिशाच आदि कल्पित देव, देव रूप में माने गये सर्प आदि क्रूर जन्तु, शनैश्चर यम आदि भयंकर और क्रूर देव आदि अनुपयुक्त देव हैं, इनकी पूजा न करना चाहिये ।

शंका—महादेव या शिव की उपासना करना चाहिये या नहीं ? वह तो संहारक देव होने से क्रूर देव है ।

समाधान—भय से उपासना न करना चाहिये । शिव पाप-संहारक हैं इसलिये क्रूर नहीं हैं इसलिये गुणदेवों में शिव की गिनती है । अथवा सत्य और अहिंसा में ही हम शिव-शिवा का दर्शन कर सकते हैं । जगत्कल्याण के अंग की दृष्टि से किसी की भी उपासना की जा सकती है ।

शंका—गोमाता कहना उचित है या अनुचित, गाय तो एक जानवर है ।

समाधान—गाय के उपकार काफ़ी हैं कृतज्ञता की दृष्टि से गोमाता कहा जाय तो कोई बुरा नहीं है । गो माता शब्द में गो जाति के विषय में कृतज्ञता है जोकि उचित है । वास्तव में उसे कोई देवी नहीं मानता । नहीं तो लोग उसे बाँध के क्यों रखते और मारते पीटते भी क्यों ? जानवर के साथ जानवर सरीखा व्यवहार करके उस जाति के उपकारों के विषय में कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिये शब्दस्तुति करना अनुचित नहीं है ।

४— गुरु के विषय में शिष्टाचार का उतना पालन करना चाहिये जितना पड़ोसी के गुरु के विषय में रखते हैं । विशेषता इतनी है कि वञ्चना के द्वारा भी गुरु बनजाने की सम्भावना है, इसलिये गुरु मूढ़ता से बचने के लिये कुछ परीक्षा भी करना चाहिये । गुरु जीवित व्यक्ति है इसलिये उसके विषय में अच्छी तरह कुछ कहा नहीं जासकता, न जाने कल उसका क्या रूप दिखलाई दे । इसलिये देव के विषय में आदरभाव की जितनी आवश्यकता है उतनी गुरु के विषय में नहीं । उस को तो परीक्षा करके ही मानना चाहिये । फिर भी स्वपर-कल्याण की दृष्टि से जहाँ विरोध करना आवश्यक हो वहीं विरोध करना चाहिये । वह विरोध अहंकारवश परनिन्दा का रूप धारण न करले । धूर्त गुरुओं का विरोध करना

तो जन साधारण की सेवा है। इन चार सूचनाओं का ध्यान रक्खा जाय तो वैकासिक तरतमता में भी समभाव रक्खा जासकता है।

दूसरी तरतमता है भ्रमजन्य। देशकाल पात्र के भेद से धर्मों में जो भेद आता है उन भेदों में तरतमता की कल्पना करना भ्रमजन्य तरतमता है। यद्यपि सूक्ष्मरूप में उनमें भी तरतमता पाई जाती है पर वह वैकासिक तरतमता की श्रेणी में नहीं जाती इसलिये उपेक्षणीय है।

प्रश्न— कौनसी तरतमता वैकासिक है और कौनसी भ्रमजन्य, इसका निर्णय कैसे किया जाय। आपके कहनेसे यह मालूम होता है कि आप धर्मों को दो भागों में विभक्त करना चाहते हैं। एक तो वह जिस में सभ्यता का पूरा विकास नहीं हुआ है दूसरा वह जिस में सभ्यता का पर्याप्त विकास हो गया है, पर इन दोनों भेदों की विभाजक रेखा क्या है? क्या काल भेद से इन में भेद है—कि इतना पुराना धर्म पहिली श्रेणी में है और उस के बाद का धर्म दूसरी श्रेणी में। यदि काल विभाजक नहीं है तो क्या है?

उत्तर--काल विभाजक रेखा नहीं बन सकता। क्योंकि दुनिया के समस्त भूभागों के मनुष्यों का विकास एक साथ नहीं हुआ है आफ्रिका के अनेक भूभागों में अभी भी मनुष्य पशु के पास ही खड़ा है। उनमें आज भी कोई धर्म पैदा हो तो वह आदिम युगके समान होगा। भारत मिश्र-चीन आदि देशों की सभ्यता प्राग्ऐतिहासिक काल की है। यहां कई हजार वर्ष पहिले भी धर्म का पर्याप्त विकास हो गया था। इसलिये कालभेद धर्मों की श्रेणी का विभाजक नहीं है। उसके विभाजन के लिये हमें दो बातें देखना चाहिये। १ नैतिकता का रूप २ उदारता की सीमा। ध्येय दृष्टि अध्याय में जो विश्वकल्याण का रूप बताया गया है उसके अनुसार नैतिकता का रूप होना चाहिये। और उदारता की सीमा जातीयता, राष्ट्रीयता या कोई भूखंड या शरीर का रंग आदि न होना चाहिये अर्थात् मानव जाति से कम न होना चाहिये।

हिन्दू मुसलमान ईसाई जैन बौद्ध जरथुस्त आदि अनेक धर्म या इनके कुछ संशोधित रूप के समान अनेक पंथ, इन सब में भक्तिमय समभाव रखना चाहिये। क्योंकि इनके भीतर प्राणिमात्र या मनुष्यमात्र के लिये हितकारी नैतिक नियम पाये जाते हैं।

प्रश्न इन धर्मों के भीतर बहुत से सम्प्रदाय भी हैं जो विद्वानों के मत-भेद दार्शनिक सिद्धान्त गुरुओं के व्यक्तिगत झगड़े आदि के फल हैं इन के विषय में समभाव कैसा रहना चाहिये। जैसे हिन्दुओं में शैव वैष्णव, मुसलमानों में शिया सुन्नी, ईसाईयों में प्रोटेस्टेन्ट कैथोलिक, जैनियों में दिगम्बर श्वेताम्बर, बौद्धों में हीनयान महायान। इनके भीतर उपसम्प्रदाय भी होते हैं। कई उप-सम्प्रदाय तो ऐसे हैं जो लालची लोभी कामुक गुरुओं के द्वारा भोली जनता को फसाकर बनाये गये हैं उनके विषय में क्या करना चाहिये।

उत्तर—समभावी को मूल धर्म पर ही मुख्य दृष्टि रखना चाहिये। किसी धर्मस्थान पर सम्प्रदाय की छाप लगी हो तोभी समभावी उस छाप पर उपेक्षा करेगा वह तो मूल धर्मस्थान की दृष्टि से वहां जायगा। मन्दिर दिगम्बर हो या श्वेताम्बर, समभावी तो जैन मन्दिर समझ कर जायगा उसे दिगम्बर श्वेताम्बर आदि के भेद गौण

रहेंगे। हां, कोई कोई सम्प्रदाय सामयिक सुधार के कारण भी बन जाते हैं। जैसे प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय। ऐसे सम्प्रदाय में यह देखना चाहिये कि वह सुधार आज के लिये कितना उपयोगी है। जिस सम्प्रदाय का जो अंश आज उपयोगी हो उसके उस अंश का समर्थन करना चाहिये बाकी पर उपेक्षा या अत्यावश्यक हो तो संयत विरोध। जो सम्प्रदाय किसी सिद्धान्त पर नहीं, घटना-विशेष पर टिके हों उन पर उपेक्षा करना चाहिये। जैसे खलीफों की नामावली के झगड़े पर टिके हुए मुसलमानों के सम्प्रदाय। ऐसे सम्प्रदायों को अमान्य करना चाहिये और उपेक्षा रखना चाहिये। और जो सम्प्रदाय धूर्त गुरुओं ने स्वार्थवश बना लिये हैं उनका तो यथासम्भव विरोध करना चाहिये। और उनके अनुयायिओं को मूल धर्म की ओर खींचना चाहिये। हाँ, विरोध का काम बहुत संयम और चतुराई का है हरएक के वश का नहीं है। अवसर देख कर समझावट के लिये ही विरोध होना चाहिये। अगर यह मालूम हो कि विरोध का परिणाम धार्मिक कटुता पैदा करेगा तो जबतक उचित अवसर न आ जाय तबतक मौन रखना चाहिये। सम्प्रदायों के विषय में साधारणनीति यह है कि उन्हें गौण करके मूल धर्म की तरफ झुकाया जाय।

प्रश्न—मूल धर्म किसे कहना चाहिये और सम्प्रदाय किसे कहना चाहिये?

उत्तर—जो किसी धर्म के देव या शास्त्र को पूर्ण प्रमाण मानकर उनकी दुहाई देकर कोई संगठन करते हैं वे सम्प्रदाय हैं। जिन में किसी दूसरे धर्म के देव या शास्त्र को पूर्ण प्रमाण नहीं माना जाता [आदर भले ही रक्खा जाता हो] न उस शास्त्र की दुहाई दी जाती है अपना स्वतन्त्र सन्देश दिया जाता है वह धर्म है। जैसे शैव और वैष्णव आर्य समाज आदि वेद की दुहाई देते हैं इसलिये वैदिक धर्म है, शैव वैष्णव आर्य समाज आदि सम्प्रदाय हैं। दिगंबर श्वेतांबर आदि म. महावीर की दुहाई देते हैं. इसलिये जैन धर्म है, दिगंबर श्वेताम्बर आदि संप्रदाय हैं। मतलब यह कि धर्मप्रणेता अपने अनुभव की दुहाई देकर जगत को देशकाल के अनुसार क्रान्ति-मय सन्देश देता है। सम्प्रदाय-प्रणेता किसी देव या शास्त्र के मूल मानकर उसकी टीका के रूप में अपना सन्देश देता है। परिस्थिति के अनुसार वह भी सुधार करता है पर वह सुधार मूल की व्याख्या के रूप में होता है। इसका यह मतलब नहीं है कि मूल धर्म में दूसरे धर्मों की निन्दा रहती है या दूसरे शास्त्रों से घृणा रहती है। मूल धर्म इन बातों से बहुत दूर रहते हैं। जैसे इसलाम में म. ईसा आदि की खूब तारीफ है बाइबिल तोरात आदि की प्रामाणिकता भी स्वीकृत की गई है पर हजरत मुहम्मद को जो सन्देश जगत के सामने देना था वह उनने अपने या ईश्वर के नाम से दिया, किसी पुस्तक की पर्वाह नहीं की। हाँ, साधारण दृष्टिसे इतना समर्थन आवश्य कराया कि मेरे द्वारा जो सन्देश जगत को मिल रहा है वह सत्य है पहिले सन्देश भी सत्य थे इसलिये सब एक हैं। पुराने ग्रंथ विकृत हो गये इसलिये मेरे द्वारा उनका नया संस्करण भेजा जा रहा है। मतलब यह कि उनने अपनी बात का दूसरों से समर्थन कराया पर किसी पुस्तक के शब्दों के या देव या स्थान के गुलाम न बने। मूल धर्म सम्प्रदायों की अपेक्षा अधिक मौलिक उदार और क्रान्तिमय होते हैं। वे सम्प्रदायों की

अपेक्षा जनहित की अधिक पर्वाह करते हैं पुराने देव और शास्त्रों की कम।

प्रश्न– सिक्ख पंथ कबीर पंथ आदि को किस श्रेणी में डालना चाहिये।

उत्तर– यह एक बीचकी चीज हैं। ये सम्प्रदायों के समान नहीं हैं इन में मूल धर्म की विशेषता बहुत अंशों में पाई जाती है। अगर धर्म और सम्प्रदाय इन भागों में सब को विभक्त करना हो तो उन्हें धर्म की श्रेणी में ले जाना पड़ेगा भले ही इन के पीछे विशाल इतिहास न हो या बहुत संख्या न हो। अथवा दोनों के बीचका पंथ शब्द इनके लिये है ही।

इन सब धर्मों के भीतर अधिक से अधिक भक्तिमय समभाव की आवश्यकता है। इन में जो विशेष तरतमता मालूम होती है उस भ्रम के पाँच कारण हैं। १ धर्मशास्त्र के स्थान का भ्रम, २ परिवर्तन पर उपेक्षा, ३ दृष्टि की विकलता, ४ अनुदारता के संस्कार, ५ सर्वज्ञता की असंगत मान्यता।

धर्मशास्त्र का स्थान–सभी धर्म सत्य अहिंसा शील त्याग सेवा आदि का उपदेश देते हैं और सभी धर्मों का ध्येय जन समाज को सदाचार में आगे बढ़ाना है। अगर सारा जगत सदाचारी प्रेमी सेवाप्रिय हो जाय तो जगत में दुःख ही न रहे। प्राकृतिक दुःख भी घट जाँय और जो रहें भी, वे परस्पर सेवा सहानुभूति से मालूम भी न पड़ें। बीमारी का कष्ट इतना नहीं खटकता जितना अकेले पड़े पड़े तड़पने का। मनुष्य दूसरों पर जो अपना बोझ लादता है अत्याचार करता है सेवा नहीं देता यही कष्ट सबसे अधिक है सभी धर्म इसको हटाने का प्रयत्न करते हैं. इसलिये धर्मशास्त्र का काम सिर्फ नैतिक नियम, उन के पालन का उपाय, उनके न पालने पालने से होनेवाले हानि लाभ बताना है। अगर सभी धर्मशास्त्र इतना ही काम करते तो उन में जो परस्पर अन्तर है वह रुपये में बारह आना घटजाता, पर आज धर्मशास्त्र में इतिहास भूगोल ज्योतिष पदार्थ विज्ञान दर्शन आदि नाना शास्त्र मिल गये हैं इसलिये एक धर्म दूसरे धर्म से जुदा मालूम होने लगा है।

अगर तुम से कोई पूछे–दो और दो कितने होते हैं ? तुम कहोगे चार। फिर पूछे हिन्दू धर्म के अनुसार कितने होते हैं इसलाम के अनुसार कितने होते हैं जैनधर्म के अनुसार कितने होते हैं ईसाई धर्म के अनुसार कितने होते हैं. तो तुम कहोगे–यह क्या सवाल है ? धर्मों से इस का क्या सम्बन्ध, यह तो गणित का सवाल है ? इसी प्रकार तुम से कोई पूछे कलकत्ता से बम्बई कितनी दूर है एशिया कितना बड़ा है और फिर इनका उत्तर हिंदू मुसलमान आदि धर्मों की अपेक्षा चाहे तो उससे भी यही कहना होगा कि यह धर्मशास्त्र का सवाल नहीं है भूगोल का सवाल है। इसी तरह सूर्य चन्द्र तारे पृथ्वी आदि के सवाल [भूगोल खगोल] युग युगान्तर के सवाल (इतिहास) द्रव्यों या पदार्थों के और आत्मअनात्म लोक परलोक आदि के सवाल (विज्ञान और दर्शन) धर्म शास्त्र के विषय नहीं हैं। पर इन्हीं बातों को लेकर धर्मशास्त्रों में इतना विवेचन हुआ है और कल्पनाओं के द्वारा अँधेरे में टटोलने के कारण इतना मतभेद रहा है कि ऐसा मालूम होता है कि एक धर्म दूसरे धर्म से मिल ही नहीं सकता। अगर धर्म शास्त्र के स्थान का ठीक ठीक ज्ञान हो जाय

और धर्म शास्त्र के सिर पर लदा हुआ बोझ दूर हो जाय तो धर्मों में इतना भेद ही न रहे। धर्म शास्त्र पर लदे हुए इस बोझ से बड़ी भारी हानि हुई है। धर्मों में अन्तर तो बढ़ ही गया है साथ ही इन विषयों का विकास भी रुक गया है। धर्मशास्त्र के ऊपर श्रद्धा रखना तो जरूरी था और उससे लाभ भी था पर उसमें आये हुए सभी विषयों पर श्रद्धा रखने से सभी विषयों में मनुष्य स्थिर हो गया। सदाचार आदि के नियम इतने परिवर्तनशील या विकासशील नहीं होते जितने भौतिक विज्ञान आदि। सदाचार में मनुष्य हजार वर्ष पहिले के मनुष्य से बढ़ा नहीं है कदाचित घट ही गया है पर भौतिक विज्ञान आदि में कई गुणी तरक्की हुई है। अब अगर धर्मशास्त्र के साथ भौतिक विज्ञान आदि भी चले तो जगत की बड़ी भारी हानि हो, और धार्मिक समाज प्रगति के मार्ग में बड़ा भारी अड़ंगा बन जाय, जैसा कि वह बनता रहा है और बहुत जगह आज भी बना है। इसलिये सब से पहिली बात यह है कि धर्मशास्त्र में से दर्शन इतिहास भूगोल खगोल आदि विषय अलग कर दिये जाँय। फिर धर्मों का अन्तर बहुत मिट जायगा।

प्रश्न—*धर्मशास्त्र में ये विषय आये क्यों ?*

उत्तर—पुराने समय में शिक्षण का इतना प्रबन्ध नहीं था। धर्मगुरु के पास ही हरएक विषय की शिक्षा लेना पड़ती थी। धर्मगुरुओं पर अचल श्रद्धा होने से हरएक विषय पर अचल श्रद्धा होने लगी। गुरु लोग भी शिक्षण के सुभीते के लिये धर्मशास्त्र में ही हरएक विषय खींचतान कर भरने लगे इस प्रकार धर्मशास्त्र सर्व-विद्या-भंडार बन गये। शिक्षण की दृष्टि से तो उस जमाने में अवश्य सुभीता हुआ पर इन विद्याओं के विकास रुकने और धर्म धर्म में भेद बढ़ने का नुकसान भी काफी हुआ।

धर्मशास्त्र में इन विषयों के आने का दूसरा कारण है धर्म के ऊपर श्रद्धा जमाने का और लोगों की अधिक से अधिक जिज्ञासाओं को किसी तरह शान्त करने का प्रयत्न।

धर्मगुरुने नीति सदाचार का उपदेश दिया लेकिन शिष्य तो कोई भी काम करने के लिये तभी तैयार होता जब उससे सुख की आशा होती। परन्तु दुनिया का अनुभव कुछ उल्टा था। उसने कहा—दुनिया में तो दुराचारी विश्वास-घाती दंभी लोग वैभवशाली तथा आनन्दी देखे जाते हैं और जो सच्चे त्यागी हैं परोपकारी हैं नीतिमान हैं सदाचारी हैं वे पद पद ठोकर खाते हैं तब धर्म का पालन क्यों किया जाय ? शिष्य का यह प्रश्न निर्मूल नहीं था। शिष्य को यह समझना कठिन था कि असत्य भी सत्यकी *ओट में चल पाता है इसलिये सत्य महान है ? धर्म के पालन में जो असली आनन्द है वह अधर्मी नहीं पासकता।* ऐसे समाधानों से बुद्धि को थोड़ासा संतोष मिल सकता था पर हृदय को सन्तोष नहीं मिल सकता था। हृदय तो धर्म के फल में भीतरी सुख ही नहीं, बाहरी फल भी चाहता था। जब गुरुने कहा—हमारा जीवन पूरा नाटक नहीं है—नाटक का एक अंक है। नाटक का एक अंक देखने से पूरे नाटक का परिणाम नहीं मालूम होता। रामके नाटक में कोई सीता-हरण तक खेल देखकर निर्णय करे कि पुण्य का फल गृह-निर्वासन और नारीहरण है तो उसका यह निर्णय ठीक न होगा इसी प्रकार एक जीवन से पुण्य पाप के फल का निर्णय करना अनुचित है। धर्म का असली फल तो परलोक में मिलता है।

बीज से फल आने तक जैसे महीनों और वर्षों लगजाते हैं उसी तरह पुण्य पाप फल के बीज भी वर्षों युगों और जन्म जन्मन्तरों में अपना फल देते हैं।

इस उत्तर से शिष्य के मनका बहुतसा समाधान होगया पर जिज्ञासा और भी बढ़गई। पर लोक क्या है वहाँ कौन जाता है शरीर तो यहीं पड़ा रह जाता है परलोक कैसा है फल कौन देता है पहिले कब किन को कैसा फल मिला है? इन प्रश्नों के उत्तरों में गुरुको ईश्वर स्वर्ग नरक युग युगान्तर उनके महापुरुष आदि का वर्णन करना पड़ा, इसके लिये जो कुछ तर्क-सिद्ध मिला वह किया बाकी कल्पना से भरागया। इस प्रकार धर्मशास्त्र में बहुत से विषय आगये और उन में कल्पना का भाग काफी होने से विभिन्नता भी हुई, क्यों कि हरएक धर्म-प्रवर्तक की कल्पना एकसी नहीं हो सकती थी।

आज हमें इतना ही समझना चाहिये कि धर्म के फल को समझाने लिये ये उदाहरण मात्र हैं। भिन्न भिन्न धर्मों के जुदे जुदे वर्णन भी सिर्फ इस बात को बताते हैं कि अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे कर्म का फल बुरा है।

अगर कोई कहानी आज तथ्यहीन मालूम हो तो हमें दूसरी कहानी बना लेना चाहिये या खोज लेना चाहिये। धर्मशास्त्र में आये हुए विषयों को विज्ञान की दृष्टि से न देखना चाहिये धर्म के स्पष्टीकरण की दृष्टि से देखना चाहिये। ईश्वर का दार्शनिक वर्णन धर्मशास्त्र के भीतर कर्मफल प्रदान के रूप में ही रहेगा। इस दृष्टि से परस्पर विरोधी वर्णनों की भी संगति बैठ जायगी।

प्रश्न—इतिहास आदि को धर्मशास्त्र का अंग न माना जाय तो भले ही न माना जाय पर दर्शन शास्त्र को अगर अलग कर दिया जायगा तो धर्म की जड़ ही उखड़ जायगी। धर्म का कार्य सदाचार दुराचार का प्रदर्शन कराना तो है ही, साथ ही यह बताना भी है कि वह फल कैसे मिलता है। इसके उत्तर में दर्शन शास्त्र का बड़ा भाग आ जाता है इसलिये दर्शन को धर्म से अलग नहीं किया जा सकता।

उत्तर—धर्मशास्त्र दर्शन शास्त्र का ही नहीं हरएक शास्त्र का सहारा लेता है फिर भी वह उन सब से जुदा है। इस की परीक्षा यों हो-सकती है कि दर्शन के मिथ्या होने पर भी धर्म सत्य हो सकता है और दर्शन के सत्य होने पर भी धर्म मिथ्या हो सकता है। इसके अतिरिक्त दर्शन की बहुत सी बातों से धर्म का कोई संबंध ही नहीं जुड़ता। दर्शन शास्त्र के मुख्य मुख्य प्रश्न ये हैं।

ईश्वरवाद, परलोकवाद या आत्मवाद, सर्वज्ञवाद, मुक्तिवाद, द्वैताद्वैत, नित्यानित्यवाद, आदि

ईश्वरवाद— जगत का सृष्टा या नियन्ता कोई एक आत्मा है जो पुण्य पाप का फल देता है यह ईश्वर-वाद है। कर्मफल दाता-नियन्ता-सृष्टा-कोई एक आत्मा नहीं है यह निरीश्वरवाद है। दर्शन शास्त्र की दृष्टि से इन दो में से कोई एक सच्चा है। पर धर्मशास्त्र दोनों को सच्चा और दोनों को झूठा कर सकता है। धर्मशास्त्र की दृष्टि में ईश्वरवाद की सचाई यह है कि हमारे पुण्य पाप निरर्थक नहीं हैं। अगर हम जगत के कल्याण के लिये दिनरात परिश्रम करते हैं फिर भी जगत् हमारी अवहेलना करता है तो हमारा यह गुप्त पुण्य व्यर्थ न जायगा क्यों कि जगत देखे या न देखे पर ईश्वर अवश्य

देखता है। इसलिये वह अवश्य किसी न किसी रूप में सत्फल देगा। इसी प्रकार अगर हम कोई पाप करते हैं पर दुनिया की आँख में धूल झोंक कर उस के अपयश से बचे रहते हैं तो भी वह पाप निरर्थक न जायगा क्यों कि ईश्वर की आँखों में धूल नहीं झोंकी जासकती। वह पाप का फल कभी न कभी अवश्य देगा। इस प्रकार गुप्त पाप से भी भय और गुप्त पुण्य से भी संतोष पैदा होना ईश्वरवाद का फल है। ऐसा ईश्वरवाद धर्म की दृष्टि में सत्य है, भले ही ईश्वर हो या न हो अथवा सिद्ध होता हो या न होता हो। पर अगर ईश्वरवाद का यह अर्थ है कि ईश्वर दयालु है प्रार्थनाओं से खुश होने पर वह पाप माफ कर देता है इसलिये पाप की चिन्ता न करना चाहिये ईश्वर को खुश करने की चिन्ता करना चाहिये तो यह ईश्वरवाद धर्मशास्त्र की दृष्टि में मिथ्या है भले ही दर्शन शास्त्र ईश्वरवाद को सिद्ध कर देता हो।

इसी प्रकार अनीश्वरवाद के विषय में भी है। अगर अनीश्वरवाद का यह अर्थ है कि ईश्वर युक्ति तर्क से सिद्ध नहीं होता पुण्य पाप फल की व्यवस्था प्राकृतिक नियम के अनुसार ही होती है। जैसे छुप कर भी विष खाया जाय और उससे अपराध की क्षमा याचना की जाय तो विष के ऊपर इसका कुछ प्रभाव न पड़ेगा, विष खाने का निश्चित दंड प्राकृतिक नियम के अनुसार मिलेगा। इसी प्रकार हम जो पाप करते हैं उस का फल भी प्राकृतिक नियम के अनुसार अवश्य मिलता है। इस प्रकार का अनीश्वरवाद--कर्मवाद तर्क-सिद्ध हो या न हो धर्म शास्त्र की दृष्टि में सत्य है। पर अगर अनीश्वरवाद का अर्थ पुण्य पाप के फल की अव्यवस्था है इसलिये किसी न किसी तरह अपना स्वार्थ सिद्ध करना जीवन का ध्येय है, सामूहिक स्वार्थ की या नैतिक नियमों की पर्वाह करना व्यर्थ है। इस प्रकार का अनीश्वरवाद तर्क-सिद्ध भी हो तो भी धर्मशास्त्र की दृष्टि में मिथ्या है। इस प्रकार धर्मशास्त्र ईश्वरवाद सम्बन्धी दार्शनिक चर्चा का उपयोग करके भी उससे भिन्न है क्यों कि दार्शनिक पद्धतिसे सिद्ध किये हुए ईश्वरवाद अनीश्वरवाद की उसे पर्वाह नहीं है। उसकी दृष्टि स्वतन्त्र है।

परलोकवाद या आत्मवाद--आत्मा तो हरएक मानता है पर आत्मा कोई मूलवस्तु [तत्त्व] है या नहीं, इसी पर विवाद है। आत्मा को नित्य मानने से परलोक तो सिद्ध हो ही जाता है क्योंकि आत्मा जब नित्य है तब मरने के बाद कहीं न कहीं जायगा और कहीं न कहीं से मरकर आया भी होगा वही परलोक है। यद्यपि आत्मा को अनित्य या अतत्त्व मान कर भी परलोक बन सकता है पर धर्म की दृष्टि में इससे कोई अन्तर नहीं होता। जैसे पानी आक्सिजन आदि के संयोग से बना है फिर भी उस का यह रासायनिक आकर्षण भाफ बनने पर भी नहीं टूटता इस प्रकार संयोगज होने पर भी भाफ और पानी के रूप में अनेकबार पुनर्जन्म करता रहता है उसी प्रकार आत्मा संयोगज होकर भी पुनर्जन्म कर सकता है। इस प्रकार आत्मवाद और परलोकवाद में अन्तर है। आत्मवाद आत्मा को नित्य सिद्ध करता है और परलोकवाद आत्मा को अनेक भवस्थायी सिद्ध करता है। पर इन दोनों का धर्मशास्त्र में एकसा उपयोग है क्योंकि धर्मशास्त्र आत्मा की नित्यता और परलोक से एक ही बात सिद्ध करना चाहता है कि पुण्य पाप का फल इस जन्म में यदि

न मिल सके तो पर जन्म में अवश्य मिलेगा पुण्यपाप व्यर्थ नहीं जायगा। यह बात आत्मवाद और परलोकवाद में एक सरीखी है। दर्शनशास्त्र अगर अपनी युक्तियों से परलोक या आत्मा का खण्डन भी करदे तो भी पुण्यपाप फल की दृष्टि से धर्मशास्त्र परलोक या आत्मवाद को सत्य मानेगा।

यदि आत्मवाद का यह अर्थ हो कि आत्मा तो अमर है किसी की हत्या कर देने पर भी आत्मा मर नहीं सकता इसलिये हिंसा अहिंसा का विचार व्यर्थ है, ऐसी हालत में दर्शनशास्त्र की दृष्टि में आत्मवाद सत्य होने पर भी धर्मशास्त्र की दृष्टि में असत्य हो जायगा। आत्मवाद के विषय में दर्शनशास्त्र बदलता रहे तो भी धर्मशास्त्र न बदलेगा उसकी दृष्टि पुण्यपाप की सार्थकता पर है। यही आत्मवाद के विषय में धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र की जुदाई है।

सर्वज्ञवाद—सर्वज्ञ हो सकता है या नहीं, या हो सकता है तो कैसा हो सकता है दर्शनशास्त्र के इस विषय में अनेक मत हो सकते हैं और हैं, पर धर्मशास्त्र को इससे कोई मतलब नहीं। धर्मशास्त्र तो सिर्फ़ यही चाहता है कि मनुष्य नैतिक नियमों पर पूर्ण विश्वास करे और तदनुसार चले। अब इसके लिये बहुदर्शी सर्वज्ञ माना जाय या श्रेष्ठ विद्वान सर्वज्ञ माना जाय, धर्मशास्त्र इसमें कुछ आपत्ति न करेगा। सिर्फ़ सर्वज्ञता के उस रूप पर आपत्ति करेगा जो धर्मसमभाव का विघातक है और विकास का रोकनेवाला है। इस सर्वज्ञवाद के विषय में दर्शनशास्त्र परस्पर में जितना विरोधी है उतना धर्मशास्त्र नहीं है। कोई सर्वज्ञ माने या न माने यदि नैतिक नियमों की प्रामाणिकता में उसका विश्वास है तो धर्मशास्त्र की दृष्टि से उसने सर्वज्ञ विषयक सत्य पा लिया। पर दर्शनशास्त्र इस बात पर उपेक्षा करता है। वह तो सर्वज्ञता के रूप का तथ्य जानना चाहता है। यही इन दोनों में अन्तर है।

मुक्तिवाद—मुक्तिवाद के विषय में भी दर्शनशास्त्र में अनेक मत हैं। कोई मानता है मुक्ति में आत्मा अनन्त ज्ञान अनन्त सुख में लीन अनन्त काल तक रहता है, कोई कहता है वहाँ ज्ञान और सुख नहीं रहता उसके विशेष गुण नष्ट हो जाते हैं, कोई कहता है मुक्ति में आत्मा का नाश हो जाता है, कोई कहता है वहाँ बिना इन्द्रियों के सब भोगों को भोगता है, कोई कहता है उसका पृथक अस्तित्व मिट जाता है, कोई कहता है सदा के लिये ईश्वर के पास पहुँच जाता है, कोई कहता है मुक्ति नित्य नहीं है जीव वहाँ से लौट आता है, इस प्रकार नाना मत हैं। धर्मशास्त्र इस विषय में बिलकुल तटस्थ है। धर्मशास्त्र के लिये तो स्वर्ग नरक मोक्ष आदि का इतना ही अर्थ है कि पुण्य पाप-अच्छे बुरे कार्यों-का फल अवश्य मिलता है। जिसने इस बात पर विश्वास कर लिया फिर मुक्ति पर विश्वास किया या न किया, उसको धर्मशास्त्र मिथ्या नहीं कहता।

प्रश्न—अगर मुक्ति न मानी जाय तो मनुष्य धर्म क्यों करेगा? मुक्ति हो या न हो, पर मुक्ति का आकर्षण तो नष्ट न होना चाहिये।

उत्तर—मुक्ति पर विश्वास होना उचित है उसमें कोई बुराई नहीं है, पर इस के लिये बुद्धि के हाथों में हथकड़ी नहीं डाली जा सकती, बुद्धि तो अपना काम करेगी ही, इसलिये अगर किसी को मुक्ति तर्क-संगत न मालूम हुई तो इसीलिये उसे धर्म न छोड़ देना चाहिये, न छोड़ने की ज़रूरत है। स्वर्ग की मान्यता से भी या परलोक

की मान्यता से भी धर्म के लिये आकर्षण रह सकता है।

प्रश्न--परिमित सुख की आशा में मनुष्य जीवनोत्सर्ग क्यों करेगा ?

उत्तर--मनुष्य सरीखा हिसाबी प्राणी दिन-रात जितने लाभ से सन्तुष्ट रहता है स्वर्ग में उससे कहीं अधिक लाभ है। मनुष्य यह जानता है कि अच्छी रोटी खाने पर भी शामको फिर भूख लगेगी फिर भी रोटी खाता है और उस रोटी के लिये दुनिया भर की विपदा मोल लेता है। मनुष्य दिनरात कोल्हू के बैल की तरह घर और बाजार में चक्कर काटता है और सब तरह की परेशानियाँ उठाता है तब वह स्वर्ग के लिये यह हठ करके क्यों बैठ जायगा कि मैं तो तभी धर्म करूंगा जब मुझे मोक्ष मिलेगा, स्वर्ग के लिये मैं कुछ नहीं करता। सच तो यह है कि जो तत्त्वदर्शी है उसको सदाचार का फल ढूढ़ने के लिये स्वर्ग मोक्ष की भी ज़रूरत नहीं होती, वह तो सदाचार का सुफल यहीं देख लेता है, जब बाहर नहीं दिखाई देता तब भीतर देख लेता है। और जो तत्त्वदर्शी नहीं है वह मोक्ष के आनन्द को समझ ही नहीं सकता। उसे स्वर्ग और मोक्ष में से किसी एक चीज़ को चुनने को कहा जाय तो वह स्वर्ग ही चुनेगा। हाँ, मोक्ष के अर्थ को ठीक न समझकर साम्प्रदायिक छाप के मारे कुछ भी कहे। मतलब यह है कि मुक्ति के मानने से सदाचार का आकर्षण नष्ट नहीं होता इसलिये धर्मशास्त्र मुक्ति के विषय में तटस्थ है।

द्वैताद्वैत--द्वैत का अर्थ है जगत दो या दो से अधिक तत्त्वों से बना हुआ है। जैसे पुरुष और प्रकृति, जीव पुद्गल धर्म अधर्म काल आकाश, पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश काल दिशा आत्मा मन आदि ये सब द्वैतवाद हैं। अद्वैत का अर्थ है जगत का मूल एक है जैसे ब्रह्म। दर्शनशास्त्र की यह गुत्थी अभी तक नहीं सुलझी। भौतिक विज्ञान भी इस विषय में काफी प्रयत्न कर रहा है। बहुत से वैज्ञानिक सोचने लगे हैं कि तत्त्व बानवे नहीं हैं एक है फिर भले ही वह ईथर हो या और कुछ। अद्वैत की मान्यता में मूल तत्त्व चेतन है या अचेतन, यह प्रश्न ही व्यर्थ है। चेतन का अर्थ अगर ज्ञान-जानना--विचार करना आदि है तो उस मूल अवस्था में यह सब असंभव है इसलिये अद्वैत की मान्यता में मूलतत्त्व अचेतन ही रहेगा। अथवा बीजरूप में चेतन और अचेतन दोनों ही उसमें मौजूद हैं इसलिये उसे चैतन्याचैतन्यातीत कह सकते हैं। द्वैत अद्वैत की यह समस्या सरलता से नहीं सुलझ सकती पर धर्मशास्त्र को इसकी जरा भी चिन्ता नहीं है। यह समस्या सुलझ जाय तो धर्मशास्त्र का कुछ लाभ नहीं और न सुलझे तो कुछ हानि नहीं। जगत मूल में एक हो या दो, सदाचार की आवश्यकता और रूप में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। अगर जगत मूल में एक है तो इस का यह अर्थ नहीं कि हम किसी को तमाचा मारें तो उसे न लगेगा अथवा हमें ही लगेगा। द्वैत हो या अद्वैत, हिंसा अहिंसा आदि विवेक उसी तरह रखना होगा जैसा आज रक्खा जाता है। इसलिये द्वैत अद्वैत के दार्शनिक प्रश्न का धर्मशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। द्वैत या अद्वैत मानने से मनुष्य धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि आस्तिक और ईमानदार नहीं बनता।

हां, द्वैत या अद्वैत जो कुछ भी बुद्धि को जच जाय उसका उपयोग धर्मशास्त्र अच्छी तरह कर सकता है। अद्वैत का उपयोग धर्मशास्त्र

में विश्वप्रेम के रूप में हो सकता है। द्वैत का उपयोग आत्मा और शरीर को भिन्न मानकर शारीरिक सुखों को गौण बनाने में किया जा सकता है।

दर्शन के दो परस्पर विरोधी सिद्धान्त धर्मशास्त्र में एक सरीखे उपयोगी हो सकते हैं और सत्य अहिंसा की पूजा के काम में आ सकते हैं यह धर्म शास्त्र से दर्शन शास्त्र की भिन्नता का सूचक है।

नित्यानित्यवाद– वस्तु नित्य है या अनित्य, यह वाद भी धर्म के लिये निरुपयोगी है। अगर नित्यवाद सत्य है तो भी हत्या करना हिंसा है। अगर अनित्यवाद या क्षणिकवाद सत्य है तो भी यह कहकर खून माफ नहीं किया जा सकता कि वह तो हर समय नष्ट हो रहा था मैंने उसका खून किया तो क्या बिगड़ गया, इसलिये नित्यवाद अनित्यवाद का आत्म शुद्धि या सदाचार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं बैठता। हां, भावना के रूप में दोनों का उपयोग किया जा सकता है। नित्यवाद से हम आत्मा के अमरत्व की भावना से मृत्यु से निर्भय हो सकते हैं और अनित्यवाद से भोगों की या जीवन की क्षणभंगुरता के कारण इससे निर्मोह हो सकते हैं। इस प्रकार धर्म शास्त्र तो नित्यवाद का और अनित्यवाद का समान रूप में उपयोग करता है। दर्शन शास्त्र तो नित्यवाद या अनित्यवाद को-दो में से किसी एक को मिथ्या अवश्य कहेगा परन्तु धर्म शास्त्र दोनों का सत्य के समान उपयोग कर सकेगा यह धर्म शास्त्र और दर्शन शास्त्र का भेद है।

इस प्रकार धर्म शास्त्र और दर्शन शास्त्र आदि को अलग कर देने से, अर्थात् धर्मशास्त्र के सत्य को दर्शन शास्त्र या अन्य किसी शास्त्र के सत्य पर अवलम्बित न करने से धर्मों का पारस्परिक विरोध बहुत शान्त हो जाता है। इसलिये धर्मशास्त्र का स्थान समझलेना चाहिये। और इस विषय का भ्रम दूर कर देना चाहिये।

प्रश्न–धर्मशास्त्र का स्थान समझ लेने से दर्शनशास्त्र तथा और दूसरे शास्त्रों से सम्बन्ध रखनेवाले झगड़े अवश्य शान्त हो जाँयगे, पर धर्मों में इतना ही विरोध नहीं है। प्रवृत्ति निवृत्ति, हिंसा अहिंसा-वर्ण अवर्ण तथा और भी आचार शास्त्र सम्बन्धी भेद हैं। इस बातों में प्रायः सभी परस्पर विरुद्ध हैं तब धर्मसमभाव कैसे रह सकता है?

उत्तर इन बातों को लेकर जो धर्मों में विरोध मालूम होता है उसके कारण हैं परिवर्तन पर उपेक्षा और दृष्टि की विकलता। पहिले धर्म-विरोध-भ्रम के पांच कारण बताये हैं उनमें से ये दूसरे तीसरे हैं जो कि आचार-विषयक भ्रम के कारण हैं।

२ परिवर्तन पर उपेक्षा—ऋतु के अनुसार जैसे हमें अपने रहन सहन भोजन आदि में कुछ परिवर्तन करना पड़ता है उसी प्रकार देशकाल बदलने पर सामाजिक विधानों में परिवर्तन करना पड़ता है। इसलिये एक जमाने में जो विधान सत्य होता है दूसरे जमाने में वही विधान असत्य बन जाता है इसलिये एक जमाने का धर्म दूसरे जमाने के धर्म से अलग हो जाता है। परन्तु अपने अपने समय में दोनों ही समाज के लिये हितकारी होते हैं। जो लोग परिवर्तन के इस मर्म को समझजाते हैं उन्हें धर्मों में विरोध नहीं मालूम होता वे परस्पर विरुद्ध मालूम होनेवाले आचारों में समन्वय करके उनसे लाभ उठा सकते हैं। परन्तु जो परिवर्तन पर उपेक्षा करते हैं उन्हें

हर बात में विरोध ही नजर आता है, वे इस विषय में विषमता और विरोध के अन्तर को ही नहीं समझते। विषमता तो नर और नारी में भी काफी है पर इस से उनमें विरोध सिद्ध नहीं होता। व्यवहार की यह साधारण बात धर्म के विषय में भी अगर काम में लाई जाय तो सुधारक और उदार बनने के मार्ग में कठिनाई न रहे।

एक जमाने में समाज की आर्थिक व्यवस्था के लिये वर्ण-व्यवस्था की जरूरत पड़ी तो धर्म में वर्ण-व्यवस्था को स्थान मिलगया। उससे समाज ने काफी लाभ उठाया, लोग आजीविका की चिन्ता से मुक्त हो गये, परन्तु इस के बाद वर्ण-व्यवस्था ने जातीयता का रूप धारण करके खान पान विवाहादि सम्बन्ध में अनुचित बाधाएँ डालना शुरु कर दिया, जाति के कारण गुणहीनों की पूजा होने लगी, उन के अधिकारों से गुणी और निरपराध पिसने लगे, तब वर्ण-व्यवस्था को नष्ट कर देने की आवश्यकता हुई। इस समयानुसार परिवर्तन में विरोध किस बात का? वैदिक धर्म की वर्ण-व्यवस्था और जैन धर्म बौद्ध धर्म का वर्णव्यवस्था-विरोध, ये दोनों ही अपने अपने समय में समाज के लिये कल्याणकरी रहे हैं। इसलिये धर्म-समभावी को उचित परिवर्तन के लिये सदा तैयार रहना चाहिये और परिवर्तन पर उपेक्षा कभी न करना चाहिये।

३ दृष्टि की विकलता– दृष्टि की विकलता से किसी चीज का पूरा रूप या पर्याप्तरूप नहीं दिखता, इसी से हिंसा अहिंसा और प्रवृत्ति निवृत्ति के विरोध पैदा होते हैं। सभी धर्म अहिंसा के प्रचारक हैं परन्तु अहिंसा का पूर्णरूप हरएक आदमी नहीं पालसकता और न हर समय अहिंसा का बाह्यरूप एकसा होता है। इसलिये कभी कभी अहिंसा में भी हिंसा का भ्रम हो जाता है। धर्मों में जो अहिंसा की तरतमता दिखाई देती है उसपर अगर पूरी तरह विचार किया जाय तो उसकी आवश्यकता हम समझ जाँयगे और फिर धर्मों में विरोध न रहेगा।

अहिंसा का पूरा पालन तो असंभव है। इसलिये उसका सम्भव और व्यवहार्य रूप ही दुनिया के आगे रक्खा जाता है। जहां का समाज जितना विकसित होता है अहिंसा का पालन उतना ही अधिक होता है। पर धर्म की दृष्टि तो अहिंसा की ओर ही होती है।
जैनधर्म में अहिंसा का पालन अधिक है इसलाम में कम है, पर दृष्टि दोनों की अहिंसा की तरफ है। इसलाम में पशुबलि आदि जो विधान पाये जाते हैं वे अधिक प्राणि हिंसा के बदले में कम प्राणि हिंसा के लिये होने से अहिंसा रूप हैं। जो मनुष्य-हत्या करता हो उसे पशुहत्या तक सीमित करना, जो अधिक पशुहत्या करता हो उसे कम पशुहत्या तक सीमित करना, जो प्रति-दिन पशुहत्या करता हो उससे कभी कभी पशु हत्या बंद कराना, जो अन्न मिलने पर भी स्वाद के लिये पशुहत्या करता हो उसे सिर्फ पेट भरने के लिये अनिवार्य प्रसंगों पर पशुहत्या करने देना आदि हिंसारूप कार्य अहिंसा की दिशा तरफ होने से अहिंसात्मक हैं। इसलिये सभी धर्म अहिंसा का सन्देश देनेवाले हैं।

प्रश्न–यह ठीक है कि सभी धर्म अहिंसा की तरफ दृष्टि रखते हैं उनमें जो हिंसा-विधान पाये जाते हैं उनमें उन धर्मों का कोई अपराध नहीं है इसलिये सभी धर्म आदरणीय हैं। यहां तक ठीक है, पर सभी धर्म समानरूप से पाल-नीय नहीं हो सकते। जो धर्म कम विकसित

लोगों में पैदा हुआ है उसका दर्जा कुछ न कुछ नीचा अवश्य है। ऐसी हालत में सभी धर्मोंमें समभाव कैसे पैदा होगा। और जो लोग छोटी श्रेणी के धर्म को मानते हैं उनके कार्य का समर्थन कैसे किया जा सकेगा ? या उन्हें धर्म के विषय में समान कैसे माना जा सकेगा ?

उत्तर--धर्म को अभिमान का विषय बनाना चन्दन को ईंधन बनाने के समान है इसलिये अमुक का धर्म छोटा और हमारा धर्म बड़ा यह अभिमान न रखना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि हरएक धर्म में कोई ऐसी बात निकल आती है जो दूसरे धर्मों में उतनी मात्रा में नहीं पाई जाती इसलिये किसी एक दृष्टि से बड़ेपन का विचार न करना चाहिये। अहिंसा की दृष्टि से यदि जैनधर्म महान है तो दीन-सेवा की दृष्टि से ईसाई धर्म महान है, भ्रातृ-भाव और व्याज न खाने (अपरिग्रह) की दृष्टि से इसलाम प्रधान है। बौद्धधर्म में इसलाम और ईसाई धर्म की दोनों विशेषताएँ काफी मात्रा में हैं हिन्दूधर्म की सर्वांग-पूर्णता असाधारण है। इसलिये सब दृष्टियों से किसी को बड़ा नहीं कहा जा सकता और एक एक दृष्टि से तो प्रायः सभी बड़े हैं।

तीसरी बात यह कि अभिमान की चीज़ धर्म नहीं हैं धर्माचरण है। यद्यपि धर्माचरण का भी अभिमान न करना चाहिये फिर भी महत्ता धर्माचरण की है। कोई बड़े शहर में भिखारी और मूर्ख हो सकते हैं और छोटे शहर में लखपति और चतुर हो सकते हैं। महत्ता अपनी योग्यता से है शहर से नहीं। इसी प्रकार महत्ता धर्माचरण [नैतिक जीवन] से है धर्म संस्था की सदस्यता से नहीं। यह तो जन्म की बात है किसी भी धर्म-संस्था में जन्म हो गया।

चौथी बात यह है कि धर्म-संस्था की महत्ता से धर्म-संस्थापक की महत्ता का माप नहीं लगाया जा सकता। जैसे एक ही योग्यता के चार पाठक छोटी बड़ी चार कक्षाओं को ऊँचा नीचा पाठ्य विषय पढ़ायेंगे पर उनकी कक्षा की तरतमता उनके ज्ञान की तरतमता की सूचक नहीं है। पहिली कक्षा पढ़ाने वाला और चौथी कक्षा पढ़ानेवाला, ये दोनों समान योग्यता रखकर भी कक्षा के छात्रों की योग्यता के अनुसार ऊँचा नीचा कोर्स पढ़ावेंगे। इसी प्रकार दो धर्मों के संस्थापक समान योग्यता रख कर भी परिस्थिति के अनुसार ऊँचा नीचा कोर्स पढ़ावेंगे। यह बहुत सम्भव है कि हजरत मुहम्मद अगर ढाई हजार वर्ष पहिले भारतवर्ष में पैदा होते तो महात्मा महावीर और महात्मा बुद्ध से बहुत कुछ मिलते जुलते होते। और महात्मा महावीर या महात्मा बुद्ध डेढ़ हजार वर्ष पहिले अरब में पैदा होते तो हजरत मुहम्मद से मिलते जुलते होते। इसलिये धर्म संस्थाओं की तुलना से धर्म संस्थापकों की तुलना न करना चाहिये।

पांचवी बात यह है कि सभी धर्म अपूर्ण हैं अथवा यह कहना चाहिये कि वे अमुक देश-काल व्यक्ति के लिये पूर्ण हैं इसलिये किसी युग में सभी धर्म समान पालनीय नहीं हो सकते। उनमें से अनावश्यक बातें निकाल देना चाहिये या गौण कराना चाहिये। और आवश्यक बातें जोड़ देना चाहिये।

जैसे--हिन्दू धर्म की वर्ण व्यवस्था आज विकृत होगई है, वह मुर्दा होकर सड़ रही है, उसे या तो मूल के रूप में लाना चाहिये या नष्ट कर देना चाहिये। इस समय नष्ट करना ही सम्भव

है इसलिये वही करना चाहिये । वर्ण व्यवस्था नष्ट हो जाने से शूद्राधिकार की समस्या हल हो जायगी। रही स्त्रियों की बात, सो हिन्दू शास्त्रों में नारी के अधिकारों में जो कमी है वह पूरी करना चाहिये । जैन धर्म की साधु संस्था आज अव्यवहार्य या निरुपयोगी हो गई है । आज ऐसी एकान्त निवृत्तिमय साधु संस्था गुप्तप्रवृत्तिमय होकर पाप बन गई है उसे नष्ट करना चाहिये और सांख्ययोग के स्थान में कर्मयोग को मुख्यता देना चाहिये । बौद्ध धर्म में अहिंसा का रूप विकृत हो गया है मृतमांस-भक्षण का विधान दूर करना चाहिये । मांस-भक्षण-निषेध को जोरदार बनाना चाहिये। महायान संम्प्रदाय के द्वारा आये हुए अनेक कल्पित देव देवी दूर होना चाहिये । ईसाई धर्म का पोपडम तो नष्ट हो ही चुका है। बाइबिल में ऐसे अधिक विधिविधान नहीं हैं जिन पर कुछ विशेष कहा जा सके । जो अव्यवहार्य बातें थीं वे सब तोड़ी जा चुकी हैं बल्कि उनकी प्रतिक्रिया हो चुकी है । धनियों को स्वर्ग में प्रवेश न मिलने की बात की प्रतिक्रिया आज भयंकर साम्राज्यवाद के रूप में हो रही है । ईसाई राष्ट्र अपने साम्राज्यवाद के कारण आज जगत के लिये अभिशाप बन रहे हैं इन सब में सुधार होने की ज़रूरत है । और जो बाइबिल में नैतिक उपदेश हैं वे ठीक हैं । महात्मा ईसा के जीवन में जो अतिशयों की कल्पना है वह जाना चाहिये । अन्य धर्मों में भी यह बीमारी है वह वहाँ से भी जाना चाहिये । मांस-भक्षण आदि का जो कम प्रतिबंध है वह अधिक होना चाहिये । इसलाम में जो पशुबलि आदि के विधान हैं जो उस समय अधिक हिंसा रोकने के लिये बनाये गये थे-वे आज अनुचित हैं। मूर्तिपूजा का विरोध भी अब आवश्यक नहीं है ये सुधार कर लेना चाहिये ।

ये तो नमूने हैं सुधार करने की सब जगह काफ़ी ज़रूरत है । इसलिये धर्मों की पालनीयता सब में समान नहीं है । पर सब में इतनी समानता ज़रूर है कि देशकाल के अनुसार उनमें सुधार कर लिया जाय और उनकी नीति व्यापक और उदार बनाई जाय ।

इन पाँच बातों का विचार कर लेने पर धर्मों की तरतमता पर दृष्टि न जायगी और तरतमता के नाम से पैदा होनेवाला मद दूर हो जायगा । सभी धर्मों में भगवती अहिंसा की छत्र छाया दिख पड़ेगी। यह दृष्टि की विकलता का ही परिणाम है कि हमें सब धर्मों में विराजमान भगवती अहिंसा के दर्शन नहीं होते ।

दृष्टि की विकलता के कारण प्रवृत्ति निवृत्ति आदि का रहस्य समझ में नहीं आपाता है। अन्यथा सभी धर्मों में पाप से निवृत्ति और विश्वकल्याण में प्रवृत्ति का विधान है । साधु-संस्था आदि के रूप में कहीं निवृत्तिप्रधानता या प्रवृत्तिप्रधानता पाई जाती है वह देशकाल के अनुसार थी उसमें आज के देशकाल के अनुसार सुधार कर लेना चाहिये । मूर्त्तिपूजा अमूर्त्तिपूजा आदि का विरोध भी दृष्टि की विकलता का परिणाम है। साधारणतः मूर्त्तिपूजा किसी न किसी रूप में रहती ही है उसके किसी एक रूप का विरोध देशकाल को देखकर करना पड़ता है, जैसे इसलाम को करना पड़ा । देवदेवियों की मूर्त्तियाँ दलबन्दी का कारण थीं इसलिये वे हटादी गईं । पर मक्का की पवित्रता, अमुक पत्थर का आदर (जो कि एक तरह की मूर्त्तिपूजा है) रहा, क्यों कि इससे दल बन्दी नहीं होती थी बल्कि एकता होती थी । मूर्त्तिपूजा के अमुकरूप के विरोध को देखकर किसी

धर्म को मूर्त्तिपूजा का विरोधी समझलेना दृष्टि की विकलता का परिणाम है। दृष्टि की विकलता दूर होजाने से इन सब विरोधों का समन्वय सरलता से हो सकता है।

४ अनुदारता के संस्कार—भक्तिमय समभाव में बाधा डालनेवाले कारणों में चौथा कारण है अनुदारता के संस्कार। हमारा धर्म ही सच्चा है बाकी सब धर्म झूठे हैं मिथ्यात्व हैं नास्तिक हैं इस प्रकार के संस्कार बाल्यावस्था से ही डाले जाते हैं इसका फल यह होता है कि उसे अपनी हरएक बात में सच्चाई और अच्छाई दिखाई देने लगती है और दूसरों की बातों में बुराई ही बुराई। हिन्दू सोचता है नमाज भी कोई प्रार्थना है! न कोई स्वर-संगीत न कोई आकर्षण। मुसलमान सोचता है गलाफाड़-फाड़ कर चिल्लाना भी क्या कोई प्रार्थना है! एक पूर्व दिशा की बुराई करता है एक पश्चिम की। एक संस्कृत की बुराई करता है एक अरबी की। कुसंस्कारों के कारण वह यह नहीं सोच सकता कि कभी किसी को स्वर संगीत की जरूरत होती है कभी शान्ति और निस्तब्धता की। जिसकी जैसी रुचि हो उसको उसी ढंग से काम करने देना चाहिये। खेद तो इस बात का है कि परनिन्दा आदि के संस्कार जितने डाले जाते हैं उतने असली धर्म के (सत्य अहिंसा सेवा शील त्याग ईमानदारी आदि के) नहीं डाले जाते। अगर असली धर्म की तरफ हमारा ध्यान आकर्षित किया जाय तो सभी धर्मों में हमें असली धर्म दिखाई देने लगे। और धर्म के नाम पर हम सब से प्रेम करने लगें, एक दूसरे के घर के समान एक दूसरे के धर्मस्थानों में जाने लगें, जिस विविधता में हमें विरोध दिखाई देता है उसमें अनेक रसवाले भोजन की तरह विविधता का आनन्द आने लगे। इसलिये बालकों के ऊपर ऐसे ही समभावी संस्कार डालना चाहिये जिससे वे एकरूपता के गुलाम न हों एकता के प्रेमी हों। इस प्रकार के संस्कारों से धर्मों का पारस्परिक विरोध दूर हो जायगा।

५—सर्वज्ञता का अनुचित रूप— प्रायः हर-एक धर्मवाले ने यह मानलिया है कि हमारे धर्म का प्रणेता सर्वज्ञ था। किसी ने मनुष्य को सर्वज्ञ माना, किसी ने ईश्वर को सर्वज्ञ मानकर अपने धर्म की जड़ वहाँ बताई। किसी ने अपने धर्म को अपौरुसेय-प्राकृतिक-मानकर प्राणिमात्र की शक्ति से परे बताया। मतलब यह कि प्रायः हर एक धर्म का अनुयायी यह दावा करता है कि जो कुछ जानने का था वह सब जानलिया गया। उससे अधिक जाना नहीं जासकता। इससे अधिक जानने का जो दावा करते हैं वे झूठे हैं। सर्वज्ञता के इस अनुचितरूपने सुधार का और विकास का द्वार तो बन्द कर ही दिया, साथ ही अपने ही धर्म के समान जगकल्याण करनेवाले अन्य धर्मों का तिरस्कार कराया, घृणा कराई।

सर्वज्ञता की मान्यता अनेक तरह की है।

१— अनंतकाल और अनंतक्षेत्र के समस्त पदार्थों का प्रतिसमय युगपत् प्रत्यक्ष।

२— उपर्युक्त पदार्थों का क्रमसे प्रत्यक्ष।

३— किसी भी समय के किसी भी क्षेत्र के पदार्थ का इच्छानुसार प्रत्यक्ष।

४— समस्त शास्त्रों का ज्ञान।

५— धर्मशास्त्र का परिपूर्ण ज्ञान।

६— अपने जमाने की सब से बड़ी विद्वत्ता।

७— लोगों की जिज्ञासाओं को शान्त करने योग्य ज्ञान।

८– आत्मज्ञान ।

९– कल्याण मार्ग के लिये उपयोगी बातों का अनुभवमूलक पर्याप्त ज्ञान ।

१– यह मान्यता असंभव और अनर्थकर है। इसमें बहुतसी बाधाएँ हैं । पहिली बाधा यह है कि पदार्थ की अवस्थाएँ अनन्त हैं उन सबका प्रत्यक्ष करने क लिये एक अंतिम अवस्था का जानना जरूरी है परन्तु वस्तु की कोई अंतिम अवस्था ही नहीं है । तब उसका पूर्ण प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है । अंतिम अवस्था जान लेने पर वस्तु का अन्त आजायगा जोकि असंभव है। दूसरी बाधा यह है कि एक समय में एक ही उपयोग हो सकता है अगर हम दस मनुष्यों को एक साथ देखें तो हमें सामान्य मनुष्यज्ञान होगा दस मनुष्यों का जुदा जुदा विशेषज्ञान नहीं । इसलिये अगर कोई त्रिकाल त्रिलोक का युगपत् प्रत्यक्ष करे तो उसे सब पदार्थों की सब अवस्थाओं में होनेवाली समानता का ज्ञान होगा । सब वस्तु और सब अवस्थाओं का ज्ञान नहीं ।

प्रश्न–बहुत से लोग एक ही समय में अनेक तरफ़ उपयोग लगा सकते हैं । साधारण लोग भी एक ही समय में बहुत सी चीजों का प्रत्यक्ष कर लेते हैं तब युगपत् प्रत्यक्ष में क्या आपत्ति है ?

उत्तर–अग्नि की एक छोटी सी मशाल अगर जोर से घुमाई जाय तो वह मशाल जितनी जगह में घूमेगी उतनी जगह में सब जगह एक साथ दिखाई देगी पर एक समय में वह रहती है एक ही जगह । इसी प्रकार जब बहुत जल्दी जल्दी उपयोग बदलता है तब वह ऐसा मालूम होता है मानों सब जगह एक साथ है । यह एक भ्रम है जो शीघ्रता के कारण हो जाता है ।

तीसरी बाधा यह है कि असत् का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । जब पदार्थ किसी माध्यम के द्वारा हमारी इन्द्रिय और मन पर प्रभाव डालता है तब उसका प्रत्यक्ष होता है जो पदार्थ नष्ट हो हो चुके या पैदा ही नहीं हुए वे क्या प्रभाव डालेंगे तब उनका प्रत्यक्ष कैसे होगा इसलिये भी त्रिकाल त्रिलोक के पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता ।

२–क्रम से प्रत्यक्ष भी असंभव है। क्योंकि अनन्त क्षेत्र और अनंत काल का क्रम से प्रत्यक्ष किया जाय तो अनंत काल लग जायगा । और मनुष्य का जीवन तो बहुत थोड़ा है । इसलिये अनंत का क्रम से भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता ।

दूसरी बात यह है कि क्रम से प्रत्यक्ष में पहिले जानी हुई बातों की धारणा करना पड़ती है । जब मर्यादा से अधिक धारणा की जायगी तब पुरानी बातों की धारणा मिटने लगेगी । इस प्रकार क्रम से प्रत्यक्ष में न तो सभी पदार्थ जाने जा सकते हैं और-अगर किसी तरह जाने भी जाँय तो-न उनका धारण करना सम्भव है ।

३–यह भी असम्भव है क्योंकि असत् पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । बिना माध्यम के हम किसी पदार्थ को नहीं जान सकते ।

४ शास्त्र रचना की प्रारम्भिक अवस्था में ऐसी सर्वज्ञता सम्भव थी । अब शास्त्र नाम का वृक्ष इतना महान और शाखाप्रशाखा-बहुल हो गया है कि उन सब को छू सकना एक मनुष्य की शक्ति के बाहर है ।

पांच से आठ तक की परिभाषाएँ साधारणतः ठीक हैं । भूतकाल में इन परिभाषाओं का उपयोग भी काफी हुआ है । अन्तिम अर्थात् नवमी अधिक अच्छी है । तीर्थंकर पैगम्बर आदि इसी परिभाषा के अनुसार सर्वज्ञ होते हैं । इसलिये उनके

वचन काफी विश्वसनीय हैं।

इन सर्वज्ञों से अन्य विषयों के ज्ञान की आशा न करना चाहिये, और न अन्य विषयों में इनके वचन प्रमाण मानना चाहिये। धर्म के विषय में भी यही कहा जा सकता है कि वह अपने जमाने का सर्वज्ञ था। देशकाल पात्र के बदलने से जो जो परिस्थितियाँ पैदा हो सकतीं हैं और भविष्य में होजाँयगी उन सब का पूर्ण-ज्ञान उसे नहीं था, इसलिये आज अगर ऐसी परिस्थिति पैदा हो गई है जिसके लिये पुराने विधान काम नहीं देसकते तो हमें जमाने के अनुकूल विधान बना लेना चाहिये, दूसरे धर्मों में अगर कोई विशेष बात पाई जाती है तो उसे अपना-लेना चाहिये, इस प्रकार सुधार के लिये सदा तैयार रहना चाहिये। अपने धर्म को परिपूर्ण और अपरिवर्तनीय न समझना चाहिये।

धर्मों में जो हमें विरोध या उच्चनीचता मालूम होती है उसके ये पाँच कारण हैं। इन पाँच कारणों के दूर कर देने पर हमारे हृदय में विवेकपूर्ण सर्वधर्म-सम-भाव आ सकता है। यह योगी का दूसरा चिह्न है, जो मानव समाज की एकता-प्रेम के लिये और भगवान सत्य के दर्शन के लिये आवश्यक है।

३ जाति-समभाव

योगी का तीसरा चिह्न जातिसमभाव है। हाथी घोड़ा सिंह ऊंट आदि जिस प्रकार एक एक तरह के प्राणी हैं उसीप्रकार मनुष्य भी एक तरह का प्राणी है। मनुष्य शब्द पशु शब्द की तरह नाना तरह के प्राणियों के समुदाय का वाचक नहीं है, किन्तु सिंहादि शब्दों की तरह एक ही तरह के प्राणी का वाचक है। यों तो व्यक्ति व्यक्ति में भेद हुआ करता है और उन भेदों का थोड़ा बहुत वर्गीकरण भी हो सकता है परन्तु उन वर्गों को जातिभेद का कारण नहीं कह सकते। जातिभेद के लिये सहज दाम्पत्य का अभाव और आकृति की अधिक विषमता आवश्यक है। मनुष्यों में ऐसी विषमता नहीं पाई जाती और उन में दाम्पत्य स्वाभाविक और सन्तानोत्पदक होता है। किसी भी जाति के पुरुष का सम्बन्ध किसी भी जाति की स्त्री से होने पर सन्तानोत्पत्ति होगी। शरीरपरिमाण या लिंगपरिणाम के अन्तर की बात दूसरी है। इससे मालूम होता है कि मनुष्य मात्र एक जाति है।

प्रायः सभी धर्मशास्त्रों में इस बात का उल्लेख मिलता है कि सभी मनुष्यों की एक जाति है आज जो इनके भेद प्रभेद दिखाई देते हैं वे मौलिक नहीं हैं। वातावरण आदि के कारण पैदा होने वाले भेद मनुष्य की एक जातीयता को नष्ट नहीं कर सकते।

वैदिक शास्त्रों में मनुष्यों को मनुसन्तान कहा है इससे उनमें एकजातीयता ही नहीं एक कौटुम्बिकता भी सिद्ध होती है। इसलाम और ईसाई धर्म के अनुसार सब मनुष्य आदम की सन्तान हैं इसलिये भी उनमें भाईचारा सिद्ध होता है। जैनशास्त्रों के भोगभूमि युग के वर्णन से मनुष्य मात्र की एक जाति सिद्ध होती है। इस प्रकार प्राकृतिक दृष्टि से और शास्त्रों की मान्यता से सब मनुष्यों की एक जाति सिद्ध होती है।

इतना होने पर भी आज मनुष्य जाति अनेक भागों में विभक्त है। इसके कारण कुछ भी हों, परन्तु इससे जो अधर्म हो रहा है, जो विनाश हो रहा है, दुःख और अशान्ति का जो विस्तार हो रहा है, वह मनुष्य सरीखे बुद्धिमान प्राणी के लिये लज्जा की बात है। बुद्धि तो

पशुओं में भी होती है, परन्तु मनुष्य की बुद्धि कुछ दूर तककी बात विचार सकती है। लेकिन इस विषय में उसकी विचारकता व्यर्थ जाती देखकर आश्चर्य और खेद होता है।

मनुष्य भी एक सामाजिक प्राणी है, बल्कि अन्य प्राणियों की अपेक्षा वह बहुत अधिक सामाजिक है। इसलिये सहयोग और प्रेम उसमें कुछ अधिक मात्रा में और विशाल रूप में होना चाहिये। परन्तु जाति भेद की कल्पना करके मनुष्य ने सहयोग के तत्त्वका नाश सा कर दिया है; इससे अन्य अनेक अन्यायों और दुःखोंकी सृष्टि कर डाली है। जाति की कल्पना से जो कुछ हानियाँ हुई हैं और होती हैं उन में मुख्य मुख्य ये हैं।

१—विवाह का क्षेत्र संकुचित हो जाता है। इस से योग्य चुनाव में कठिनाई होने लगती है। और अल्पसंख्यक होने पर जाति का नाश हो जाता है।

२—कभी कभी जब युवक-युवति में आपस में प्रेम हो जाता है, और वह दाम्पत्य-रूप धारण करना चाहता है, तब यह जातिभेद की दीवाल उनके जीवन का नाश कर देती है। या तो उनको आत्महत्या करना पड़ती है अथवा बहिष्कृत जीवन व्यतीत करने से अनेक प्रकार की दुर्दशा भोगना पड़ती है।

३—जाति के नामपर बने हुए दल लड़झगड़ कर एक दूसरे का नाश करते हैं। न खुद चैनसे बैठते हैं, न दूसरों को चैनसे बैठने देते हैं।

४—जातीय पक्षपात के कारण मनुष्य अपनी जाति के अन्याय का भी पोषण करता है, और दूसरी जाति के न्याय का भी विरोध करता है। अन्त में न्याय के पराजय और अन्याय के विजय का जो फल हो सकता है, वह मनुष्य-जाति को ही भोगना पड़ता है।

५—विवश होकर मनुष्य को कूपमंडूक बनना पड़ता है, क्योंकि वह घरके बाहिर निकल कर सजातीयों के अभाव से वहां टिक नहीं सकता। जब सारी जाति की जाति इस विषय में विशेष उद्योग करती है, तब कहीं थोड़ा बहुत क्षेत्र बढ़ता है। परन्तु इस कार्य में शताब्दियाँ लग जाती हैं तथा बाहिर निकलने पर भी कूपमंडूकता दूर नहीं होती।

६—अपना क्षेत्र बढ़ाने के लिये दूसरी जातियों का नाश करना पड़ता है। इससे दोनों तरफ के मनुष्यों का नाश और धन-नाश होता है तथा चिरकाल के लिये वैर बन जाता है।

७—एक ऐसा अहंकार पैदा होता है जिसे मनुष्य पाप नहीं समझता जब कि द्वेषात्मक तथा अनेक पापों का कारण होने से वह महापाप है।

८ ईमानदार मनुष्यों में भी जातिभेद के कारण अविश्वास रहता है। इससे सहयोग नहीं होने पाता। इससे उन्नति रुकती है। लोकोपकारक संस्थाएँ भी पारस्परिक उपेक्षा और वैर के कारण सारहीन तथा अकिञ्चित्कर हो जाती हैं।

इस प्रकार की अनेक हानियाँ हैं। यदि जातिभेद की दुर्वासना को नष्ट कर दिया जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्यजाति के कष्टों का एक बड़ा भारी भाग नष्ट हो जाय। हाँ, सुविधा के लिये कुटुम्बी, सम्बन्धी तथा मित्र वर्ग की आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति को होती है, सो उसकी रचना हुआ करे। ये सब रचनाएँ तो

वैयक्तिक जीवन में समाजाती हैं। इनमें कोई जातिगत बुराई नहीं है। सम्बन्ध तो चाहे जिस मनुष्य के साथ किया जा सकता है और उसे मित्र भी बनाया जा सकता है। इसलिये इसमें जन्मगत या उसके समान कट्टरता नहीं है और न इसका क्षेत्र इतना विशाल हो सकता है कि समाज को क्षुब्ध करनेवाला बुरा असर डाल सके।

जातिभेद की कल्पना के द्वार अगणित हैं अहंकार का पुजारी यह मनुष्य-प्राणी न जाने कितने ढंग से जातिमद की पूजा किया करता है। उन सब का गिनाना तो कठिन है और उनको गिनाने की इतनी जरूरत भी नहीं है, क्योंकि जातिमद के दूर हो जाने से उसके विविधरूप दूर हो जाते हैं। फिर भी स्पष्टता के लिये उदाहरण के तौर पर उनपर विचार कर लेना उचित है, जिससे यह मालूम हो जाय कि किस तरह का जातिभेद किस तरह की हानि कर रहा है, और उसे हटाने के लिये हमें क्या करना चाहिये।

वर्ण भेद—वर्णभेद शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भेदों के लिये प्रसिद्ध है। परन्तु यहाँ वर्ण शब्द का यह अर्थ नहीं है, उसका सीधा अर्थ रंग है। जिन लोगों के यहाँ छोटा छोटा जातिभेद नहीं है, उनके यहाँ भी भूरी, पीली, काली लाल जातियों का भेद बना हुआ है। चीन और जापान पीली जाति के लोग माने जाते हैं। इससे अवशिष्ट एशिया के अन्य दक्षिणी प्रदेशों का बहुभाग तथा आफ्रिका के मूल निवासी कालीजाति के माने जाते हैं। अमेरिका में भी ये लोग बसे हुए हैं। अमेरिकाके मूलनिवासी लाल जाति के [रेड इंडियन] कहलाते हैं जिनकी संख्या अब बहुत थोड़ी है। यूरोपीय लोग, वे यूरोप में हों या अन्यत्र, भूरी जाति के लोग कहलाते हैं। यह जातिभेद व्यक्त या अव्यक्त रूप में बहुत जगह फैला हुआ है।

इसी रंग भेद की जातीयता का फल है कि एक रंगवाले लोगों ने दूसरी जातियों के, खासकर आफ्रिका की काली जाति के लोगों को पशु की तरह बेचा सताया और मौत के घाट उतारा। कानून में उनकी हत्या का कोई दंड नहीं था। अभी भी यह रोग गया नहीं है पहिले से कम, फिर भी काफी मात्रा में यह भेद बना हुआ है। आज भी लोग जिन्दे जलाये जाते हैं आज भी रंगभेद के अनुसार कानून में विषमता मौजूद है।

यह वर्णभेद मौलिक है, यह बात कोई सिद्ध नहीं कर सकता। जहां हम रहते हैं, वहाँ के जलवायु का जो प्रभाव हमारे शरीर पर पड़ता है, उसीसे हम काले गोरे आदि बन जाते हैं। वही रंग सन्तान प्रति सन्तान से आगे की पीढ़ी को मिलता जाता है। परन्तु अगर जलवायु प्रतिकूल हो तो कई पीढ़ियों में वह बिलकुल बदल जाता है। हाँ, इसमें सैकड़ों वर्ष अवश्य लग जाते हैं क्योंकि जलवायु का प्रभाव बाहिरी होता है और माता-पिता के रजवीर्य का प्रभाव भीतरी। परन्तु मौलिक रूप में यह रंग-भेद शीत उष्ण आदि वातावरण के भेद का ही फल है। गोरीजातियाँ अगर गरम देशों में बस जाँय तो कुछ शताब्दियों के बाद वे काली हो जाँयगी। और काली जातियाँ अगर ठंडे देशों में बस जाय तो वे कुछ शताब्दियों के बाद गोरी हो जांयगीं। इसलिये काले गोरे आदि भेदों से मनुष्य-जाति के टुकड़े कर डालना, न्याय की पर्वाह न करके

एक रंग का दूसरे रंग पर अत्याचार करना मनुष्यता का दिवाला निकाल देना है।

मनुष्य की जो मौलिक विशेषताएँ हैं, वे सभी रंग के मनुष्योंमें पाई जाती हैं। गोरे मनुष्य दयालु भी होते हैं और क्रूर भी, ईमानदार भी होते हैं, और बेईमान भी। यही हाल कालों, पीलों आदि का भी है। एक काला आदमी गोरे की सेवा करे, सहायता दे और दूसरा गोरा आदमी उसे धोखा दे, लूटले, तो उस गोरे को वह काला आदमी अच्छा मालूम होगा और वह गोरा बुरा। मनुष्यता की, हृदय की, न्यायकी आवाज यही है। मनुष्य पशुओं तक से मित्रता रखता है। एक गोरा मनुष्य काले घोड़े से प्रेम कर सकता है, और एक काला आदमी सफेद घोड़े से, तब रंगभेद के कारण मनुष्य मनुष्य से भी प्रेम न कर सके, यह कैसी आश्चर्यजनक मूढ़ता है!

सभी के दिन एकसे नहीं जाते। कभी एक रंगवालों का प्रभुत्व होता है, कभी दूसरे रंगवालों का। उन्नत अवस्था में दूसरों को उन्नत बनाना मनुष्यता है, उनको पीस डालने की चेष्टा करना मनुष्यता का नाश है। इससे वंश परम्परा के लिये वैर ही बढ़ता है, और बारी बारी से सभी का नाश होता है। और वर्तमान में भी हम चैन से नहीं रहने पाते। ईमानदारी प्रेम आदि सद्गुण ही एक दूसरे को सुख देनेवाले हैं। ये जिनमें हों उन्हें ही अपना मित्र, बन्धु और सजातीय समझना चाहिये, भले ही वे किसी भी रंग के हों। जिन में ये न हों उन्हें ही विजातीय समझना चाहिये फिर भले ही वह अपना सगा भाई ही क्यों न हो। इस प्रकार की निःपक्षता को अगर हम रख सकें और उसका उदारता से उपयोग कर सकें तो मनुष्य में जो पशुत्व है उसका अधिकांश दूर हो जाय, ईर्ष्या, अशान्ति आदि का तांडव कम हो जाय। अगर ऐसा न होगा तो एक दिन ऐसा आयगा जब दुनियां के मनुष्य रंगों के नामपर दो दल में बँटकर राक्षसी-युद्ध करेंगे और जिसकी परम्परा सैकड़ों वर्षों तक जायगी और उस अग्नि में मनुष्य जाति स्वाहा हो जायगी।

जातिभेद को तोड़ने का उपाय तो हृदय की उदारता ही है। परन्तु इसका एक मुख्य निमित्त पारस्परिक विवाह सम्बन्ध है। जाति के नामपर मनुष्य मात्र में वैवाहिक-क्षेत्र की कैद न होना चाहिये। अगर अधिक परिमाण में ऐसे विवाह सम्बन्ध होने लगें तो दोनों के बीचका अन्तर अवश्य ही कम हो सकता है। हाँ, इस काम में विवाह-सम्बन्धी समस्त सुविधाओं का खयाल अवश्य रखना चाहिये।

कहा जाता है कि काली, गोरी आदि जातियों के शरीर में गन्धकी एक विशेषता होती है जो एक दूसरे को दुर्गंध मालूम होती है। यह ठीक है। मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि यह रंगभेद जलवायु, भोजन आदि के भेदसे सम्बन्ध रखता है। इसलिये वर्णके समान गंधमें भी थोडा बहुत भेद हो, यह स्वाभाविक है। परन्तु यह तो व्यक्तिगत बात है। अगर विभिन्न वर्णके दम्पति में प्रेम है, शारीरिक मिलन में भी उन्हें कष्ट नहीं मालूम होता तो इसमें किसी तीसरेको या समाजको कुछ कहने की क्या जरूरत है? इसमें दोनोंको ही अपना अपना खयाल कर लेनाचाहिये।

जिनमें यह वर्णाभिमान अच्छी तरह घुसा हुआ है, किन्तु नैतिक दृष्टि से जब वे इस जाति

मद का सहारा नहीं लेपाते, तब इस प्रकार की छोटी छोटी बातों को अनुचित महत्त्व देने लगते हैं। अगर गंधभेद की यह बात इतनी भयंकर होती तो भारत में यूरेशियन—जो कि अपने को ऐंग्लोइंडियन कहते हैं—क्यों बनते? अमेरिका आदि देशों में इतना विरोध रहने पर भी ऐसे सम्बन्ध होते ही हैं। भारतीयों के पूर्वज भी ऐसे सम्बन्ध कर चुके हैं, इसलिये आज भी उनमें काले गोरे का भेद बना हुआ है, और यह भेद छोटी छोटी उपजातियों में भी पाया जाता है। फिर जातियों में ही क्यों? प्रत्येक व्यक्ति के शरीर की गंध जुदी होती है, परन्तु इसीसे वैवाहिक सन्बन्ध का विस्तार नहीं रुकता। बल्कि वैवाहिक सम्बन्ध के लिये अमुक परिमाण में शारीरिक विषमता आवश्यक और लाभकर मानी जाती है; इसीलिये बहिन भाई का विवाह शारीरिक दृष्टि से भी बुरा समझा जाता है। स्त्री-पुरुष के शरीर में ही रूप, रस, गंध, स्पर्श की विषमता अमुक परिमाण में पाई जाती है। इसलिये ऐसी विषमताओं की दुहाई देकर मनुष्यजाति के टुकड़े नहीं करना चाहिये। अगर इस विषय पर कुछ विचार भी करना हो तो यह विचार व्यक्ति पर छोड़ना चाहिये। विवाह करनेवाला व्यक्ति इस बात को विचार ले कि जिसके साथ मैं सम्बन्ध जोड़ रहा हूँ उसकी गंध और रंग स्पर्श आदि मुझे सह्य हैं कि नहीं। यदि उसे कोई आपत्ति न हो तो फिर क्या चिन्ता है? एक बात और है कि कोई भी गंध हो, जिसके संसर्ग में हम आते रहते हैं उसकी उग्रता या कटुता चली जाती है। एक शाकभोजी, मछलियों के बाजार में वमन कर देगा, परन्तु मछुओं को वहां सुगन्ध ही आती है। इसलिये गंधादि की दुहाई देना व्यर्थ है। हां, कोई शारीरिक विकार ऐसा हो जिस का दूसरे के शरीर पर बुरा प्रभाव पड़ता हो तो बात दूसरी है, उसका बचाव अवश्य करना चाहिये। परन्तु ऐसे शारीरिक विकार एक जाति उपजाति के भीतर भी पाये जा सकते हैं और दूर के जातिभेद में भी नहीं पाये जा सकते हैं। इसलिये जातिभेद के नाम पर इन बातों पर ध्यान देने की जरूरत नहीं है।

इस जातिभेद के नाम पर एक आक्षेप यह भी किया जाता है कि इस प्रकार के वर्णान्तर-विवाहों से सन्तान ठीक नहीं होती। अमुक जगह कुछ गोरोंने हब्शी स्त्रियों से शादी की परन्तु उन की सन्तान गोरों के समान वीर, साहसी और बुद्धिमान न निकली। यह आक्षेप भी शताब्दियों के अंध-संस्कार का फल है। ऐसे आक्षेप करते समय वे उसके असली कारणों को भूल जाते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि जिस बालकको समाज में लोग बराबरीकी दृष्टि से नहीं देखते उसे नीच पतित और विजातीय समझकर थोड़ी बहुत घृणा रखते हैं, उसमें उस समाजके गुण नहीं उतरते। बच्चे को यदि समाज से बाहर कर दिया जाय तो पशु में और उसमें कुछ अन्तर न होगा। अभी भी मनुष्य में जातिमद इतना अधिक है कि वर्णान्तर विवाह होने पर भी साधारण मनुष्य उससे घृणा ही करता है। फल यह होता है कि ऐसे विवाह की सन्तान को एक प्रकार का असहयोग सहन करना पड़ता है। इसलिये समाज के गुण बालकको अच्छी तरह नहीं मिलते। दूसरा कारण यह है कि संतान के ऊपर माता और पिता दोनों का थोड़ा थोड़ा प्रभाव पडता है। अब अगर उसमें से एक पक्ष अच्छा हो और दूसरा पक्ष हीन हो तो यह स्वाभा-

विक है कि संतति मध्यम श्रेणी की हो। इसलिये अपने अनुरूप व्यक्ति से सम्बन्ध जोड़ना चाहिये। ऐसी हालत में संतति अवश्य ही अपने अनुरूप होगी। वीरता, बुद्धिमत्ता सदाचार आदि गुण ऐसे नहीं हैं कि उनका ठेका किसी जातिविशेष ने लिया हो। सभी जातियों में इन गुणों का सद्भाव पाया जाता है। अगर कहीं किसी बात की बहुलता देखी जाती है तो उसका कारण परिस्थिति है, जाति नहीं। परिस्थिति के बदलने से बुरी से बुरी जाति का मनुष्य अच्छा से अच्छा हो जाता है। आफ्रिका के जो हब्शी अभी जंगली अवस्था में रहते हैं, सदाचार और सभ्यताका विचार जिनमें बहुत ही कम पाया जाता है, उन्हीं में से बहुत से हब्शी अमेरिका में बसने पर अमेरिकनों सरीखे सभ्य सुशिक्षित हो गये हैं, हालाँकि उनको जैसे चाहिये वैसे साधन नहीं मिले। इससे मालूम होता है कि किसी भी गुण का ठेका किसी जाति विशेष-वर्णविशेष—ने नहीं लिया है।

इसका यह मतलब नहीं है कि एक सुसभ्य नागरिकको जंगली लोगों से वैवाहिक सम्बन्ध अवश्य स्थापित करना चाहिये। उदारता के नाम पर अनमेल विवाह करने की कोई जरूरत नहीं है जरूरत सिर्फ़ इस बात की है कि हम जातिभेद के नाम पर किसी को वैवाहिक सम्बन्ध में जुदा न समझें। एक जंगली व्यक्ति के साथ हम सम्बन्ध नहीं करते इसका कारण यह न होना चाहिये कि उसकी जाति जुदी है किन्तु यह होना चाहिये कि उसकी शिक्षा, सभ्यता, स्वभाव आदि से मेल नहीं खाता। जाति के नामपर जब हम किसी के साथ सम्बन्ध नहीं करते, तब उसका अर्थ यह होता है कि अगर वह सब बातों में हमारे समान और अनुकूल हो जाय तो भी हम उसे जुदा ही समझेंगे। इस प्रकार हमारा भेदभाव सदाके लिये होगा। यही एक बड़ा भारी अनर्थ है। इसलिये जातिमद को दूर करने के लिये हम इस बात का दृढ़ निश्चय करलें कि अगर हमें किसीके साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ना है तो इसके कारण में हज़ार बातें कहें परन्तु उनमें जातिभेद का नाम न आना चाहिये। सच्चे दिल से इस बात का पालन करना चाहिये।

राष्ट्रभेद—जातिभेद के अन्य रूपों से राष्ट्र के नाम पर बने हुए जातिभेद में एक बड़ा भारी भेद है। अन्य जातिभेद राजनीति से परम्परा-सम्बन्ध रखते हैं और बहुत सी जगह नहीं रखते हैं; परन्तु राष्ट्र के नाम पर बना हुआ जातिभेद राजनीति के साथ साक्षात् सम्बन्ध रखता है। और इसके नामपर बात की बात में तलवारें निकल आती हैं, मनुष्य भाजी-तरकारी की तरह काटा जाने लगता है, और इसे कहते हैं देशप्रेम, देशभक्ति, देशसेवा आदि।

राष्ट्र या देश आखिर है क्या वस्तु? पर्वत, समुद्र आदि प्राकृतिक सीमा से रुद्ध मनुष्यों के निवासस्थान ही तो हैं। परन्तु क्या ये सीमाएँ मनुष्यों के हृदय को कैद कर सकती हैं? क्या ये मिट्टी के ढेर और पानी की राशि मनुष्यता के टुकड़े टुकड़े करने के लिये हैं? इन सीमाओं को तो मनुष्य ने इतिहासातीत काल से पार कर लिया है। न पहाड़ों के अभ्रङ्कश शिखर उसकी गति को रोक सके हैं, न अगाध जलराशि। और आज तो मनुष्यजाति ने इन पर इतनी अधिक विजय पाई है कि मानों ये सीमाएँ उसके लिये हैं ही नहीं। फिर समझमें नहीं आता कि मनुष्य सीमाओं

से घिरे हुए इन स्थानों के नामपर क्यों अहंकार करता है ! क्यों लड़ता है ! क्यों मनुष्यता का नाश करता है !

राष्ट्रीयता का जब यह नशा मनुष्य के सिर पर भूत की तरह सवार होता है, और जब मनुष्य हुंकार हुंकार कर दूसरे राष्ट्र को चबा डालना चाहता है, तब नक्कारखाने में तूती की आवाज़ की तरह मनुष्यता का यह संदेश उसके कानों में नहीं पहुँचता । परन्तु नशा उतरने के बाद जब उसके अंग अंग ढीले हो जाते हैं, तब वह अपनी मूर्खता का अनुभव करता है । परन्तु शराबी इतने ही अनुभव से शराब नहीं छोड़ता । यही दशा राष्ट्रीयता के नशेबाजों की है । वे नशेके कटु अनुभव को शीघ्र ही भूलकर फिर वही नशा करते हैं । इस प्रकार राष्ट्रीयता के नशेसे चिरकाल से मनुष्यजाति का ध्वंस होता आ रहा है ।

बड़े बड़े साम्राज्य खड़े हुए, जिनने मनुष्य-जाति के अस्थि-पञ्जरों से अपना सिंहासन बनाया कराहती हुई मनुष्यता की छाती पर जिनने रत्न-जटित सिंहासन जमाये; पर कुछ समय का उन्मादी अत्याचारी-जीवन व्यतीत करके अंत में धराशायी हो गये ।

साम्राज्यवाद की यह भयंकर प्यास और राष्ट्रीयता का उन्माद प्रायः समस्त स्वतंत्र राष्ट्रों को अशान्त और पागल बनाये हुए है । राज्य की जो शक्तियाँ मनुष्य की सुख-शान्ति के बढ़ाने में काम आ सकती हैं, उनका अधिकांश मनुष्य के संहार में लगा हुआ है । राज्य की आमदनी का बहुभाग सेना और लड़ाई की तैयारी में खर्च होता है, मशीनें मनुष्य संहार की सामग्री तैयार करने में लगी हुई हैं, वैज्ञानिकों की अधिकांश शक्तियाँ मनुष्य-संहार के आविष्कार में डटी हुई हैं, मानों इस पागल मनुष्यजाति ने मनुष्यजाति को नष्ट करना अपना ध्येय बनालिया हो, आत्महत्या या नरककी सृष्टि करना ही इसका उद्देश्य बन गया हो।

यदि ये ही शक्तियाँ प्रकृति पर विजय पाने में, उसका रहस्योद्घाटन करने में, उसके स्तनोंसे अमृतोपम दूध पीने में, मनुष्य की मनुष्यता अर्थात मनुष्योचित गुणोंके विकास करने में लगाई जातीं तो सबल और निर्बल सभी राष्ट्र आजकी अपेक्षा बहुत अधिक सुखी होते । जो आज असभ्य, अर्धसभ्य तथा निर्बल हैं, वे सबल और सभ्य बने होते और जो सबल हैं, सभ्य कहलाते हैं, वे घृणापात्र होने के बदले आदर-पात्र बने होते इस प्रकार उन्हें भी शान्ति मिली होती, तथा दूसरों को भी शान्ति मिली होती ।

एक न एक दिन मनुष्य को यह बात समझना पड़ेगी । इस राष्ट्रीयता के उन्माद के कारण प्रत्येक राष्ट्र की प्रजा तबाह हो रही है । जिस प्रकार लुटेरे बड़ी बड़ी लूटें करके भी चैन से रोटी नहीं खा सकते, और आपस में ही एक दूसरे से डरते हैं, यही हालत साम्राज्यवादी लुटेरे राष्ट्रोंकी हो रही है । हरएक देशकी प्रजा-पर लड़ाई के करका बोझ इतना भारी है कि उसकी कमर टूटी जा रही है, और भय तथा चिन्ता के मारे चैनसे नींद नहीं आती । मनुष्य आज अपनी ही छाया से डरकर काँप रहा है, मनुष्य जाति अपने ही अंगों से अपने अंग तोड़ रही है । प्राचीन युग में जिस प्रकार छोटे छोटे सरदार दल बाँधकर आपस में लड़ने में अपना जीवन लगा देते थे, इस प्रकार कभी दूसरों को सताते थे, और कभी दूसरों से सताये जाते थे, इसी प्रकार आज मनुष्य जाति राष्ट्रीयता के क्षुद्र स्वार्थों के नाम पर लड़ रही है । पुराने सरदारों

की क्षुद्र मनोवृत्ति पर आज का मनुष्य हँसता है, परन्तु क्या वही मनोवृत्ति कुछ विशालरूप में राष्ट्रीयता के उन्माद में नहीं है ? क्या वह भी हँसने लायक नहीं है ? क्या मनुष्य किसी दिन अपनी इस मूर्खता और क्षुद्रताको न समझेगा ?

हाँ कभी कभी मनुष्य में राष्ट्रीयता पवित्र रूप में भी आती है, वह तब, जबकि वह मनुष्यता की दासी-पुत्री-अंग बन जाती है । उस समय वह मनुष्यता का विरोध नहीं करती, सेवा करती है । सिपाही यदि सरकार का सेवक बन कर हमारे पास आवे तो हम उसका आदर करेंगे परन्तु यदि वह स्वयं सरकार बनकर हमारे सिर पर सवारी गाँठना चाहे तो वह हमारा शत्रु है । इसी प्रकार जब राष्ट्रीयता, मनुष्यता की दासी बनकर, मनुष्यता के रक्षणके लिये आती है तब वह देवी की तरह पूज्य है । परन्तु जब वह मनुष्यता का भक्षण करने के लिये हमारे पास आती है तब वह शत्रुके समान है । मनुष्यताके रक्षण के लिये, जीवन की शांति के लिये, हमें उसका परित्याग करना चाहिये ।

यदि एक राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र के ऊपर आक्रमण करता है, उसे पराधीन बनाता है, या बनाये हुए है, इसलिये पीड़ित राष्ट्र अगर राष्ट्रीयता की उपासना करता है, तो यह मनुष्यता की ही उपासना है, क्योंकि इसमें अत्याचार या अत्याचारीका ही विरोध किया जाता है, मनुष्यता का नहीं । जिस प्रकार हिंसा पाप होने पर भी आत्मरक्षण [अन्याय्य आक्रमण से अपने को बचाना] में होनेवाली हिंसा पाप नहीं है, उसी प्रकार राष्ट्रीयता पाप होने पर भी आत्मरक्षण के लिये— अत्याचार के विरोध के लिये—राष्ट्रीयता की उपासना पाप नहीं है । बल्कि जो राष्ट्र से भी छोटी छोटी दलबन्दियों के चक्कर में पड़ कर राष्ट्रीयता से भी अधिक मनुष्यता का नाश कर रहे हैं, उनके लिये राष्ट्रीयता आगे की मंजिल है । इसलिये वे अभी राष्ट्रीयता की पूजा करके मनुष्यता की ही पूजा करेंगे । उनकी राष्ट्रोपासना दूसरों के कट्टर राष्ट्रीयतारूपी पाप को दूर करने के लिये होगी ।

राष्ट्रीयता के ऐसे अपवादों को छोड़कर अन्य किसी ढंग से राष्ट्रीयता की उपासना करना मनुष्य जाति के टुकड़े करके उसे विनाश के पथपर आगे बढ़ाना है । राष्ट्र को जाति का रूप दे देना तो एक मूर्खता ही है । मनुष्य में कोई जाति तो है ही नहीं, परन्तु जिनको मनुष्यने जाति समझ रक्खा है, उनका मिश्रण प्रत्येक जाति में हुआ है । भारतवर्ष में आर्य और द्रविड़ मिलकर बहुत कुछ एक हो गये हैं । शक, हूण आदि भी मिल गये हैं । मुसल्मानों के साथ भी रक्त-मिश्रण हो गया है । अमेरिका तो अभी कल ही अनेक राष्ट्रों के लोगों से मिलकर एक राष्ट्र बना है । इसी प्रकार दुनियाँ के अन्य किसी भी देशके इतिहास को देखो तो पता लगेगा कि उस में अनेक तरह के लोगों का मिश्रण हुआ है । इससे मालूम होता है कि राष्ट्र-भेद से भी जाति-भेद का कोई सम्बन्ध नहीं है । इस दृष्टि से भी मनुष्य-जाति एक है ।

अहंकार का पुजारी यह मनुष्य कभी कभी पाप की पूजा को भी धर्मपूजा का रूप देता है शैतान को खुदा के वेष में सजाता है और स्तुति के लिये अच्छे शब्दों की रचना करता है । वह अहंकारपूर्ण कट्टर राष्ट्रीयता की पूजा के लिये सभ्यता संस्कृति आदि की दुहाई देता है । परन्तु जुदे जुदे देशोंकी सभ्यता संस्कृति आदि आखिर

क्या बला है ? और उसकी उपासना का क्या अर्थ है ? वेषभूषा और भाषा को अगर किसी राष्ट्रकी सभ्यता और संस्कृति कहा जाय तब तो उसकी दुहाई देना व्यर्थ है। प्रत्येक देशकी भाषा कुछ शताब्दियों के बाद बदलती रही है। जो प्राकृत भाषाएँ दो हजार वर्ष पहिले भारत में प्रायः सर्वत्र बोली जाती थीं और जो अपभ्रंश भाषाएँ हजार वर्ष पहिले ही प्राकृत की तरह बोली जाती थीं, आज इनेगिने पंडितों को छोड़कर उन्हें कोई समझता भी नहीं है, फिर बोलने की तो बात ही दूर है। अगर भाषा का नाम संस्कृति हो तब तो हम उसका त्याग ही कर चुके हैं। यह बात दूसरी है कि अहंकार की पूजा करने के लिये हम उन मृत भाषाओं के नाम के गीत गाते हों, परन्तु हमारे जीवन में उनका कोई व्यावहारिक स्थान नहीं रह गया है। लेटिन, संस्कृत आदि सभी भाषाओं की यही दशा है। इसलिये वह सभ्यता तो गई।

वेष-भूषा बदलने के लिये तो शताब्दियाँ नहीं, दशाब्दियाँ ही बहुत हैं। भारत के आर्य जो पोशाक पहिना करते थे, उसका कहीं पता भी नहीं है। उसके आगे की न जाने कितनी पीढ़ियाँ गुजर गई ? उत्तरीय वस्त्र के पीछे अंगरखा, कुरता, कोट, कमीज़ आदि पीढ़ियाँ चली आतीं हैं। यही बात नारियों की पोशाक के विषय में है। वाहन, नगर-रचना आदि सभी बातों में विचित्र परिवर्तन होगये हैं। संसार के सभी देशों की यह दशा है। पुराने युग के चित्र तो अब अजायबघरों और नाटक-सिनेमा के ऐतिहासिक चित्रणों में ही देखने मिलते हैं। सभ्यता और संस्कृति के नाम पर उन पुरानी चीजों को छाती से चिपटाए रहने की ज़रूरत नहीं रही है। सभ्यता और संस्कृतियों के नाम पर एक भारत-वासी अंग्रेज गर्मीके दिनों में भी जब अपनी चुस्त पोशाक से अपने शरीर को बंडलकी तरह कस डालता है, तब उसका यह पागलपन अजायबघर की चीज़ होता है। परन्तु यह पागलपन सभी देशों में पाया जाता है, इसलिये अजायबघर में कहाँ तक रक्खा जा सकता है ? संगमर्मरको भी गोबर से लीपना, बिजली के उजेले में भी समाई जलाना शायद संस्कृति और सभ्यता का रक्षण है ! वास्तव में इस प्रकार के अंधअनुकरणों को संस्कृति और सभ्यता की रक्षा कहना उन अच्छे शब्दों की मिट्टी पलीत करना है।

मनुष्य, जन्म के समय पशु के समान होता है। उसको युग के अनुरूप अच्छा से अच्छा मनुष्य बनाने के लिये जो प्रभावशाली प्रयत्न किया जाता है उसका नाम है **संस्कृति**, और दूसरे को कष्ट न हो इस प्रकार के व्यवहारका नाम है **सभ्यता**। इस प्रकार की सभ्यता और संस्कृति का रूढ़ियों के अंध-अनुकरण के साथ कोई सम्बंध नहीं है।

यदि किसी ज़माने में चोर डाकुओं के डरके मारे हम मकानों में अधिक खिड़कियाँ नहीं रखते थे, और अब परिस्थिति बदल जाने से रखते हैं तो इसका अर्थ सभ्यता और संस्कृति का त्याग नहीं है। समयानुसार स्वपरसुखवर्द्धक परिवर्तन करने से संस्कृति का नाश नहीं होता, बल्कि, संस्कृति का नाश होता है रूढ़ियों की गुलामी से। क्योंकि रूढ़ियों की गुलामी से बुद्धि-विवेक की कमी मालूम होती है जोकि मनुष्यत्व की कमी है, और जड़ता की वृद्धि मालूम होती है जोकि पशुत्व की वृद्धि है। संस्कृति का काम प्राणी को पशुत्व से मनुष्यत्व की ओर ले जाना

सिद्धान्त से तो सबल राष्ट्र सबल होते जाँयगे और निर्बल पिसते जाँयगे।"

इस प्रश्न का कुछ उत्तर दिया जा चुका है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर अगर आर्थिक आक्रमण करता है तो आयात पर प्रतिबंध लगाकर उस आक्रमण को रोकना अनुचित नहीं है। दूसरे राष्ट्र में अगर राष्ट्रीय कट्टरता है और वह किसी राष्ट्र पर आर्थिक आक्रमण करता है तो उसका उसी तरह सामना करना चाहिये; इसमें कोई पाप नहीं है। इतना ही नहीं किन्तु प्रत्येक राष्ट्र को—जबकि उसका शासनतंत्र जुदा है—कर्तव्य है कि वह आर्थिक योजना के रक्षण के लिये आयात निर्यात पर नियंत्रण रक्खे। इस आर्थिक योजना का प्रभाव समाज की सुख-शांति पर भी निर्भर है। मानलो एक राष्ट्र ऐसा है जो मजदूरोंसे दस घंटे काम लेता है और ऐसे यंत्रों का उपयोग करता है जिससे थोड़े आदमी बहुत काम कर सकते हैं, इससे बहुत से आदमी बेकार हो जाते हैं अथवा मजदूरों को सख्त मजूरी करना पड़ती है। परन्तु दूसरा राष्ट्र ऐसा है कि वह ऐसे यंत्रों का उपयोग करता है जिससे बेकारी न बढ़े, तथा वह मजदूरों से सख्त मिहनत भी नहीं लेना चाहता। ऐसी हालत में उसका माल मँहगा पड़ेगा। इसलिये आर्थिक दृष्टि से जीवित रहने के उसके सामने दो ही मार्ग होंगे—या तो वह आयात पर प्रतिबंध लगावे, या मजदूरोंसे ज्यादा मिहनत ले। मनुष्य का सुख शांति के लिये पहिला मार्ग ही ठीक है। इसलिये आयात पर कर लगाना उचित है। वास्तव में यह राष्ट्रीयता की पूजा नहीं, मनुष्यता की पूजा है। दूसरे देश पर आक्रमण करने में कट्टर राष्ट्रीयता है; परन्तु दूसरे के आक्रमण से अपनी रक्षा करने में, अपनी सुखशान्ति बढ़ाने में तो मनुष्यता की ही पूजा है।

इस विषय में एक बात यह कही जा सकती है कि "यदि मनुष्यता के नामपर भी आयात निर्यात का प्रतिबंध बना ही रहा, तब राष्ट्रीय कट्टरता का नाश कैसे होगा? प्रत्येक राष्ट्र की कठिनाइयाँ बढ़ जाँयगी। मानलो कि एक राष्ट्र ऐसा है जिसमें लोहा और कोयला बहुत है, परन्तु कृषिके योग्य स्थान नहीं है; और दूसरा देश ऐसा है कि जो इससे उलटा है। अब यदि दूसरा देश पहिले के मालपर प्रतिबंध लगाये तो पहिला देश भूखों मर जायगा। ऐसी अवस्था में मनुष्यता की भावना कैसे रह सकती है?"

यदि मनुष्य की भावना हो, अहंकार और आक्रमणका दुर्विचार न हो तो यह समस्या कठिन नहीं है। जिस राष्ट्र के पास अनाज नहीं है, वह अनाज के आयात पर प्रतिबन्ध क्यों लगायगा? और जिसके पास लोहा नहीं है वह लोहेके आयात पर प्रतिबन्ध क्यों लगायगा? इस प्रकारका माल तो आपस में बदल लेना चाहिये। एक मालसे दूसरे मालका बदला लेना चाहिये। एक माल से दूसरे माल का बदला स्वेच्छा और सुविधा से करने में कोई आपत्ति नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में जो सम्पत्ति का माध्यम हो उसे खींचने की कोशिश न करना चाहिये। मानलो कि सोना माध्यम है, या चाँदी माध्यम है तो अपना माल अधिक से अधिक देने की कोशिश करना और बदले में माल न लेकर सोना चाँदी लेना आक्रमण है। आक्रमण का विचार छोड़ दिया जाय और फिर जो अदला बदली हो उससे दोनों राष्ट्रों को लाभ होगा। इतने पर भी अगर किसी ऐसे देश की-जो प्राकृतिक सम्पत्ति से ग़रीब है-समस्या हल नहीं होती

तो उसका काम है कि वह किसी ऐसे देश से जुड़ जाय जो प्राकृतिक सम्पत्ति से अधिक पूर्ण हो। परन्तु दोनों में शास्य-शासक भाव न होना चाहिये, क्योंकि दो राष्ट्रों में शास्य-शासक भाव होना मनुष्यता की दिनदहाड़े हत्या करना है। जिन राष्ट्रों के पास जीवन-निर्वाह की पूरी सामग्री नहीं है, वे जनसंख्या का नियन्त्रण करें अथवा बढ़ी हुई जनसंख्या को किसी ऐसी जगह बसाने का प्रयत्न करें जहाँ जनसंख्या कम हो। परन्तु वहाँ जाकर अगर अपनी कोई विशेषता की रक्षा करने की कोशिश की जायगी, उसके लिये कोई विशेष सुविधा माँगी जायगी तो यह नीति सफल न होगी। इसलिये आवश्यक यह है कि जिस राष्ट्र में हम जाकर बसें वहाँ के निवासियों में हम मिल जावें। इसके लिये मनुष्योचित सद्गुणों को छोड़ने की या वहाँ के दुर्गुणों को अपनाने की ज़रूरत नहीं है; सिर्फ़ आत्मीयता प्रकट करने की, भाषा आदि को अपनालेने की तथा अपनी जातीय कट्टरता का त्याग करदेने की ज़रूरत है। इस नीति से न तो किसी राष्ट्र को भूखों मरना पड़ेगा न किसी को दूसरे राष्ट्र का बोझ उठाना पड़ेगा।

विश्वशान्ति और मनुष्य की उन्नति के लिये इस प्रकार की व्यवस्था आवश्यक है। जब तक मनुष्य राष्ट्र के नाम पर जातिभेद की कल्पना लिये रहेगा, तब तक वह एक दूसरे पर अत्याचार करता ही रहेगा। इसलिये एक न एक-दिन राष्ट्र के नाम पर फैले हुए जातिभेद को तोड़ना ही पड़ेगा। तभी वह चैन से बैठ सकेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय विवाह का रिवाज भी इसके लिये बहुत कुछ उपयोगी हो सकता है इसलिये उसका भी अधिक से अधिक प्रचार करना चाहिये। इस विषय में क़ानून का अन्तर है, परन्तु रूढ़िकी गुलामी दूर कर देने पर क़ानून की वह विषमता दूर हो जायगी और जो कुछ थोड़ी बहुत रह जायगी उसे सहन कर लिया जायगा। विवाह के पात्रों को यह बात पहिले ही समझ लेना चाहिये।

कहा जा सकता है कि 'यों ही तो नारी-अपहरण की घटनाएँ बहुत होती हैं। एक राष्ट्र की युवतियों को फुसला कर दूसरे राष्ट्र में ले जाना और वहाँ उन्हें असहाय पाकर वेश्या बना देना और उनकी शारीरिक शक्ति का क्षय होने पर उन्हें भिखारिन बनाकर छोड़ देना, ये सब घटनाएँ दिल दहलादेने वाली हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विवाहों से ये घटनाएँ और बढ़जायगीं,। यह भूल है, यह पाप एकही देश के भीतर भी हो रहा है। इसका अन्तर्राष्ट्रीय विवाह-पद्धति के प्रचार से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके हटाने के लिये सब सरकारों को मिलकर सम्मिलित प्रयत्न करना चाहिये, तथा इस प्रकार के लोगों के दमन के लिये विशेष क़ानून और विशेष प्रयत्न की ज़रूरत है।

राष्ट्रीय संस्कृति की विभिन्नता के कारण दाम्पत्य जीवन के अशान्तिमय हो जाने की बाधा भी बताई जा सकती है। परन्तु इसका उत्तर वर्ण-भेद के प्रकरण में दे चुका हूँ। यहाँ इतनी बात फिर कही जाती है कि राष्ट्रीय जातिभेद मिटजाने पर एक तो संस्कृति की विभिन्नता भी कम हो जायगी, दूसरी बात यह है कि यह सब व्यक्ति-गत प्रश्न है। दोनों को पारस्परिक अनुरूपता का विचार कर लेना चाहिये, तथा एक दूसरे की मनोवृत्ति से परिचित हो जाना चाहिये। इस प्रकार राष्ट्रीयता की दीवालों को गिराने के लिये यह वैवाहिक-सम्बन्ध भी अधिक उपयोगी हो सकता है, और इससे मनुष्यजाति एक दूसरे के गुणों को शीघ्रता से प्राप्त कर सकती है।

इस प्रकार विश्वकी शान्ति तथा उन्नति के लिये आवश्यक है कि राष्ट्रीयता के नामपर फैले हुए जातिभेद का नाश करके मनुष्य जाति की एकता सिद्ध की जाय और व्यवहार में लाई जाय।

बड़े बड़े देशों में प्रान्तीयता का भी विष राष्ट्रीयता के विष के समान फैलता है यह तो और भी बुरा है। इस में कट्टर राष्ट्रीयता का पाप तो है ही साथ ही मनुष्यता के साथ राष्ट्रीयता का नाशक होने से यह दुहरा पाप है।

वृत्तिभेद—अभी तक जो जातिभेद के रूप बतलाये गये हैं, उनके विषय में धर्मशास्त्रों में कोई विधिविधान न होने से वे धर्म के बाहर की चीज़ समझे जाते हैं। परन्तु आजीविका के भेद से जो जातिभेद बना, उसके विषय में धर्मशास्त्रों में बहुत से विधिविधान मिलते हैं, इसलिये बहुत से लोग धर्म के समान इसे भी समझने लगे हैं। सच पूछा जाय तो धर्म के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। वृत्तिभेद से बना हुआ जातिभेद एक समय की आर्थिक योजना है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार भेद सभी देशों में पाये जाते हैं; क्योंकि शिक्षण, रक्षण, वाणिज्य और सेवा की आवश्यकता सभी देशों को है। परन्तु इनके नामपर जैसा जातिभेद भारतवर्ष में बना वैसा अन्यत्र नहीं। यहाँ आर्थिक योजना की दृष्टि से बनाये गये इन संघों का सम्बन्ध रोटी-बेटी व्यवहार से भी हो गया है, धार्मिक क्रियाकांडों से भी हो गया है, परलोक की ठेकेदारी से भी भी हो गया है।

जिस समय यह वर्णव्यवस्था की गई थी, उस समय इसका यही लक्ष्य था कि समाज में आर्थिक सुव्यवस्था और शान्ति हो। जो जिस कार्य के योग्य है वह वही कार्य करे तथा अनुचित प्रतियोगिता से धन्धों को नुकसान न पहुँचे और न बेकारी की समस्या लोगों के सामने आवे। सैकड़ों वर्षोंतक इस व्यवस्था से भारतीयोंने लाभ उठाया। परन्तु पीछे से जब अकर्मण्य और अयोग्य व्यक्तियों की अधिकता होगई तथा इस व्यवस्थाने अन्य धार्मिक सामाजिक अधिकारों को कैद कर लिया, तब इससे सर्वनाश होने लगा।

वर्णभेद के नाम से प्रचलित इस वृत्तिभेद का जाति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, और न मनुष्य जाति के विभाग करने का इसमें कोई गुण है। रंग-भेद से तो फिर भी कुछ शारीरिक भेद मालूम होता है, तथा देशभेद में भाषाभेद आदि हो जाते हैं—यद्यपि इससे भी मनुष्य-जाति के भेद नहीं हो सकते—परन्तु वृत्तिभेद से तो इतना भी भेद नहीं होता। एक ही वंशमें पैदा होने वाले अनेक मनुष्यों की योग्यता में इतना अन्तर होता है कि उनमें कोई ब्राह्मण कोई क्षत्रिय कोई वैश्य और कोई शूद्र कहा जा सकता है।

इस वर्णभेद का मुख्य प्राण था आजीविकाकी व्यवस्था, सो इस दृष्टि से तो उसका सर्वनाश हो गया है। आज ब्राह्मण कहलाने वाले रोटी पकाते हैं, झाड़ू लगाते हैं, दूकानदारी करते हैं; क्षत्रिय कहलाने वाले खेती व्यापार करते हैं, अथवा कोई कोई अध्यापन आदि ब्राह्मण-वृत्ति करते हैं। वैश्य और शूद्र कहलाने वाले भी चारों वर्णकी आजीविका करते हैं। और जो लोग इस वर्णव्यवस्था में नहीं मानते वे भी सब कुछ करते हैं। इस प्रकार वर्णव्यवस्था का जो असली ध्येय था, वह तो शताब्दियों से नष्ट हो गया है। इस अवस्था में वर्णव्यवस्था की दुहाई देना व्यर्थ ही है। पुराने जमाने में इस प्रकार

का नियम बनाने की कोशिश की गई थी कि "प्रत्येक मनुष्य को अपनी अपनी आजीविका करना चाहिये; अगर न करे तो शासकों से वह दण्डनीय हो, क्योंकि ऐसा न करने से वर्णसंकरता फैल जायगी अर्थात् वर्णव्यवस्था गड़बड़ हो जायगी।

आज इस प्रकार की वर्णसंकरता निर्विवाद और निर्विरोध फैली हुई है। ऐसी अवस्था में वर्णव्यवस्था की दुहाई देकर अहंकार और मूढ़ता की उपासना क्यों करना चाहिये? और अगर करना भी हो तो उसे कर्म से मानना चाहिये। कर्मसे वर्णव्यवस्था मानने की आवाज पुरानी है।

खैर, वर्णव्यवस्था को जन्म से मानो या कर्मसे मानो, परन्तु उसका सम्बन्ध आर्थिक योजनासे ही है, खानपान और बेटीव्यवहार से नहीं।

खानपान के विषय में हमें तीन बातों का विचार करना चाहिये—अहिंसा, आरोग्य, और स्वच्छता। भोजन ऐसा न हो जिसके तैयार करने में बहुत हिंसा हुई हो। इस दृष्टि से मांसादिक का त्याग करना चाहिये। इसका वर्णव्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं; क्योंकि प्रत्येक वर्ण का आदमी इस प्रकार हिंसारहित भोजन कर सकता है। प्रकृति का कुछ ऐसा नियम नहीं है कि अमुक वर्ण के आदमी के हाथ लगने से ही भोजन में अमुक परिमाण में हिंसा हो जाय। शरीर तो जैसा ब्राह्मण का होता है वैसा शूद्रका होता है, इसलिये एक दूसरे के हाथ का भोजन करने में हिंसा अहिंसा की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं आ सकता।

आरोग्य का तो वर्णव्यवस्था से बिलकुल संबंध नहीं है। वह भोजन की जाति और अपनी प्रकृति पर ही निर्भर है। तीसरी बात है स्वच्छता। सो स्वच्छता भी हर एक के हाथ से बने हुए भोजन में हो सकती है। हाँ, यह हो सकता है कि अगर अपने को मालूम हो जाय कि अमुक व्यक्ति के यहाँ स्वच्छता नहीं रहती तो हम उसके यहाँ भोजन न करेंगे। परन्तु अपने घर आकर अगर वह स्वच्छता से भोजन तैयार करदे तो हमारी क्या हानि है? अथवा अपने घर या अन्यत्र वह हमारे साथ बैठकर भोजन करले तो इसमें क्या अस्वच्छता हो जायगी? इसलिये स्वच्छताके नामपर भी वर्णभेद में सहभोजका विरोध करना निरर्थक है।

इस प्रकार सहभोजका विरोधी कोई भी कारण न होने पर भी लोगों के मनमें एक अन्धविश्वास जमा हुआ है कि अगर हम शूद्रके हाथ का खा लेंगे तो शूद्र हो जायँगे। अमुकके हाथ का खालेंगे तो जाति चली जायगी। अगर सचमुच यह बात होती तो अभीतक हमारी मनुष्यता कभी की चली गई होती। भैंस का दूध पीते पीते हम भैंस हो गये होते और गाय का दूध पीते पीते गाय हो गये होते। अगर पशुओं का दूध पीने पर भी हम पशु नहीं होते तो किसी मनुष्य के हाथ का खा लेनेसे हम उसकी जातिके कैसे हो जाँयगे? हमारी जाति कैसे चली जायगी?

आश्चर्य तो यह है कि जो लोग मांसभक्षी हैं, वे भी भोजन में जाति-पाँति का खयाल करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि जो कुछ वे खाते हैं वह इतना अपवित्र है कि उससे अधिक अपवित्र दूसरी वस्तु नहीं हो सकती। इस प्रकार कहाँ तो वर्णव्यवस्था जो कि एक आर्थिक योजना रूप थी! और कहाँ ये खानपान के नियम!

इन दोनों में कोई सम्बन्ध न होने पर भी इनका कैसा विचित्र सम्बन्ध जोड़ लिया गया है ! सच बात तो यह है कि इस में अहंकारकी पूजा के सिवाय और कुछ नहीं है । मनुष्य धर्मके नामपर मदोन्मत्तता की या खुदा के नामपर शैतान की पूजा कर रहे हैं ।

मनुष्य-जाति की एकता को नष्ट करने वाले ये आत्मघाती प्रयत्न यहीं समाप्त नहीं हो जाते; किन्तु वे छुआछूत के रूप में एक और भयंकर रूप बतलाते हैं । अछूतता के लिये अगर बहाने बनाये जायँ तो वे ये ही हो सकते हैं--एकतो आचार-शुद्धि के लिये दुःसंगति का बचाव, दूसरा स्वच्छता की रक्षा का भाव । पहिला कारण यहाँ बिलकुल नहीं है, क्योंकि जिन मद्यमांस-भक्षण आदि दुष्कार्यों से बचने के लिये अछूतता का समर्थन किया जाता है, उनका सेवन अस्पृश्य कहलाने वालों के समान स्पृश्य कहलाने वालों में भी है । अनेक प्रान्तों में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन वस्तुओं का सेवन करते हैं । फिर भी ये अछूत नहीं समझे जाते ! और आश्चर्य तो यह है कि ये मांसभक्षी भी अछूत कहलाने वालों को उतना ही अछूत समझते हैं जितना कि अन्य शाकभोजी समझते हैं इसलिये मांसभक्षण आदि आचार की खराबियोंसे बचने के लिये यह अछूतता नहीं है । अगर होती तो भी उचित न कहलाती, क्योंकि मांसभक्षीका स्पर्श करने से उसका दोष नहीं लगता, और न उससे पाँच पापों में से कोई पाप होता है । हाँ, जो लोग हृदयसे दुर्बल हैं वे खानपान में ऐसे लोगोंकी संगतिका बचाव कर सकते हैं । परंतु बड़े बड़े भोजों में अथवा और भी ऐसे स्थानों में जहाँ मांस भक्षण के उत्तेजन की सम्भावना नहीं है, ऐसे बचाव की आवश्यकता नहीं है । खैर, अछूतताके साथ तो इसका कोई सम्बन्ध नहीं है ।

स्वच्छता की रक्षा का भाव भी अछूतपनका समर्थक नहीं है । इस दृष्टिसे अगर किसी को अछूत माना जाय तो सिर्फ उतने समय के लिये ही माना जाना चाहिये जितने समय वे अछूतता का काम करते हों । स्नानादिसे शुद्ध होनेपर उनको अछूत मानना मूढ़ता है । फिर जो अछूतता का काम करे वही अछूत है न कि सारा कुटुम्ब या जाति । आज तो होता यह है कि जिसकी जाति अछूत नहीं कहलाती, वह कैसा भी घृणित क्यों न हो वह अछूत न कहलायगा; और जिसकी जाति अछूत कहलाती है वह कैसा भी स्वच्छ हो वह अछूत कहलायगा—वह किसी भी हालत में स्पृश्य नहीं हो सकता । इस अंधेरशाही का स्वच्छता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है ।

कुछ लोग अछूत कहलानेवालों के शरीर को ही अशुद्ध बता दिया करते हैं । परन्तु शरीर में शुद्धिअशुद्धि का विचार करना ही व्यर्थ है । सभी मनुष्यों के शरीर में हाड़ मांस रक्त होता है और ये चीजें कभी शुद्ध नहीं होतीं । हाँ, रोगियों का शरीर अमुक दृष्टि से अशुद्ध और स्वस्थ मनुष्योंका शरीर अमुक दृष्टि से शुद्ध कहा जाता है परन्तु उस दृष्टि से तो अछूत कहलाने वाले भी परम शुद्ध हो सकते हैं और उच्च कहलाने वाले भी परम अशुद्ध हो सकते हैं ।

अगर मानसिक अशुद्धि की बात कही जाय तो वह भी व्यर्थ है, क्योंकि उच्च कहलानेवालों की मानसिक अशुद्धि अछूत कहलाने वालोंकी मानसिक अशुद्धि से कम नहीं होती । प्रेम, दया भक्ति, विश्वसनीयता आदि में स्पृश्य और अस्पृश्यों की जाति जुदी जुदी नहीं होती ।

कई लोग अछूत कहलाने वालों के साथ किये गये दुर्व्यवहार को पूर्व जन्म का पाप कहकर स्वयं संतोष करते हैं तथा उनको भी सन्तुष्ट करना चाहते हैं। यदि इसे पूर्वजन्म के पाप का फल भी मानलिया जाय तो इस तरह अज्ञात पापफल देनेका हमें कोई अधिकार नहीं है। यों तो हम बीमार पड़ते हैं तो यह भी पाप-फल है परन्तु इसीलिये बीमार की चिकित्सा न की जाय; एक सतीके ऊपर गुंडे आक्रमण करें तो यह विपत्ति भी सतीके पूर्वजन्म के पाप का फल है, इसीलिये गुंडों को न रोका जाय; हमारी चोरी होती है, खून होता है तो यह भी पूर्वजन्म के पाप का फल है इसीलिये चोरों और खूनियों को न रोका जाय तो समाज की क्या दुर्दशा हो? अछूत कहलानेवालों के साथ जो दुर्व्यवहार किया जाता है वह अत्याचार है, इस पाप-फल कहकर नहीं टाला जा सकता। अन्यथा मनुष्य को न्याय, भलाई, सुव्यवस्था करने का कोई अवसर ही न रह जायगा; मनुष्य की अवस्था पशुओं से भी भयंकर हो जायगी।

धार्मिक अधिकारों की दृष्टि से भी छूतों अछूतों में कोई जातिभेद नहीं है। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि महान् धर्म हैं। धर्म के नाम पर चलनेवाले अन्य आचार तो सब इन्हीं के साधन मात्र हैं। अहिंसा, सत्य आदि के पालन का ठेका किसी भी जातिविशेष को नहीं दिया जा सकता। अछूत कहलानेवालों को यह नहीं कह सकते कि तुम सत्य मत बोलो, ब्रह्मचर्य से मत रहो, अहिंसा का पालन मत करो। जब अहिंसा, सत्य आदि का अधिकार सब को है तब धर्म का ऐसा कोई अंग नहीं है जिसका अधिकार सबको न हो। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था के नामपर मनुष्य जाति के टुकड़े करना, स्पृश्यास्पृश्य की पापमय वासना का संरक्षण करना महान अपराध है

वर्ण-व्यवस्था का जिस प्रकार धार्मिक अधिकारों से, छूने न छूने से, असहभोज आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है, उसी प्रकार विवाह से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो आजीविका की सुव्यवस्था के लिये थी, इसलिये विवाह की क़ैद का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु जब आजीविका के भेद से पूज्यापूज्यता का सम्बन्ध जुड़ गया तब एक जटिल समस्या खड़ी हो गई। ब्राह्मण कुल में पैदा होनेवाली एक कन्या का अगर ऐसे कुल में विवाह हो जो लोक में सन्मान की दृष्टि से न देखा जाता हो तो इससे उसके चित्त को क्षोभ होना स्वाभाविक है। इसलिये अनुलोम विवाह का रिवाज़ बन गया। इसके अनुसार पहिले वर्ण की कन्या दूसरे वर्ण-वाले को नहीं दी जा सकती थी; किन्तु दूसरे वर्ण की कन्या पहिले वर्ण को दी जा सकती थी। परन्तु यह रिवाज़ भी बहुत समय चल नहीं सकता था क्योंकि इससे शूद्र वर्ण को बहुत आपत्ति का सामना करना पड़ता था। शूद्र कन्याओं को अन्य वर्ण के लोग ले तो लेते थे, परन्तु देते नहीं थे, इसलिये शूद्रों को कन्याओं की कमी होना स्वाभाविक था। अमुक अंश में वैश्यों को भी इस कठिनाई का सामना करना पड़ता था। इसलिये एक दूसरा रिवाज़ चल पड़ा कि ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य तो अनुलोम प्रतिलोम रूपमें विवाह सम्बन्ध करें, और शूद्र शूद्र के साथ ही करे।

प्रारम्भ के तीन वर्णों के जीवन के माध्यम में इतना अन्तर नहीं था कि एक वर्ण की कन्या दूसरे वर्ण के कुटुम्ब को महन न कर सके। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कुटुम्बों में स्त्रियों का

कार्यक्षेत्र क़रीब क़रीब एक सरीखा ही रहता है; जब कि शूद्र वर्ण की स्त्रियों को अन्य वर्ण की स्त्रियों की सेवा करने को जाना पड़ता है। इस विषमता के कारण अन्य वर्ण की स्त्रियाँ शूद्र वर्ण में नहीं आती थीं।

इससे यह तो मालूम होता ही है कि पुराने समय में असवर्ण विवाह का निषेध नहीं था। हाँ, स्त्रियों को मानसिक कष्ट न हो, इस खयाल से शूद्रों के साथ प्रतिलोम विवाह नहीं होता था। फिर भी स्वयंवर में इस नियम का पालन नहीं किया जाता था, क्योंकि स्वयंवर में वरका चुनाव कन्या ही करती थी। दूसरे लोग इस विषय में सलाह रूपमें भी हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे।

असवर्ण विवाह का विधान और रिवाज़ होने पर भी ऐसे विवाह अल्पसंख्या में हों, यह स्वाभाविक है; क्योंकि विवाह सम्बन्ध मैत्री का एक उत्कृष्ट रूप है। इसीलिये 'मैत्री प्रायः समान स्वभाव समान रहन सहन वालों में होती है' इस कहावत के अनुसार सवर्ण विवाह अधिक होते थे, असवर्ण विवाह कम। धीरे धीरे असवर्ण विवाहों की संख्या घटने लगी और घटते घटते यहाँ तक घटी कि वे बातें इतिहास की हो गईं। परन्तु असवर्ण विवाह के विरोध में कोई नैतिक बात नहीं कही जा सकती।

आजकल भी अवसर्ण विवाह होते हैं, परन्तु उनका रूप बदल गया है। जो लोग कर्म से जुदे जुदे वर्ण के हैं उनमें आपस में शादी हो जाती है। एक अध्यापक एक व्यापारी की पुत्री से शादी कर लेगा; एक व्यापारी अध्यापक की पुत्री से शादी कर लेगा। ये सब असवर्ण विवाह हैं; परन्तु इनका विरोध नहीं होता। परन्तु जो लोग जन्म से दूसरे वर्ण के हैं और कर्म से एक ही वर्ण के हैं उनमें अगर शादी हो तो विरोध होता है। इस मनोवृत्ति की मूढ़ता इतनी स्पष्ट है कि उसे अधिक स्पष्ट करने की ज़रूरत नहीं है। असवर्ण विवाह में अगर कोई आपत्ति खड़ी की जा सकती है तो उसका सम्बन्ध कर्म से ही होगा जन्म से नहीं। क्योंकि एक स्त्री ब्राह्मण कुल में पैदा हुई हो तो उसे शूद्र या व्यापार करनेवाले के घर जाने में संकोच हो सकता है; परन्तु शूद्र कुल में पैदा होनेवाले किन्तु विद्यापीठ में अध्यापकी करनेवाले के घर जाने में क्या आपत्ति हो सकती है? असवर्ण विवाह का अगर विरोध भी किया जाय तो कर्म से असवर्ण विवाहों का विरोध करना चाहिये न कि जन्म से, और कर्म से असवर्ण विवाह का विरोध भी वहीं करना चाहिये जहाँ कन्या का विरोध हो।

बहुत से लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों को जाति का रूप देकर असवर्ण विवाहों का विरोध करते हैं; परन्तु इन वर्णों को जाति का रूप देना ठीक नहीं; क्योंकि जाति की दृष्टि से तो मनुष्य एक ही जाति है। वर्ण-व्यवस्था तो आर्थिक व्यवस्था के लिये बनाई गई है। जाति का सम्बन्ध आकृति आदि के भेद से है। जैसे हाथी, घोड़ा, ऊँट आदि में आकृति भेद से जातिभेद माना जाता है वैसा मनुष्यों के भीतर कहीं नहीं माना जाता।

जहाँ जातिभेद होता है वहाँ लैङ्गिक सम्बन्ध कठिन होता है। अगर होता है तो सन्तान की विषमाकृति दिखलाई देती है, और कहीं कहीं आगे संतति नहीं चलती। असवर्ण विवाह में यह बात बिलकुल नहीं देखी जाती। जिन देशों में वर्णव्यवस्थाका ऐसा कट्टर रूप नहीं है और अबाधरूप में असवर्ण विवाह होते हैं, वहाँ सन्तान-परम्परा बराबर अच्छे ढंग से चलती है। ब्राह्मणी का शूद्र के साथ भी सम्बन्ध किया जाय तो भी सन्तान-

परम्परा अबाध रूप में चलेगी । इसलिये वर्णों को जाति का रूप देना ठीक नहीं ।

हाँ, जाति शब्द का साधारण अर्थ समानता है, । वर्णों में अर्थोपार्जन के ढंगकी समानता पाई जाती है, इसलिये इन्हें इस दृष्टि से जाति भले ही कहा जाय; परन्तु इस ढंग से तो टोपीवालों की एक जाति और पगड़ीवालों की दूसरी जाति कही जा सकती है। इसलिये विवाह सम्बन्ध अर्थात् लैंगिक सम्बन्ध के लिये जो जातिभेद हानिकर है, वैसा जातिभेद ही वास्तव में जाति-भेद शब्द से कहना चाहिये, जोकि वर्णभेद में नहीं है । इसलिये जातिभेद की दुहाई देकर असवर्ण-विवाह का निषेध नहीं किया जा सकता ।

आज तो वर्णव्यवस्था है ही नहीं, अगर हो तो उसका क्षेत्र बाजार में है, रोटी-बेटी-व्यवहार में नहीं । इसलिये उसके नाम पर मनुष्य जाति के टुकड़े करने की कोई जरूरत नहीं है । घृणा और अहंकार की पूजा करना मनुष्य सरीखे समझदार प्राणी को शोभा नहीं देता । इसलिये इस दृष्टि से भी हमें मनुष्यब्रह्म की उपासना करना चाहिये ।

उपजाति कल्पना-देश, रंग और आजीविका के भेद से मनुष्यने जिन जातियों की कल्पना की, उन सबसे अद्भुत और संकुचितता-पूर्ण इन उप-जातियों की कल्पना है । कहीं कहीं इनको जाति कहते हैं । परन्तु इनको जाति समझना जाति शब्द का मखौल उड़ाना है । हाँ, रूढ़ शब्द के समान इसका उपयोग किया जाय तो बात दूसरी है।

अनेक प्रान्तों में इन उपजातियों को 'ज्ञाति' कहते हैं । इसका अर्थ है कुटुम्ब । इस दृष्टि से यह उपयुक्त है । 'न्यात' शब्द भी इसी शब्द का अपभ्रंश रूप है, जो इसी अर्थ में प्रचलित है । वास्तव में ये उपजातियाँ एक बड़े कुटुम्बके समान हैं । इनकी उत्पत्ति की जो किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, उनसे भी यही बात मालूम होती है । जैसे अग्रवालों की उत्पत्ति राजा अग्रसेन से मानी जाती है, उनके अठारह पुत्रों से अठारह गोत्र बने, इस दृष्टि से अग्रवाल एक बड़ा कुटुम्ब ही कहलाया । इस प्रकार ये उपजातियाँ बड़े बड़े कुटुम्ब ही हैं । मित्रवर्ग नातेदार-वर्ग भी इसमें शामिल हुआ है ।

ये उपजातियाँ मतभेद स्थानभेद आदि के कारण बनी हैं । इनके गोत्र भी इन्हीं कारणों से बने हैं, जिनमें आजीविका वगैरह के भेद भी कारण हैं । जिस जमाने में आने जाने के साधन बहुत कम थे और लोग दूसरे प्रान्तों में बस जाते थे, तब अपने मूलग्राम या प्रान्त के नाम से प्रसिद्ध होते थे । ये ही नाम गोत्र या उपजाति-बन जाते थे । कभी कभी प्रधान पुरुषों के नामसे ये गोत्र बन जाते थे ।

सरयू के उस पार बसने वाले सरयूपारि आदि के समान भारत में सैकड़ों टुकड़ियाँ बनी हैं और ये जाति नामसे प्रचलित हैं, यदि सबका इतिहास खोजा जाय तो एक बड़ा पोथा बनेगा । सबका विधिबद्ध इतिहास उपलब्ध नहीं है । परन्तु उनके नामही इतिहास की बड़ी भारी सामग्री हैं । साथ ही कुछ इतिहास मिलता भी है, उस परसे बाकी का अनुमान किया जा सकता है । धर्मग्रन्थों में भी इन जातियों की उत्पत्ति के विषय में बहुत कुछ लिखा है ।

इन जातियों के भीतर शारीरिक, मानसिक या व्यापारिक ऐसी कोई विशेषता नहीं है जो इन की सीमा कही जा सके । अवसर पड़ने पर

किसी सुविधा के लिये कुछ लोगोंने अपना संघ बना लिया और उसीके भीतर सारे व्यवहारों को कैद कर लिया। आज इस प्रकार की उपजातियों में ऐसी अनेक उपजातियाँ है जिनकी जनसंख्या कुछ सैकड़ों या हजारों में है। ऐसे छोटे छोटे क्षेत्रों में विवाह-सम्बन्ध के लिये बड़ी अड़चन पड़ती है और चुनाव के लिये इतना छोटा क्षेत्र मिलता है कि योग्य चुनाव करना बड़ा कठिन है। फिर जो लोग व्यापारिक आदि सुविधा के कारण दूर बस जाते हैं, उनको दूरस्थ देशों में विवाह-सम्बन्ध की सुविधा होना चाहिये। अन्यथा उनकी वैवाहिक कठिनाइयाँ और बढ़ जायँगी।

इस प्रकार उपजाति विवाह के विषय में तथा अन्य प्रकार के विजातीय विवाहों के विषय में लोग अनेक प्रकार की शंका करने लगते हैं, संकुचित क्षेत्र में विवाह-सम्बन्ध करने के लाभ बतलाने लगते हैं। उन पर विचार करना आवश्यक है। इसलिये संक्षेप में शंका समाधान के रूप में विचार किया जाता है।

शंका—विजातीय विवाह से जातीय संगठन नष्ट हो जायगा। संगठन जितने छोटे क्षेत्र में रहे उतना ही दृढ़ होता है। उसमें व्यवस्था भी बड़ी सरलता से बनाई जा सकती है।

समाधान—संगठन की दृढ़ता क्षेत्र की लघुता पर नहीं, भावना की विशेषता पर है। मुसलमान लोग भारत में आठ करोड़ हैं, परन्तु उनका जो संगठन है वह हिंदुओं की किसी जाति का नहीं है। संख्या में छोटी होने पर भी वह संगठन में मुसलमानों की बराबरी नहीं कर सकती। इधर इन छोटे छोटे संगठनों को महत्त्व देने से बड़ा संगठन रुकता है। हिंदुओं की छोटी छोटी उपजातियों का संगठन समग्र हिंदुओं के संगठन में बाधा पैदा करता है। फिर राष्ट्र का संगठन तो और भी दूर है। इस प्रकार यह छोटा छोटा संगठन दृढ़ता तो पैदा करता ही नहीं है परन्तु विशाल संगठन के मार्ग में रोड़े अटकाता है। अगर यह दृढ़ता पैदा भी करता तो भी विशाल संगठन को रोकने के कारण यह हेय ही होता। दूसरी बात यह है कि छोटी छोटी जातियों के संगठन का आखिर मतलब क्या है? क्या इनका कोई ऐसा स्वार्थ है जिस का संगठन के द्वारा रक्षण करना हो? आर्थिक स्वार्थ तो विशेष प्रकार की राजनैतिक सीमा के साथ बँधा हुआ है। उसका इन टुकड़ियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। एक राष्ट्र के आर्थिक और राजनैतिक स्वार्थ-रक्षण के लिये एक संगठन की बात कही जाय तो किसी प्रकार ठीक भी है; परन्तु जाति नामक टुकड़ियों का ऐसा विशेष स्वार्थ नहीं है जो एक जाति का हो और दूसरी का न हो। धार्मिक स्वार्थ की दुहाई दी जाय तो भी ठीक नहीं है। पहिले तो धर्मों के स्वार्थ ही क्या हैं?—एक धर्मवाले दूसरे धर्म पर आक्रमण करें तो धर्म के नाम पर संगठन होना चाहिये, न कि जाति के नामपर--फिर इन उपजातियों का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। एक उपजातिके भीतर अनेक धर्म पाये जाते हैं और एक ही धर्म के भीतर अनेक उपजातियाँ पाई जाती हैं। इस प्रकार धर्मरक्षण के लिये भी ये उपजातियाँ कुछ नहीं कर सकतीं।

कहा जा सकता है कि थोड़ासा दान करके या शक्ति खर्च करके छोटी जाति को लाभ पहुंचाया जा सकता; है बड़ी जाति में यह काम नहीं किया जा सकता; अगर समग्र भारत की

एक ही जाति हो तो हमारी थोड़ीसी शक्ति किस काम आयगी ? उतने बड़े क्षेत्र के लिये उसका उपयोग ही न होगा।

इस प्रकार का प्रश्न करनेवाले यह बात भूल जाते हैं कि छोटी छोटी जातियों की कैद न रहने से जिस प्रकार क्षेत्र विशाल हो जायगा उसी प्रकार शक्तियाँ लगानेवालों की संख्या भी तो बढ़ जायगी। आज जो हम अपनी छोटीसी जाति के लिये दान करते हैं या जो शक्ति लगाते हैं उसका लाभ दूसरे नहीं उठापाते; परन्तु दूसरे भी तो इसी प्रकार अपनी जाति के लिये कार्य करते हैं जिसका लाभ हम नहीं उठापाते। अगर इस प्रकार छोटी छोटी जातियों में सब लोग अपनी शक्ति लगाने लगें तो सभी का विकास रुक जाय क्योंकि जीवन के लिये जिन कार्योंकी आवश्यकता है उनका शतांश भी एक एक जाति पूरा नहीं कर सकती। एक दूसरे को अवलम्बन दिये बिना कोई आगे नहीं बढ़ सकता। इसलिये विशाल दृष्टि रखकर ही काम करने की आवश्यकता है। इस प्रकार के छोटे छोटे संगठन जितने साधक हो सकते हैं, उससे कई गुणे बाधक होते हैं। इसलिये इनका त्याग करना ही श्रेष्ठ है।

अथवा थोड़ी देर को इनकी जरूरत हो तो भी विजातीय-विवाह से इनका नाश नहीं होता। जैसा कि गोत्रों का नाश नहीं होता। स्त्री जन्म से जिस गोत्र की होती है, विवाह के बाद उसका गोत्र बदलकर पति का गोत्र हो जाता है। फिर भी गोत्रोंकी सीमा नहीं टूटती। इसी प्रकार इन छोटी छोटी जातियों का भी हो सकता है। साधारणतः स्त्री पुरुष के घर में जाती है, इस लिये स्त्री की जाति वही हो जायगी जो उसके पति की है। इस प्रकार जाति-संगठन का गीत गानेवालों केलिये ये जातियाँ बनी रहेंगीं, और विवाह का क्षेत्र विशाल हो जाने से सुभीता भी हो जायगा।

इस विषय में एक बार एक भाईने कहा था कि यह तो स्त्रियों का बड़ा अपमान है कि विवाह से उन्हें अपनी जाति से भी हाथ धोना पड़े। परन्तु ऐसे भाइयों को समझना चाहिये कि अगर इसे अपमान माना जाय तो यह अपमान विजातीय विवाह से सम्बन्ध नहीं रखता; इसकी जड़ बहुत गहरी है। आज कल आखिर स्त्रियों को गोत्र से और कुटुम्बसे तो हाथ धोना ही पड़ता है। जहाँ सूतक पातक माना जाता है, वहाँ विवाह के बाद पितृकुल का सूतक तक नहीं लगता, और पतिकुल का लगता है। इसलिये यह अन्याय बहुत दूर का है। जब स्त्रियों का कुल, गोत्र आदि बदल जाता है तब एक कल्पित जाति और बदल गई तो क्या हानि हुई ? असली बात तो यह है कि यह मानापमान का प्रश्न ही नहीं है। विवाह के बाद स्त्री और पुरुष का एकत्र रहना तो अनिवार्य है; ऐसी हालत में किसी एकको दूसरे के यहां जाना पड़ेगा, और अपने को हर तरह उसी घर का बना लेना पड़ेगा। अगर ऐसा न किया जायगा और कुल गोत्र गृह का भेद बना रहेगा तो दाम्पत्य-जीवन अत्यन्त अशांतिमय हो जायगा। इसलिये दोनों का एक करना अनिवार्य है। ऐसी हालत में सुव्यवस्था के लिये स्त्री का गोत्र बदल दिया गया तो क्या हानि है ? अगर कहीं पुरुष को स्त्री के घर जाकर रहना पड़े और पुरुष का गोत्र बदल दिया जाय तो भी कोई हानि नहीं है। घर-जमाई के विषय में यही रीति काम में लाई जा सकती

है। इसे मानापमान न समझ कर समाज की सुव्यवस्था के लिये किया गया त्याग समझना चाहिये। यह त्याग चाहे स्त्री को करना पड़े चाहे पुरुष को, अगर इस प्रकार पदपद पर मानापमान की कल्पना की जायगी तो समाज का निर्माण करना असम्भव हो जायगा।

खैर, विजातीय विवाह से जातियों का नाश नहीं होता, जिससे संगठन न हो सके। तथा इन छोटे छोटे संगठनों के अभावसे कुछ हानि नहीं होती बल्कि संगठन का क्षेत्र बढ़ जाने से संगठन विशाल होता है।

प्रश्न—विवाह के लिये जातियों की सीमा तोड़ दी जायगी तो अनमेल विवाह बहुत होंगे, क्योंकि छोटी जातियों में पारस्परिक परिचय अधिक होने से एक दूसरे को अच्छी तरह समझ कर विवाह किया जा सकता है। विजातीय विवाह में परिचय को गुंजाइश कहाँ है? इसलिये अनमेल विवाह या विषम विवाह बहुत होंगे।

उत्तर—विजातीय-विवाह का अर्थ अपरिचित के साथ विवाह नहीं है। इन छोटी जातियों के कुछ जुदे जुदे देश या राष्ट्र नहीं हैं कि परिचय क्षेत्र जातियों में सीमित रहे। हमारा पड़ौसी चाहे वह दूसरी जाति का हो उसका जितना परिचय हमें हो सकता है उतना परिचय अपनी जाति के दूरस्थ व्यक्ति से नहीं हो सकता। यह आवश्यक है कि विवाह के पहिले वर कन्या एक दूसरे के स्वभाव शिक्षण आदि से परिचित हो जाँय। परन्तु ऐसा परिचय तो विजातीयों में भी सरल है और सजातीयों में भी कठिन है। सच पूछा जाय तो सजातीय-विवाह में अल्प क्षेत्र होने से अनमेल विवाह अधिक होते हैं। विजातीय विवाह में चुनाव का क्षेत्र अधिक हो जायगा इसलिये अनमेल विवाह की सम्भावना कम रहेगी

प्रारम्भ में अवश्य ही दिक्कत होगी, क्योंकि हरएक जाति का प्रत्येक मनुष्य इस कार्य को तैयार नहीं होता इसलिये विजातीय विवाह का क्षेत्र सजातीय विवाह से भी छोटा मालूम होता है। परन्तु अन्त में विजातीय विवाह का क्षेत्र बढ़ेगा। प्रारम्भ में जो पीड़ा होती हो उसे सहन करना चाहिये। तथा इस सुप्रथा के प्रचारार्थ थोड़ी बहुत मात्रा में ऐसी विषमता को सहन करना चाहिये जो विवाह के बाद थोड़े से प्रयत्न से सुधारी जा सकती हो।

प्रश्न—विजातीयविवाह से सन्तान संकर हो जायगी। माँ की एक जाति, बाप की दूसरी जाति। तो सन्तान की तीसरी खिचड़ी जाति होगी यह सब ठीक नहीं मालूम होता।

उत्तर—माँ का एक गोत्र, बाप का दूसरा गोत्र होने पर भी जिस प्रकार संतान का खिचड़ा गोत्र नहीं होता, उसी प्रकार खिचड़ी जाति न होगी। पितृ-परम्परा से जिस प्रकार गोत्र चला आता है उसी प्रकार जाति भी चली आयगी। दूसरी बात यह है कि जब तक इन जातियों की कल्पना का भूत सिर पर सवार है तभीतक खिचड़ी और खिचड़ा की चिन्ता है। जब कि वास्तव में इनका कोई मौलिक अस्तित्व ही नहीं है तब माँ बाप की दो जातियाँ ही कहां हुईं जिनके संकर की बात कही जाय? इन जातियोंकी कोई शारीरिक या मानसिक विशेषता नहीं है जिससे इनमें जुदापन माना जाय।

इस प्रकार और भी शंकाएँ उठाई जा सकती हैं जिनका समाधान सरल है। पहिले जो

एक ही जाति हो तो हमारी थोड़ीसी शक्ति किस काम आयगी ? उतने बड़े क्षेत्र के लिये उसका उपयोग ही न होगा ।

इस प्रकार का प्रश्न करनेवाले यह बात भूल जाते हैं कि छोटी छोटी जातियों की कैद न रहने से जिस प्रकार क्षेत्र विशाल हो जायगा उसी प्रकार शक्तियाँ लगानेवालों की संख्या भी तो बढ़ जायगी । आज जो हम अपनी छोटीसी जाति के लिये दान करते हैं या जो शक्ति लगाते हैं उसका लाभ दूसरे नहीं उठापाते; परन्तु दूसरे भी तो इसी प्रकार अपनी जाति के लिये कार्य करते हैं जिसका लाभ हम नहीं उठापाते । अगर इस प्रकार छोटी छोटी जातियों में सब लोग अपनी शक्ति लगाने लगें तो सभी का विकास रुक जाय क्योंकि जीवन के लिये जिन कार्योंकी आवश्यकता है उनका शतांश भी एक एक जाति पूरा नहीं कर सकती । एक दूसरे को अवलम्बन दिये बिना कोई आगे नहीं बढ़ सकता । इसलिये विशाल दृष्टि रखकर ही काम करने की आवश्यकता है । इस प्रकार के छोटे छोटे संगटन जितने साधक हो सकते हैं, उससे कई गुणे बाधक होते हैं । इसलिये इनका त्याग करना ही श्रेष्ठ है ।

अथवा थोड़ी देर को इनकी जरूरत हो तो भी विजातीय-विवाह से इनका नाश नहीं होता । जैसा कि गोत्रों का नाश नहीं होता । स्त्री जन्म से जिस गोत्र की होती है, विवाह के बाद उसका गोत्र बदलकर पति का गोत्र हो जाता है । फिर भी गोत्रोंकी सीमा नहीं टूटती । इसी प्रकार इन छोटी छोटी जातियों का भी हो सकता है । साधारणतः स्त्री पुरुष के घर में जाती है, इस लिये स्त्री की जाति वही हो जायगी जो उसके पति की है । इस प्रकार जाति-संगठन का गीत गानेवालों केलिये ये जातियाँ बनी रहेंगी, और विवाह का क्षेत्र विशाल हो जाने से सुभीता भी हो जायगा ।

इस विषय में एक बार एक भाईने कहा था कि यह तो स्त्रियों का बड़ा अपमान है कि विवाह से उन्हें अपनी जाति से भी हाथ धोना पड़े । परन्तु ऐसे भाइयों को समझना चाहिये कि अगर इसे अपमान माना जाय तो यह अपमान विजातीय विवाह से सम्बन्ध नहीं रखता; इसकी जड़ बहुत गहरी है । आज कल आखिर स्त्रियों को गोत्र से और कुटुम्बसे तो हाथ धोना ही पड़ता है । जहाँ सूतक पातक माना जाता है, वहाँ विवाह के बाद पितृकुल का सूतक तक नहीं लगता, और पतिकुल का लगता है । इसलिये यह अन्याय बहुत दूर का है । जब स्त्रियों का कुल, गोत्र आदि बदल जाता है तब एक कल्पित जाति और बदल गई तो क्या हानि हुई ? असली बात तो यह है कि यह मानापमान का प्रश्न ही नहीं है । विवाह के बाद स्त्री और पुरुष का एकत्र रहना तो अनिवार्य है; ऐसी हालत में किसी एकको दूसरे के यहां जाना पड़ेगा, और अपने को हर तरह उसी घर का बना लेना पड़ेगा । अगर ऐसा न किया जायगा और कुल गोत्र गृह का भेद बना रहेगा तो दाम्पत्य-जीवन अत्यन्त अशांतिमय हो जायगा । इसलिये दोनों का एक करना अनिवार्य है । ऐसी हालत में सुव्यवस्था के लिये स्त्री का गोत्र बदल दिया गया तो क्या हानि है ? अगर कहीं पुरुष को स्त्री के घर जाकर रहना पड़े और पुरुष का गोत्र बदल दिया जाय तो भी कोई हानि नहीं है । घर-जमाई के विषय में यही रीति काम में लाई जा सकती

है। इसे मानापमान न समझ कर समाज की सुव्यवस्था के लिये किया गया त्याग समझना चाहिये। यह त्याग चाहे स्त्री को करना पड़े चाहे पुरुष को, अगर इस प्रकार पदपद पर मानापमान की कल्पना की जायगी तो समाज का निर्माण करना असम्भव हो जायगा।

खैर, विजातीय विवाह से जातियों का नाश नहीं होता, जिससे संगठन न हो सके। तथा इन छोटे छोटे संगठनों के अभावसे कुछ हानि नहीं होती बल्कि संगठन का क्षेत्र बढ़ जाने से संगठन विशाल होता है।

प्रश्न—विवाह के लिये जातियों की सीमा तोड़ दी जायगी तो अनमेल विवाह बहुत होंगे, क्योंकि छोटी जातियों में पारस्परिक परिचय अधिक होने से एक दूसरे को अच्छी तरह समझ कर विवाह किया जा सकता है। विजातीय विवाह में परिचय को गुंजाइश कहाँ है? इसलिये अनमेल विवाह या विषम विवाह बहुत होंगे।

उत्तर—विजातीय-विवाह का अर्थ अपरिचित के साथ विवाह नहीं है। इन छोटी जातियों के कुछ जुदे जुदे देश या राष्ट्र नहीं हैं कि परिचय क्षेत्र जातियों में सीमित रहे। हमारा पड़ौसी चाहे वह दूसरी जाति का हो उसका जितना परिचय हमें हो सकता है उतना परिचय अपनी जाति के दूरस्थ व्यक्ति से नहीं हो सकता। यह आवश्यक है कि विवाह के पहिले वर कन्या एक दूसरे के स्वभाव शिक्षण आदि से परिचित हो जाँय। परन्तु ऐसा परिचय तो विजातीयों में भी सरल है और सजातीयों में भी कठिन है। सच पूछा जाय तो सजातीय-विवाह में अल्प क्षेत्र होने से अनमेल विवाह अधिक होते हैं। विजातीय विवाह में चुनाव का क्षेत्र अधिक हो जायगा इसलिये अनमेल विवाह की सम्भावना कम रहेगी

प्रारम्भ में अवश्य ही दिक्कत होगी, क्योंकि हरएक जाति का प्रत्येक मनुष्य इस कार्य को तैयार नहीं होता इसलिये विजातीय विवाह का क्षेत्र सजातीय विवाह से भी छोटा मालूम होता है। परन्तु अन्त में विजातीय विवाह का क्षेत्र बढ़ेगा। प्रारम्भ में जो पीड़ा होती हो उसे सहन करना चाहिये। तथा इस सुप्रथा के प्रचारार्थ थोड़ी बहुत मात्रा में ऐसी विषमता को सहन करना चाहिये जो विवाह के बाद थोड़े से प्रयत्न से सुधारी जा सकती हो।

प्रश्न—विजातीयविवाह से सन्तान संकर हो जायगी। माँ की एक जाति, बाप की दूसरी जाति। तो सन्तान की तीसरी खिचड़ी जाति होगी यह सब ठीक नहीं मालूम होता।

उत्तर—माँ का एक गोत्र, बाप का दूसरा गोत्र होने पर भी जिस प्रकार संतान का खिचड़ा गोत्र नहीं होता, उसी प्रकार खिचड़ी जाति न होगी। पितृ-परम्परा से जिस प्रकार गोत्र चला आता है उसी प्रकार जाति भी चली आयगी। दूसरी बात यह है कि जब तक इन जातियों की कल्पना का भूत सिर पर सवार है तभीतक खिचड़ी और खिचड़ा की चिन्ता है। जब कि वास्तव में इनका कोई मौलिक अस्तित्व ही नहीं है तब माँ बाप की दो जातियाँ ही कहां हुईं जिनके संकर की बात कही जाय? इन जातियोंकी कोई शारीरिक या मानसिक विशेषता नहीं है जिससे इनमें जुदापन माना जाय।

इस प्रकार और भी शंकाएँ उठाई जा सकती हैं जिनका समाधान सरल है। पहिले जो

अनेक प्रकार का जातिभेद बताया गया है और वहां जो शंकाएँ उठाई गई हैं वे यहां भी उठाई जा सकतीं हैं और उनका समाधान भी वही है जो वहां किया गया है। तथा यहां की शंकाएँ वहां भी उठाई जा सकती थीं और उनका समाधान भी यहीं के समान होता।

इस प्रकार मनुष्य-जाति की एकता के लिये हरएक तरह का विजातीय-विवाह आवश्यक है। हां, इतनी बात अवश्य है कि स्त्री-पुरुष एक दूसरे को अनुकूल और सह्य अवश्य हों। अगर किसी को काला साथी पसन्द नहीं है, दूसरी भाषा बोलने वाला पसन्द नहीं है तो भले ही वह ऐसा साथी न चुने। परन्तु उसमें इन कारणों की ही दुहाई देना चाहिये, न कि जाति की। दूसरी बात यह है कि अगर दो व्यक्तियों ने अपना चुनाव कर लिया उनमें एक ब्राह्मण है दूसरा शूद्र, एक आर्य है दूसरा अनार्य, एक गुजराती है दूसरा मराठी; इतने पर भी दोनों प्रेमसे बँधना चाहते हैं तो इसमें तीसरे को—समाज को—हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। विवाह के विषयमें "मियाँ बीबी राजी तो क्या करेगा काजी" की कहावत प्रायः चरितार्थ होना चाहिये। अनेक तरहका जो कल्पित जातिभेद है, किसीको उसीके भीतर सुयोग्य सम्बन्ध मिल रहा है और कारणवश अन्यत्र नहीं मिलता तो वह कल्पित सीमाके भीतर ही सम्बन्ध कर सकता है; इसमें कोई बुराई नहीं है। परन्तु सीमाके भीतर रहनेके लिये सुपात्रको छोड़ना और अल्प पात्रको ग्रहण करना बुरा है।

विवाह और सहभोज, ये मनुष्य जातिकी एकता के लिये बहुत आवश्यक हैं। यद्यपि कहीं कहीं इनके होने पर भी एकतामें कमी रहजाती है, परन्तु इसका कारण विजातीय विवाहोंका बहुत अल्प संख्या में होना है। इसलिये इनकी संख्या बढ़ना चाहिये।

इतना होने पर भी अमुक अंशमें जातिमद रह सकता है उसको भी निर्मूल करना चाहिये। उसका उपाय अपनी भावनाओंको उदार बनाना है। जब हम पूरे गुणपूजक हो जाँयगे, तब हममें से पक्षपात निकल जायगा। जातिमदके निकलने पर, सर्वजातिसमभाव के पैदा होने पर मनुष्यमें सहयोग बढ़ेगा, अनावश्यक झगड़े नष्ट होनेसे शान्ति मिलेगी, शक्तिकी बचत होगी, प्रगति होगी। आज मनुष्यकी जो शक्ति एक दूसरेके भक्षणमें तथा आत्मरक्षणमें खर्च होती है, वह मनुष्यजातिके दुःख दूर करनेमें जायगी। उस शक्तिके द्वारा वह प्रकृतिके रहस्योंको जानकर उनका सदुपयोग कर सकेगा। इसलिये हर तरहसे मनुष्यजातिकी एकताके लिये प्रयत्न करना चाहिये। यह पूर्ण जातिसमभाव योगीका तीसरा चिह्न है।

४ व्यक्ति-समभाव

संयम, ईमानदारी, और सामाजिक सुव्यवस्था की जड़ है व्यक्ति-समभाव। जगत में जितने पाप होते हैं वे सिर्फ इसलिये कि मनुष्य अपने स्वार्थ को मर्यादा से अधिक मुख्यता देता है और दूसरों के स्वार्थ को मर्यादा से अधिक गौण बनाता है। हिंसा इसलिये करता है कि दुनिया भले ही मरे हमें जीवित रहना चाहिये, झूठ इस लिये बोलता है कि दुनिया भले ही ठगी जाय हमारा काम बनना चाहिये, इसी प्रकार सारे पापों की जड़ यही स्वार्थान्धता है। व्यक्ति-समभाव में मनुष्य अपने स्वार्थ के समान जगत के स्वार्थ का

भी खयाल रखता है इसलिये उसका जीवन स्वपरसुखवर्धक और निष्पाप होता है।

ध्येयदृष्टि अध्याय में बताया गया गया है कि विश्वसुखवर्धन जीवन का ध्येय है। इस ध्येय की पूर्ति व्यक्ति समभाव के बिना नहीं हो सकती इसलिये उस ध्येय के अनुकूल व्यक्ति-समभाव अत्यावश्यक है।

व्यक्ति समभाव के लिये दो तरहकी भावना सदा रखना चाहिये। १ स्वोपमता २ चिकित्स्यता

स्वोपमता—स्वोपमता का मतलब है दूसरे के दुःखको अपने दुःख के समान समझना। जिस काम से हमें दुःख होता है उस से दूसरों को भी होता है इसलिये वह काम नहीं करना चाहिये यह स्वोपमता भावना है। कर्तव्याकर्तव्य निर्णय के लिये यह भावना बहुत उपयोगी है।

चिकित्स्यता—चिकित्स्यता का मतलब है पापी को बीमार समझकर दया करना। उसको दंड देनेकी अपेक्षा सुधार करने की चेष्टा करना अगर क्षमा करने का उस पर अच्छा प्रभाव पड़ने की सम्भावना हो तो उसे क्षमा करना।

प्रश्न—अगर मनुष्य सब जीवों को स्वोपम समझने लगे तब तो उसका जीना मुश्किल हो जाय क्योंकि वनस्पति आदि के असंख्य प्राणियों का नाश किये बिना वह जीवित नहीं रह सकता उनको स्वोपम-अपने समान-समझने से कैसे काम चलेगा?

उत्तर—ध्येयदृष्टि अध्याय में अधिक से अधिक प्राणियों के अधिक से अधिक सुख का वर्णन किया गया है स्वोपमता का विचार करते समय उस ध्येय को न भुलाना चाहिये। उसमें चैतन्य की मात्रा का विचार करके आत्मरक्षा के लिये काफी गुंजाइश बताई गई है।

प्रश्न जहां चैतन्य की मात्रा में विषमता है वहाँ ध्येय दृष्टि का उक्त सिद्धान्त काम आ जायगा पर मनुष्यों मनुष्यों में भी स्वोपमता का विचार नहीं किया जा सकता। एक न्यायाधीश अगर यह सोचने लगे कि अगर मैं चोर के स्थान पर होता तो मैं भी चाहता कि मुझे दंड न मिले इसलिये चोर को दंड न देना चाहिये। इस प्रकार की उदारता से पापियों की बन आयगी। जगत में पाप निरंकुश हो जाँयगे।

उत्तर—पर न्यायाधीश को यह भी सोचना चाहिये कि अगर मेरे घर की चोरी हुई होती तो मैं भी चाहता कि चोरको दंड मिले इस प्रकार स्वोपमता का विचार सिर्फ चोर के विषय में ही नहीं करना चाहिये किन्तु उसके विषय में भी करना चाहिये जिसकी चोरी हुई है। अपराधी या पापी लोगों का विचार करते समय सामूहिक हित के आधार पर बने हुए नैतिक नियमों की अवहेलना नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—यदि अपराधी को दंड-विधान का नियम ज्यों का त्यों रहा तो चिकित्स्यता का क्या उपयोग हुआ?

उत्तर—दंड भी चिकित्सा का अंग है। अपराध एक बीमारी है उसकी चिकित्सा कई तरह से होती है। सामाजिक सुव्यवस्था के लिये जहाँ दंड आवश्यक हो वहाँ दंड देना चाहिये पर दंड्य व्यक्ति पर रोषवश अतिदंड न हो जाय इसका खयाल रखना चाहिये। और हृदय के भीतर उसके दुःख में सहानुभूति और दया होना चाहिये। यही दंड के चिकित्सापन का चिह्न है।

प्रश्न—दंड यदि चिकित्सा है तो मृत्युदंड तो किसी को दिया ही क्यों जायगा? क्योंकि मरने पर उसकी चिकित्सा कैसे होगी?

उत्तर—चिकित्सा का काम सिर्फ आये हुए रोग को दूर हटाना ही नहीं है किन्तु रोगों को पैदा न होने देना और उनको उत्तेजित न होने देना भी है। मृत्यु-दंड का भय लाखों पापियों के मनके पाप को उत्तेजित नहीं होने देता इसलिये उसका विधान भी चिकित्सा का अंग है। निःसन्देह मृत्युदंड पानेवाले की चिकित्सा इसमें अच्छी नहीं हो पाती है परन्तु अन्य लाखों की चिकित्सा होती है। समाज शरीर के स्वास्थ्य के लिये उसके किसी विषैले अंशको हटाना पड़े तो हटाना चाहिये।

प्रश्न—मानलो क्षमा करने का उस पर अच्छा प्रभाव पड़ता है पर जिसका उसने अपराध किया उसको असन्तोष रहता है। तब चिकित्सा के लिहाज से उसे क्षमा किया जाय या पीड़ित के सन्तोष के लिये पीड़क को दंड दिया जाय?

उत्तर—यदि पीड़ित को सन्तोष न हो तो पीड़क को उचित दंड मिलना चाहिये। अन्यथा पीड़ित के मन में प्रतिक्रिया होगी और वह किसी दूसरे उपाय से बदला लेने की कोशिश करेगा? बदले में मर्यादा का अतिक्रम तथा अंधाधुंधी होने की पूरी सम्भावना है। अगर वह बदला न भी ले तब भी उसका हृदय जलता रहेगा उसे न्याय के प्रति अविश्वास हो जायगा। क्षमा का उपयोग अधिकतर अपने विषय में करना चाहिये। अगर अपना हृदय निर्वैर हो गया हो और क्षमा से पीड़क के सुधरने की आशा हो तब क्षमा करना उचित है।

प्रश्न—कभी कभी ऐसा अवसर आता है कि कोई कोई काम अपने को बुरा नहीं मालूम होता और दूसरे को बुरा मालूम होता है। जैसे अपने को एकान्त में बैठना अच्छा मालूम होता हो दूसरों को बुरा मालूम होता हो, अपने को घास खाना बुरा मालूम होता हो, घोड़े को अच्छा मालूम होता हो, अपने को कपड़ा पहिनना अच्छा मालूम होता हो दूसरों को बुरा मालूम होता हो ऐसी हालत में स्वोपमता का विचार हम उनके बारे में करलें तो हमारी और उनकी परेशानी है व्यवहार में भी बडी अड़चन आयगी।

उत्तर—स्वोपमता का विचार कार्य की रूप-रेखा देखकर न करना चाहिये किन्तु उसका प्रभाव देखकर करना चाहिये। अन्तिम बात यह देखना चाहिये कि वह कार्य सुखजनक है या दुखजनक। सुख जैसा हमें प्यारा है वैसा दूसरों को भी प्यारा है इसलिये जैसे हम अपने सुख की पर्वाह करते हैं उसी प्रकार दूसरों के सुख की करना चाहिये। विचार सुखदुख का है इस लिये जो काम हमें दुखजनक हो और दूसरे को सुखजनक हो वह काम हम करेंगे। अगर बीमारी के कारण हमें भोजन की जरूरत नहीं है और भूखके कारण दूसरे को है तो अपने समान दूसरे को उपवास कराना स्वोपमता नहीं है, स्वोपमता है यह कि हम अगर नीरोग होते और भूखे होते तो हम क्या चाहते वही दूसरे को देना चाहिये।

प्रश्न—जगत में गुणी अल्पगुणी दुर्गुणी आदि अनेक तरह के प्राणी हैं उन सबको अगर अपने समान समझा जाय तो सबको बराबर समझना पड़ेगा। पर यह तो अन्धेर ही हुआ। अगर उनको बराबर न समझा जाय तो स्वोपमता कैसे रहेगी?

उत्तर—स्वोपमता के लिये सब को एक बराबर समझने की ज़रूरत नहीं है किन्तु योग्यतानुसार समझने की ज़रूरत है। जैसे हम चाहते

हैं कि हमारी योग्यता की अवहेलना न हो उसी प्रकार यह भी समझना चाहिये कि दूसरों की योग्यता की अवहेलना न हो। यही स्वोपमता है। जगत्सेवक और स्वार्थी को एक समान समझना स्वोपमता नहीं है। पर अपने समान सभी को निःपक्ष न्याय देना स्वोपमता है।

प्रश्न–निःपक्ष न्याय देना एक प्रकारसे अशक्य है क्योंकि अगर हम अपनी उन्नति करते हैं तो भी दूसरों के साथ अन्याय करते हैं। बड़े नेता बनजाना श्रीमान बन जाना एक प्रकार से दूसरों के साथ अन्याय ही है क्योंकि इससे दूसरों पर बोझ पड़ता है। जहां दूसरे से बढ़ जाने का विचार है वहाँ स्वोपमता कैसे रह सकती है ?

उत्तर–व्यक्ति समभाव या स्वोपमता से मनुष्य का विकास नहीं रुकता और न उचित विकास मानव समाज के ऊपर बोझ हो सकता है। जब हम किंकर्तव्य-विमूढ़ हो रहे हों अपनी वैयक्तिक या सामूहिक विपत्ति से छुटकारा पाना चाहते हों तब कोई हम से अधिक बुद्धिमान विद्वान त्यागी परोपकारी हमारी विपत्ति दूर करने के लिये प्रयत्न करे तो वह हमें बोझ न होगा। हम उसका आदर सत्कार सेवा करके अपने को कृतकृत्य मानेंगे प्रसन्न होंगे। सेवा परोपकार आदि से जो मनुष्य महान बनता है उससे जगत को आनन्द ही मिलता है। इस महत्ता का मूल स्वोपमता है। जैसे हम चाहते हैं कि विपत्ति में हमें कोई सहारा दे, अँधेरे में रास्ता बताये, उसी तरह दुनिया भी चाहती है। तब हम दुनिया के लिये अपनी शक्ति का उपयोग करते हैं तो उसकी चाह पूरी करते है। इसमें दुनिया पर बोझ क्या ?

हाँ, जहाँ मनुष्य दुनिया को कुछ देता तो है नहीं, और अधिकार यश आदर सम्पत्ति आदि पाजाता है तब वह अवश्य दुनिया को बोझ हो जाता है। इसमें स्वोपमता का नाश भी होता है।

जैसे हम नहीं चाहते कि हमें कुछ सेवा दिये विना कोई हम से उसका बदला धन यश आदर विनय पूजा आदि के रूप में ले जाय उसी प्रकार दूसरे भी चाहते हैं। ऐसी हालत में हम अगर जनता से छल बल से धन यश आदर पूजा अधिकार की लूट कर लेते हैं तो यह जनता पर अन्याय है स्वोपमता का अभाव है।

स्वोपमता या व्यक्तिसमभाव न तो कोई अन्धेरशाही है न अविवेक है, न इसमें विकास की रोक है, इसमें तो सिर्फ अपने न्यायोचित अधिकारों के लिये जैसी भावना रहती है वैसी ही दूसरों के लिये रखने की बात है। विश्वकल्याण के विचार का भी खयाल रखना आवश्यक है।

संयम या चरित्र का वर्णन व्यक्तिसमभाव का विशेष भाष्य समझना चाहिये। योगी में संयम का मूल यह व्यक्तिसमभाव होता ही है।

(५) अवस्था-समभाव.

मुक्तता की निशानी योगी जीवन की अन्तिम श्रेणी यह अवस्थासमभाव है। यद्यपि सुख दुःख का सम्बन्ध बाह्य परिस्थितियों से काफी है फिर भी अवस्था समभावी बाह्य परिस्थितियों का प्रभाव मन पर नहीं पड़ने देता। वह बाहर के दुःख में भी शान्त रहता है और बाहर के सुख में भी शान्त रहता है।

अवस्थासमभाव तीन तरह का होता है सात्विक, राजस, तामस। योगी का समभाव सात्विक होता है।

सात्विक–जिस समभाव में दुःखकारणों पर रोष नहीं होता, सुखकारणों पर मोह नहीं होता, जीवन

को एक खेल समझकर सुखदुःख को शान्तता से सहा जाता है जिस का मूल मंत्र रहता है —

दुःख और सुख मन की माया।
मनने ही संसार बसाया ॥
मनको जीता दुनिया जीती हुआ भवोदधिपार
नहीं है दूर मोक्ष का द्वार ॥

राजस—राजस अवस्थासमभाव में एक जोश या उत्तेजना रहती है। वह मारने की आशा में मरने से भी नहीं डरता, गिरी हुई परिस्थिति में वह शान्तता से सब सहता हैं पर हृदय निर्वैर नहीं होता। जरा ऊँची श्रेणी के योद्धाओं में यह भाव पाया जाता है।

तामस—यह जड़ तुल्य या पशुतुल्य प्राणियों में पाया जाता है। इसमें न तो संयम है न वीरता, एक तरह की जड़ता है। इसमें अपनी विवशता का विचार कर अन्याय या अत्याचार सहन कर लिया जाता है। अन्याय और अत्याचारी का भी अभिनन्दन किया जाता है। इसका मंत्र रहता है

कोउ नृप होय हमें का हानी।
चेरि छोड़ होवउँ नहिं रानी ॥

पराधीन देश के गुलामी मनोवृत्ति वाले मनुष्यों में यही तामस समभाव पाया जाता है। जानवरों में या जानवर के समान मनोवृत्ति रखनेवाले मनुष्यों में भी यही समभाव होता है।

सात्विक समभाव संयम पर, राजस समभाव-साहस पर तामस समभाव जड़ता पर निर्भर है। योगी सात्विक समभाव होता है।

इस सात्विक समभाव को स्थिर रखने के लिये नाट्यभावना, क्षणिकत्व भावना, लघुत्व भावना, महत्व भावना, अनृणत्व भावना, कर्मण्य भावना, अद्वैत भावना आदि नाना तरह की भावनाएँ हैं।

१ नाट्यभावना—एक सुपात्र नाटक में कभी राजा बनता है कभी भिखारी बनता है कभी जीतता है कभी हारता है पर नाटक के खिलाड़ी का ध्यान इस बात पर नहीं रहता। वह जीतने हारने की चिन्ता नहीं करता वह तो सिर्फ यही देखता है कि मैं अच्छी तरह खेलता हूं या नहीं? इसी प्रकार जीवन भी एक नाटक है इसमें किसी से वैर और मोह क्यों करना चाहिये। यह तो खेल है। दो मित्र भी विरोधी बनकर खेल खेलते हैं तो क्या उनमें वैर हो जाता है। पति पत्नी भी आपस में शतरंज चौपड़ आदि के खेल खेलते हैं और एक दूसरे को जीतना चाहते हैं तो क्या वैर हो जाता है। अपने प्रतिद्वन्दियों को खिलाड़ी की तरह प्रेम की नजर से देखो। सच्चे खिलाड़ी जिस प्रकार नियम का भंग नहीं करते भले ही जीत हो या हार, इसी प्रकार जीवन में भी नीति का भंग मत करो भले ही जीत हो या हार। नाट्यभावना ऐसी ही होती है।

प्रश्न—खेल में प्रतिस्पर्द्धा होने पर भी जो मन में मित्रता रहती है उसका कारण यह है कि खेल के बाहर जीवन मित्रतामय रहता है उसका ध्यान हमें बना रहता है खेल के पहिले और पीछे हमें व्यवहार भी वैसा करना पड़ता है पर जीवन का खेल तो ऐसा है जो जीवन भर रहता है उसके आगे पीछे का सम्बन्ध तो हमें ज्ञात ही नहीं रहता जिसके स्मरण से हम जीवन का खेल मित्रता के साथ खेल सकें। पतिपत्नी दिनरात प्रेम से रहते हैं इसलिये घड़ी दो घड़ी को खिलाड़ी बनकर प्रतिस्पर्द्धी बन गये तो दिन भर के सम्बन्ध के कारण घड़ी दो घड़ी की प्रतिस्पर्द्धा विनोद का रूप ही धारण करेगी परन्तु जीवन का खेल तो

जीवन भर खलास नहीं होता तब खेल के बाहर का समय हम कैसे पा सकते हैं जब समभाव आदि रहे। जीवन भर खेलना है तो खिलाड़ी की तरह लड़ना झगड़ना भी है यहाँ समभाव कैसे आयगा ?

उत्तर--दिन में एक समय ऐसा भी रक्खो जिस समय यह सोच सको कि हम नाटकशाला के बाहर हैं। यह समय प्रार्थना नमाज सन्ध्या आदि का भी हो सकता है या सुबह शाम घूमने का भी हो सकता है या और भी कोई समय हो सकता है जिस समय एकान्त मिल जाय या मन दुनिया की इस नाटक शाला से बाहर खींच-ले जाय। इस समय विश्वबन्धुत्व से अपना हृदय भरा रहना चाहिये और दुनियादारी के समस्त नाते रिश्ते वैर विरोध भूल जाना चाहिये। यह समय है जिसकी याद हमें जीवन का नाटक खेलते समय आती रह सकती है।

दूसरी बात यह है कि जिस कार्य को लेकर हमारी प्रतिस्पर्द्धा आदि हो उस कार्य में हम नाटकशाला के भीतर हैं बाकी अन्य समय में बाहर। मानलो दो आदमी राजनैतिक या सामाजिक आन्दोलन में भाग ले रहे हैं उनमें मतभेद है या स्वार्थभेद है तो जब तक उस आन्दोलन से सम्बन्ध है तब तक मतभेद या स्वार्थभेद सम्बन्धी व्यवहार हैं बाद में समझलो हम नाटकशाला के बाहर हैं।

जब तक बाजार में हो तब तक व्यापारी का खेल खेलो। घर में आकर बाजार के कामों इस प्रकार देखो जैसे एक खिलाड़ी अपने खेले गये खेलको देखता है। नाटक का खिलाड़ी रंगमंच के बाहर यह नहीं सोचते कि राजाने क्या दिया और नौकर को क्या मिला। वे यही सोचते हैं कि राजा कैसा खेला नौकर कैसा खेला, राम कैसा खेला रावण कैसा खेला। खेल का विरोध खेल के बाहर नहीं रहता। इसी प्रकार बाजार की बातों पर घरमें दर्शक की तरह विचार करो घर की बातों का बाजार में या घरके बाहर दर्शक की तरह विचार करो इस प्रकार वैर विरोध स्थायी कभी न होने दो। प्रार्थना नमाज सन्ध्या आदि के समय सब दुर्वासनाएँ हटा दो सारे जीवन को दर्शक की तरह देखो। इस प्रकार समभाव आ जायगा।

प्रश्न--बहुत से प्राणी ऐसे होते हैं जिन्हें समाज का शत्रु कह सकते हैं। जो खूनी हैं डाकू है स्त्रियों के साथ बलात्कार करते हैं ऐसे लोगों से जब प्रसंग पड़ जाता है तब उनके विषय में निर्वैर कैसे हो सकते हैं बल्कि उन लोगों को जब भी मौका मिले तभी दंड देना चाहिये। अब वे लोग खून या व्यभिचार करें जब उनसे वैर करें और बाकी समय में उनसे मित्र के समान व्यवहार करें तो इसका कोई अर्थ नहीं। पापी जब ऐसी सुविधाएँ पायेंगे तो उनके पाप निरंकुश हो जांयगे।

उत्तर--जो समाज का ऐसा शत्रु है उसे दंड देना उचित है और जब मौका मिले तभी दंड देना चाहिये। पागल कुत्ते को मार डालना ठीक है फिर भी यह याद रखना चाहिये कि वह बीमार है उससे वैर नहीं है पर समाजके रक्षण के लिये उसे मार डालना ठीक समझा गया है। इसलिये हम प्रार्थना में बैठें तो पापी के विषय में भी हमारे मनमें निर्वैर वृत्ति आजाना चाहिये। उस समय तो नाटक के खिलाड़ी नहीं रहना

चाहिये। हमारे जीवन में कठोर या कोमल कैसा भी कर्तव्य आवे वह कर्तव्य करना उचित है नाट्यभावना उसका विरोध नहीं करती पर एक तरह की निर्वैर वृत्ति पैदा करती है जिससे हम सफलता असफलता महत्त्व लघुत्व की पर्वाह न करके शान्त रह सकते हैं।

प्रश्न—जब योगी नाटक के पात्र के समान जीवन का खेल खेलता है तब उसका द्वेष नकली होता है प्रेम भी नकली होता है। अगर कोई पति ऐसा योगी है तो वह अपनी पत्नी से ऐसा ही नकली प्रेम करेगा पत्नी भी ऐसा ही प्रेम करेगी यह तो एक तरह की वंचना है और क्षणिक भी।

उत्तर—योगी में मोह नहीं होता है। यह प्रेम वंचना नहीं है। वंचना वहाँ है जहाँ प्रेम के अनुसार कार्य करने की भावना न हो मनमें विश्वासघात का विचार हो। योगी का प्रेम सच्चा होता है। निश्छल होता है स्थिर होता है। मोही का प्रेम रूप के लिये होगा या किसी और स्वार्थ के लिये होगा रूपादि के नष्ट होने पर या स्वार्थ नष्ट होने पर नष्ट हो जायगा पर योगी का प्रेम कर्तव्य समझकर होगा वह स्वार्थ नष्ट होने पर भी कर्तव्य समझकर रहेगा। इसलिये मोही की अपेक्षा योगी का प्रेम अधिक स्थिर है।

२ **क्षणिकत्वभावना**—धन वैभव सुख दुःख आदि क्षणिक हैं, अनित्य हैं, किसी न किसी दिन चले जाँयगे, इस प्रकार की भावना से भी अवस्था समभाव पैदा होता है। हर एक आदमी को अपने मन में और अपने कमरे में यह लिख रखना चाहिये कि 'ये दिन चले जाँयगे'। अगर ये दिन वैभव के हैं तो भी चले जाँयगे इसलिये इनका अहंकार न करना चाहिये। अगर ये दिन दुःख के हैं तो भी चले जाँयगे इसलिये दुःख में घबराना न चाहिये। इस प्रकार क्षणिकत्व भावना से अवस्था समभाव पैदा होता है सुख दुःख में शान्ति होती है।

प्रश्न—इस प्रकार अवस्था समभाव से तो मनुष्य निरुद्यम भी हो जायगा। अन्याय हो रहा है तो वह सहन कर जायगा कि आखिर यह एक दिन चला ही जायगा ऐसा आदमी राष्ट्रीय सामाजिक अपमानों को भी सह जायगा।

उत्तर—भावनाएँ कर्तव्य में स्थिर करने के लिये हैं अगर भावना विश्व कल्याण में बाधक होती है तो वह भावना भास है।

अवस्था समभाव का प्रयोजन यह है कि मनुष्य सुख दुःख में क्षुब्ध होकर कर्तव्यहीन न होजाय। मोह और चिन्ता उसके जीवन को कर्तव्य शून्य न बनादें। क्षणिकत्व भावना का उपयोग भी इसी तरह होना चाहिये।

क्षणिकत्व भावना के समय यह विवेक न भूलना चाहिये कि विपत्ति और सम्पत्ति क्षणिक होने पर भी प्रयत्न करने से कल जानेवाली विपत्ति आज ही जा सकती है और आज जानेवाली सम्पत्ति कल तक रुक सकती है।

भावनाओं के विषय में यह खास ध्यान में रखना चाहिये कि जिस कार्य के लिये उनका उपयोग है उसी में उनका उपयोग करना चाहिये। नियम, जोकि अनेक दृष्टियों के विचार से बनाये जाते है उनका भी दुरुपयोग हो जाता है फिर भावना तो सिर्फ़ किसी एक दृष्टि के आधार से बनाई जाती हैं उनकी दृष्टि के विषय में जरा भी गड़बड़ी हुई कि वे निरर्थक ही नहीं अनर्थकर हो जाती हैं। इसलिये यह बात सदा ध्यान में रखना चाहिये कि हर एक भावना और नियम स्वपरहित या विश्वकल्याण

के लिये है स्वपर हित में थोड़ी भी बाधा हो तो समझो उस भावना या नियम का दुरुपयोग हो रहा है।

२ लघुत्वभावना—अमुक चीज़ नहीं मिली अमुक ने ऐसा नहीं किया इत्यादि आशाओं का पाश इसलिये विशाल होता जाता है कि मनुष्य अपने को कुछ अधिक समझता है इसलिये उसका अहंकार पद पद पर जाता है और उसे दुखी करता है जगत को भी दुखी करता है। पर मनुष्य अगर यह सोचले कि इस विशाल विश्व में मैं कितना लघु हूं क्षुद्र हूं। प्रकृति का छोटासा प्रकोप, मेरी छोटीसी गल्ती, इस जीवन को नष्ट कर सकती है। जगत में एक से एक बढ़कर धनी, बली, स्वस्थ, विद्वान, अधिकारी, तपस्वी, कलाकार, वैज्ञानिक, कवि, सुन्दर, यशस्वी पड़े हुए हैं मैं किस किस बात में उनका अतिक्रमण कर सकता हूं। अगर दुनिया ने मुझे महान नहीं समझा तो इसमें क्या आश्चर्य है। मरुस्थल में पड़े हुए रेती के किसी कण को पथिकों ने नहीं देखा नहीं ध्यान दिया तो इसमें उस कण को बुरा क्यों लगना चाहिये? इस प्रकार लघुत्व भावना से मनुष्य का अहंकार शान्त होता है और अपमान उपेक्षा का कष्ट कम हो जाता है। पर यह ध्यान रहे कि लघुत्व भावना आत्मगौरव नष्ट करने के लिये नहीं है।

प्रश्न—लघुत्व भावना से अहंकार नष्ट हो जाता है फिर आत्मगौरव कैसे बचेगा? अहंकार और आत्मगौरव में क्या अन्तर है?

उत्तर—अहंकार में दूसरे की अनुचित अवहेलना है आत्मगौरव में अपने किसी विशेषगुण का उचित आदर है। अहंकार दुखद है आत्मगौरव सुखद है। आत्मगौरवहीन मनुष्य फज़ूल ही दूसरों की परेशानियाँ बढ़ाता है उनका समय बर्बाद करता है उन पर बोझ बनता है उन्हें संकोच में डालता है। इसलिये आत्मगौरव आवश्यक है। इतना खयाल रहे कि आत्मगौरव के नाम पर अविनय न होने पावे। उचित विनय रहना ही चाहिये।

४ महत्वभावना—जब हमारी कोई हानि हो जाय हम निराश असन्तुष्ट हो जायें, मन में दीनता दयनीयता का राज्य जम जाय उत्साह नष्ट हो जाय तब इस महत्त्व भावना का उपयोग करना चाहिये। महत्त्व भावना के विचार इस प्रकार होते हैं।

संसार में एक से एक बढ़कर दुखी पड़े हुए हैं किसी को भरपेट खाने को नहीं मिलता कोई रोग के मारे तडप रहा है कोई स्थायी बीमारियों का शिकार है किसी के पुत्र पति पिता आदि मर गये हैं किसी को रात भर विश्राम करने के लिये स्थान भी नहीं है उनसे मेरी अवस्था अच्छी है। मेरे ऊपर एक या दो आपत्तियाँ हैं पर चारों तरफ से दुःखी पददलित मनुष्यों से यह संसार भरा पड़ा है मेरी दशा तो उनसे काफ़ी अच्छी है फिर मुझे इस प्रकार दुःखी होने का क्या अधिकार है?

मालिक ने एक एक से बढ़कर बना दिया।
सौसे बुरा तो एक से अच्छा बना दिया॥
मैं एकाध से अच्छा हूं यही क्या कम है?

इस भावना से मनुष्य की घबराहट दूर हो जाती है। हृदय को एक प्रकार की सान्त्वना मिलती है।

पर इस भावना का उपयोग अवनति के गड्ढे में पडे रहने के लिये न करना चाहिये।

अपनी और जगत की उन्नति करने लिये, अन्याय अत्याचारों को दूर करने के लिये, सदा प्रयत्न करते रहना जरूरी है। जब निराशा होने लगे उत्साह भंग होने लगे तब इस भावनाका चिन्तवन करना चाहिये।

५ अनृणत्वभावना—मनुष्य अपने स्वार्थ के लिये सबसे आशा लगाया करता है– वह हमें धन देदे वह अमुक सुविधा देदे आदि। जब यह आशा पूरी नहीं होती तब उसका द्वेष करता है दुःखी होता है। इसके लिये अनृणत्व भावना का विचार करना चाहिये कि किसी पर मेरा कोई ऋण नहीं है इसलिये अगर किसीने मेरा अमुक काम नहीं किया तो इसमें बुराई की क्या बात है। जब पैदा हुआ था तब मेरे पास क्या था। न धन था न बल, न बुद्धि विद्या। यह सब समाज से पाया इसलिये अगर इसका फल समाज को या किसी दूसरे को दे दिया तो इसमें किसी पर मेरा क्या ऋण हो गया। यह तो लिये हुए ऋण का अमुक अंश में चुकाना हुआ। इस प्रकार किसी पर अपना ऋण न समझने से दूसरे से पाने की लालसा क्षीण हो जाती है और न पाने से विशेष खेद नहीं होता समभाव बना रहता है।

६ कर्मण्य भावना—मैंने अमुक कार्य किया और अमुक कार्य किया इस प्रकार के विचारों से मनुष्य दूसरों को अपने से तुच्छ समझने लगता है और दूसरों के श्रम पर मौज करना अपना हक समझ लेता है। इससे संघर्ष और द्वेष बढ़ता है और अपनी अकर्मण्यता के कारण दुनिया की प्रगति भी रुकती है इसके लिये कर्मण्य भावना का उपयोग करना चाहिये।

मनुष्य कर्म किये बिना रह नहीं सकता। विश्राम का आनन्द तभी तक है जबतक उसके आगे पीछे कर्म है अन्यथा कर्महीन विश्राम एक जेलखाना है या नरक है। इस प्रकार कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है ऐसी हालत में उसे कुछ न कुछ करना तो पड़ता ही, तब यदि उसके कर्म से किसी को कुछ लाभ हो गया तो वह दूसरे पर अहसान क्यों लादे? जुगनू स्वभाव से चमकता हुआ जाता है उससे अगर किसी को प्रकाश मिल गया तो जुगनू उस पर अहसान क्यों बतायगा? परोपकार को स्वाभाविक कर्म समझ कर किसी व्यक्तिविशेष पर अहसान का बोझ न लादना कर्मण्य भावना है।

अद्वैत भावना—सब संघर्ष और पापों के मूल में द्वैत है। जिसको पर समझा उसके स्वार्थ से संघर्ष हुआ और पाप आया। जहाँ अद्वैत है वहाँ हानि लाभ का विचार भी नहीं रहता। अपनी हानि होकर दूसरे का लाभ हुआ तो वह भी अपना लाभ मालूम होने लगता है। हमारा अन्न जब बेटा बेटी पत्नी भाई माँ बाप आदि खा जाते हैं तब यह विचार नहीं होता कि इनने कितना कमाया और कितना खाया, सब के साथ अद्वैत भावना होने से यही मालूम होता है कि हमने कमाया हमने ही खाया।

विश्व के साथ जिसकी यह अद्वैत भावना है वह दुःखी रहकर भी दूसरों को सुखी देखकर सुखी होता है। जैसे बाप भूखा रहकर भी बच्चों को खाते देखकर प्रसन्न होता है उसी प्रकार अद्वैतभावनाशील मनुष्य जगत को सुखी देखकर प्रसन्न रहता है इससे भी हर एक अवस्था में वह सन्तुष्ट रहता है।

पहिले भी कहा जा चुका है कि भावनाओं का दुरुपयोग न करना चाहिये, न अनुचित स्थान या अनुचित रीति से उपयोग करना चाहिये। साथ

ही इतना भी समझना चाहिये कि अवस्थासम-भाव अपने को अधिक से अधिक प्रसन्न रखने, निराशा और निरुत्साह न होने के लिये है, कर्मण्यता का नाश करने के लिये नहीं। हम मूर्ख हैं तो मूर्ख बने रहें, हम गुलाम हैं तो गुलाम ही बने रहें, जगत में अन्याय अत्याचार होते हैं तो चुपचाप देखते रहें यह अवस्था समभाव नहीं है यह जड़ता है पामरता है। अवस्था समभावी वही है जो दुःख सुख की पर्वाह किये बिना कल्याण में लगा रहता है, जिसे सफलता असफलता की भी पर्वाह नहीं होती, कोई भी विपत्ति जिसे विचलित नहीं कर सकती, कोई प्रलोभन जिसे लुभा नहीं सकता, जिसे कोई हतोत्साह नहीं कर सकता।

योगीकी लब्धियाँ

अवस्था समभाव के प्राप्त होने पर मनुष्य योगी बन जाता है वह अनेक ऋद्धि सिद्धयों को पा जाता है। ऋषि सिद्धि का मतलब अणिमा महिमा आदि कल्पित और भौतिक शक्तियों से नहीं है किन्तु उस आध्यात्मिक बल से है जिसके प्राप्त होने पर मनुष्य विजयी बनता है, आत्म-विकास और विश्वकल्याण के मार्ग की सारी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करता है, अन्तस्तल के सारे मैल धो डालता है। योगी की ये आध्यात्मिक लब्धियाँ तीन हैं:— १—विघ्न-विजय २—निर्भयता ३—अकषायता।

१ विघ्न-विजय

स्वपर कल्याण के मार्ग में चार तरह के विघ्न आते हैं १. विपत् २. विरोध ३ उपेक्षा ४ प्रलोभन। योगी इन चारों पर विजय करता है।

१ विपत् विजय बीमारियाँ धनक्षय या साधन-क्षय, सहयोगी का वियोग आदि नाना तरह की विपदाएँ हैं जो मनुष्यों पर आती हैं—योगियों पर भी आती हैं परन्तु योगी उनकी पर्वाह नहीं करता उसका हृदय कर्तव्य से विचलित नहीं होता। बीमारी से शरीर अशक्त होने से उनका शरीर कुछ निष्क्रिय भले ही हो जाय पर हृदय निष्क्रिय नहीं होता। कल्याण के मार्ग पर चलने से या विश्वसेवा करने से मैं बीमार हो गया, अब वह काम न करूंगा इस प्रकार उस का उत्साह भंग नहीं होता। हां, बीमार होना दुनिया पर बोझ लादना है जगत में दुःख बढ़ाना है इसलिये बीमारी से बचने का यत्न करता है। पर शरीर जितना काम कर सकता है उतना काम करने में वह अपने हृदय को निर्बल नहीं बनाता।

धन का क्षय हो जाय उचित साधन न मिले सहयोगी न मिले तो भी वह हाथ पर हाथ रख कर बैठकर नहीं रह जाता। अपनी शक्ति का वह अधिक से अधिक उपयोग किसी न किसी तरह आगे बढ़ने के लिये करता ही है। प्रगति हो न हो या कम हो पर उसके लिये वह अपनी शक्ति लगाता ही रहता है। विपत्तियाँ उसके उत्साह को मार नहीं सकतीं यही उसकी विपत्-विजय है।

२ विरोध-विजय—जनसेवा और आत्म-विकास के कुछ काम तो ऐसे होते हैं जिन में विपत्तियाँ भले ही रहें पर विरोध नहीं होता या नाम मात्र का होता है। आप किसी रोगी का इलाज करें कोई काव्य लिखें किसी को दान दें परिचर्या करें इत्यादि कामों में शारीरिक या आर्थिक विपत्ति की अधिक सम्भावना है विरोध की कम। पर सामाजिक रूढ़ियों को हटाने का

प्रयत्न करें लोगों के बिगड़े विचार सुधारने की कोशिश करें तो विरोध की अधिक सम्भावना है। योगी इस विरोध की पर्वाह नहीं करता। न तो वह विरोधियों पर क्रोध करता है और न उनकी शक्ति के आगे झुकता है। विरोध को वह उपेक्षा और अपनी क्रियाशीलता के द्वारा निष्प्रभ कर देता है। उसके दिल पर कोई ऐसा प्रभाव नहीं पड़ता जो उसको पथ से विमुख करदे।

प्रश्न--वैद्य भी रोगी के विरोध की पर्वाह करता है उसका मन रखने की कोशिश करता है इसी प्रकार समाजसेवक को क्यों न करना चाहिये ?

उत्तर--विरोध पर विजय पाने के लिये जिस नीति की या धैर्य की आवश्यकता है उसका उपयोग योगी करता ही है। जैसे वैद्य रोगी का मन रखने की कोशिश करता है वह रोगी की चिकित्सा के लिये, न कि रोगी के विरोध के डर से। वैद्य के मनमें भय नहीं हिताकांक्षा होती है उसी प्रकार योगी विरोध से डरता नहीं है हिताकांक्षा के वश से नीति से काम लेता है।

जो लोग सन्मान या कीर्तिकांक्षा के वश के कारण या पैसे के कारण विरोध से डरते हैं परन्तु दुहाई देते हैं नीति की, वे अशक्त भीत या कायर तो हैं ही, साथ ही दंभी भी हैं। वे योगियों से उल्टे हैं।

विपत् विजय की अपेक्षा विरोध विजय में मनोबल की विशेष आवश्यकता है। विपत् विजय में जनता की सहानुभूति का बल मिलता है परन्तु विरोध-विजय में वह बल नहीं मिलता।

उपेक्षा-विजय--लोग जिसे विरोध से नहीं गिरापाते उसे उपेक्षा से गिराने की कोशिश करते हैं। अगर मनुष्यमें पर्याप्त मनोबल हो तो विरोधपर वह विजय पा जाता है परन्तु उपेक्षा पर विजय पाना फिर भी कठिन रहता है। विरोध में संघर्ष पैदा होता है उससे गति मिलती है पर उपेक्षा से मनुष्य भूखों मर जाता है। पानी में प्रवाह के विरुद्ध भी तैरा जा सकता है यद्यपि इसके लिये शक्ति चाहिये फिर भी तैरने की गुंजाइश है, पर शून्य में, जहां कोई विरोध नहीं करता अच्छा से अच्छा तैराक भी नहीं तैर पाता। उपेक्षा विजय की यही सब से बड़ी कठिनाई है। इससे कार्यकर्ता साधनहीन और निरुत्साह होकर मर जाता है। पर योगी इस उपेक्षा पर भी विजय पाता है क्योंकि उसे कर्तव्य का ही ध्यान रहता हैं दुनिया की दृष्टि की सफलता असफलता की वह पर्वाह नहीं करता।

उपेक्षा भी दो तरह की होती है-एक कृत्रिम दूसरी अकृत्रिम। जो उपेक्षा जानबूझकर की जाती है जिसमें विरोध रूपमें भी सहयोग न देने की भावना रहती है वह कृत्रिम उपेक्षा है। अकृत्रिम उपेक्षा अनजान में होती है। योगी अपने काम में एक प्रकार के आनन्द का अनुभव करता हैं और उसी आनन्द में उसे पर्याप्त संतोष प्राप्त हो जाता है इसलिये कोई उस पर उपेक्षा करे तो उसे इसकी पर्वाह नहीं होती। इस प्रकार उपेक्षा पर विजय करके वह कर्तव्य करता रहता है।

प्रश्न--कोई कोई सेवाएँ ऐसी होती हैं कि जनता की उपेक्षा हो तो उनका कुछ असर नहीं रह जाता। जनता को जगाना ही सेवा कार्य हो और जनता ही उपेक्षा करे तो ऐसी निष्फल सेवा में शक्ति लगाने से क्या लाभ ? योगी तो विवेकी है निरर्थक सेवा उसका लक्ष्य

न होना चाहिये पर अगर वह निष्फल समझ कर उस सेवा को छोड़ देता है तो उपेक्षा-विजयी नहीं रहता ऐसी हालत में वह क्या है ?

उत्तर–उपेक्षा से अगर निष्फलता का पता लगता हो इसलिये कोई कार्य छोड़ने की आवश्यकता हो जिससे वह शक्ति दूसरी जगह लगाई जा सके यह एक बात है और उपेक्षा को विघ्न समझकर कर्तव्य त्याग करना दूसरी बात है। पहिली बात में विवेक है दूसरी में कायरता है। किसी भ्रम के कारण किसी अनावश्यक अनुचित या शक्ति से बाहर कार्य को कर्तव्य समझ लिया हो तो उसकी अनावश्यकता आदि समझ में आ जाने पर उसका त्याग करना अनुचित नहीं है। पर इससे मुझे यश नहीं मिलता मान प्रतिष्ठा नहीं मिलती इत्यादि विचारों से छोड़ बैठना अनुचित है यह एक तरह की स्वार्थान्धता है।

४ प्रलोभन-विजय–उपेक्षा विजय से भी कठिन प्रलोभन विजय है। कल्याण मार्ग में वह सबसे बड़ा विघ्न है। कल्याणपथ के पथिक बनने का जो सात्विक आनन्द है उसको नष्ट करने का प्रयत्न प्रलोभन किया करते हैं। अगर यह काम छोड़ दूं तो इतनी सम्पत्ति मिल सकती है इतना सन्मान और वाहवाही मिल सकती है पद मिल सकता है भोगोपभोग मिल सकते हैं, देखो अमुक आदमी इतना धन यश मान प्रतिष्ठा पद प्रेम सहयोग आदि पा गया है उसी रास्ते चलूं तो मैं भी पा सकता हूं इत्यादि प्रलोभनों के जाल में योगी नहीं आता। मानप्रतिष्ठा यश आदि से उसे वैर नहीं है पर जिसको उसने कल्याण समझा उसके लिये वह धन पद मान प्रतिष्ठा आदि का बलिदान कर देता है। अधिक कल्याण के कार्य में अगर यश न मिलता हो और अल्प कल्याण के कार्य में यश मिलता हो तो भी वह यश की पर्वाह न करेगा वह अधिक कल्याण का कार्य ही करेगा। कोई भी प्रलोभन उसे कल्याण पथ से विचलित नहीं कर सकता।

प्रश्न–अगर योगी को यह मालूम हो कि अमुक पद या अधिकार पाने से वैभव मिलने से या किसी प्रकार व्यक्तित्व बढ़ने से आगे बहुत सेवा हो सकेगी इसलिये कुछ समय कल्याण मार्ग में शिथिलता दिखलादी जाय तो कोई हानि नहीं है तो इस नीतिज्ञता या चतुराई को क्या प्रलोभन के आगे योगी की पराजय मानना चाहिये ?

उत्तर– यह तो कर्तव्य की तैयारी है इस में पराजय नहीं है। पर एक बात ध्यान में रखना चाहिये कि यह सचमुच तैयारी हो। कायरता या मोह न हो। अगर जीवन भर यह तैयारी ही चलतीरही समय आने पर भी कर्तव्य न किया या तैयारी के अनुसार कार्य न किया तो यह प्रलोभन के आगे अपनी पराजय ही समझी जायगी। साधारणतः यह खतरे का मार्ग है तैयारी के बहाने प्रलोभन के मार्ग में जानेपर बहुत कम आदमी प्रलोभन का शिकार करपाते हैं अधिकांश व्यक्ति प्रलोभन के शिकार बन जाते हैं। कर्तव्यशील मनुष्य तो वहीं से अपना कर्तव्य शुरु कर देता है जहाँ से उसे कर्तव्य का भान होने लगता है। अपवाद की बात दूसरी है। पर अपवाद की सचाई की परीक्षा तभी होगी जब तैयारी का उपयोग वह कर्तव्य के लिये करेगा। तब तक उसे अपवाद कहलाने का दावा न करना चाहिये। ठीक मार्ग यही है कि कर्तव्य करते हुए शक्ति-संचय आदि किया जाय।

इस प्रकार इन चार प्रकार के विघ्नों पर विजय प्राप्त करके योगी स्वपरकल्याण के मार्ग में आगे बढ़ता जाता है।

२ निर्भयता

योगी की दूसरी लब्धि है निर्भयता। भय अनेक तरह का होता है पर वह सभी त्याज्य नहीं है। भय एक गुण भी है। जो कल्याण के लिये आवश्यक हैं ऐसे भयों का त्याग नहीं करना चाहिये। भय के तीन भेद हैं--१ भक्तिभय २ विरक्तिभय, ३ अपायभय।

१ *भक्तिभय--कल्याणमार्ग* में जो प्रेरक हैं जिनके विषय में हमें भक्ति है आदर है कृतज्ञता है उनका भय भक्तिभय है। यह मनुष्य का महान सद्गुण है। ईश्वर से डरो, गुरुजनों से डरो, आदि वाक्यों में इसी भय से मतलब है। इस भय का त्याग कभी न करना चाहिये।

प्रश्न--बहुत से आदमी सिर्फ इसीलिये कर्तव्य से भ्रष्ट हो जाते हैं कि उनके मूढ़ माता पिता उसमें बाधा डालते हैं। अगर उनकी आज्ञा न मानी जाय तो वे घर से निकाल देंगे जायदाद में हिस्सा न देंगे इसलिये अमुक कुरूढ़ियों का पालन करना पड़ता है। यह भय गुरुजनों का भय है तो इसे भक्तिभय मानकर उपादेय मानना क्या उचित है?

उत्तर--इस भय में माता पिता की भक्ति कारण नहीं है किन्तु धन छिनने का निकाले जाने का दुःख कारण है इसलिये इसे भक्तिभय नहीं कह सकते तब यह भक्तिभय के समान उपादेय कैसे हो सकता है?

२ विरक्तिभय--पाप कार्यों से विरक्ति होने से जो भय होता है वह विरक्तिभय है। हिंसा का भय चोरी का भय, दूसरे के दिल दुखाने का भय आदि नाना भय विरक्तिभय हैं। जब कहा जाता है--कुछ पाप से डरो तब उसका अर्थ यही विरक्तिभय है। यह भी एक आवश्यक भय है सद्गुण है।

यद्यपि भक्तिभय और विरक्तिभय उपयोगी हैं सद्गुण हैं परन्तु ऐसा भी अवसर आता है जब ये कर्तव्य में बाधक बन सकते हैं उस समय ये हेय हैं। जैसे माता पिता की कोई हानिकर हठ है और भक्तिवश उनकी हठ पूरी की जाती है। माता पिता आर्थिक क्षति या ऐसी कोई हानि न पहुंचा सकते हों जिससे इसे अपायभय कहा जा सके, तब यह भक्तिभय तो होगा पर उपादेय न होगा। यह भक्तिभय का दुरुपयोग कहा जायगा।

इसी प्रकार देव गुरु या शास्त्र का भय है जो कि भक्तिभय है। वह अगर सत्य और अहिंसा के पथ में या कल्याण के पथ में बाधक होता हो तो वह भी हेय हो जायगा। साधारणतः भक्तिभय अच्छा है पर उसका दुरुपयोग रोकना चाहिये।

३ अपायभय-- धनहानि, अधिकारहानि, यशोहानि, प्रियजनहानि, भोगहानि, मृत्यु, जरा रोग, आघात, अपमान आदि नाना तरह के अपाय हैं इन का भय अपायभय है। योगी इन अपायों से ऐसा नहीं डरता कि सत्य के मार्ग से विमुख होजाय। यद्यपि जान बूझकर वह इन अपायों को निमन्त्रण नहीं देता पर कर्तव्य पथ में वह इन की पर्वाह नहीं करता।

प्रश्न-- यदि योगी के सामने कोई विषधर सर्प किसी मेंडक को पकड़ना चाहता हो तो

योगी दयालु सर्प को रोकेगा, ऐसी अवस्था में वह विफल सर्प योगी को काट खायगा । योगी दयालु होने के कारण सर्प को मार तो सकेगा नहीं, इसलिये अपने प्राण दे देगा, क्यों कि वह मृत्यु से निर्भय है । अगर वह सर्प को नहीं रोकता है तो समझना चाहिये कि वह मृत्यु से डरता है तब योगी नहीं है । परन्तु प्रश्न यह है कि ऐसी अवस्था में योगी कितने दिन जियेगा ?

उत्तर--योगी के जीवन का ध्येय है विश्व में अधिक से अधिक सुख वृद्धि करना । अगर उसे यह मालूम हो कि इस सर्प को मारने से सर्प के समान चैतन्य रखनेवाले अनेक प्राणियों की हिंसा रुक सकती है तो वह दयालु होने पर भी सर्प को मार सकता है । पर सर्प और मेंढक के मामले में वह उपेक्षा भी कर सकता है क्योंकि इस प्रकृति के राज्य में सब जगह 'जीवो जीवस्य जीवनम्' अर्थात् प्राणी प्राणी का जीवन है, यह नियम काम कर रहा है । जहाँ शिक्षण का प्रभाव पड़ता है वहाँ तो इस नियम का विरोध कुछ असरकारक रहता है पर जहाँ शिक्षण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता वहाँ उपेक्षा ही अधिक संभव है । मनुष्य को सिखाकर उस पर संस्कार डालकर या कानून का भय दिखाकर उसके स्वभाव पर कुछ स्थायी सा अंकुश रक्खा जा सकता है जिससे वह पशु आदि की हत्या न करे । पर सर्पको इस प्रकार सिखाया नहीं जा सकता इसलिये वहां योगी उपेक्षा कर सकता है, या बहुत से मेंढकों की रक्षा के विचार से सर्प को मार भी सकता है । मेंढक के लिये प्राण देना अनुचित है । क्योंकि अपने प्राण देने से भी सर्प जातिका स्वभाव नहीं बदल सकता, जिससे एक मनुष्य की हानि हजारों वर्षों के स्वभाव में परिवर्तन करके लाभमें परिणत हो सके ।

मृत्यु से निर्भयता का मतलब यह नहीं है कि आवश्यकता अनावश्यकता उचितता अनुचितता आदिका विचार किये बिना मौत के मुँह में कूदता फिरे । किन्तु उसका मतलब यह है कि अगर किसी कारण मृत्यु का अवसर उपस्थित हो जाय तो बिना किसी विशेष क्षोभ के वह मरने को भी तैयार रहे । जीवन के किसी विशेष ध्येय की पूर्ति में मौत का सामना करने की आवश्यकता ही हो तो वह उसके लिये भी तैयार रहे । योगी अवस्थासमभावी होने से साधारण जन के समान मृत्यु से नहीं डरता । जब वह स्वपर कल्याण के लिये जीवन को बन्धन समझता है, जब वह जीवन का त्याग कर देता है एक तरह का समाधिकरण कर लेता है यही उसकी मृत्यु से निर्भयता है ।

मृत्यु से निर्भय होने के विषय में जो बात कही गई है वही बात अन्य निर्भयताओं के विषय में भी है । आवश्यक प्रसंग आनेपर वह सब कुछ त्याग सकता है यही उसकी निर्भयता है । यद्यपि आवश्यकता का मापतौल ठीक ठीक तरह नहीं किया जा सकता इसलिये योगी एक तरह से अज्ञेय होता है फिर भी विचारक मनुष्य योगी की परिस्थिति का विचार करके निर्णय कर सकता है ।

फिर भी निर्भयता का परखना है कठिन ही । अनेक अवसरों पर इस विषय में भारी भ्रम होजाता है । एक स्त्री पति के मरने पर अपने प्राण दे देती है, यह उसकी मोहजनित कायरता है पर साधारण लोग इसे प्रेमजनित निर्भयता समझते हैं । वैधव्य की असुविधाओं से डर कर वह प्राण देती है इसलिये उसकी निर्भयता से भयता अधिक है ।

कोई कोई आदमी धन के लिये यश की पर्वाह न करे, नाम हो या बदनाम किसी तरह धन कमाना चाहिये यह उसकी नीति हो और कहे मुझे अपयश का डर नहीं है तो यह उसकी बकवास है। इससे तो सिर्फ यही मालूम होता है कि वह यश की अपेक्षा धन का अधिक लोभी है। किसी एक चीज़ का अधिक लोभी होने के कारण दूसरी चीज़ की पर्वाह न करे यह निर्भयता नहीं है। निर्भयता है वहाँ, जहाँ कल्याण पथ में आगे बढ़ने के लिये किसी की पर्वाह नहीं की जाती।

कोई कोई लोग नामवरी के लिये धन की पर्वाह नहीं करते यह भी निर्भयता नहीं है। वह तो धन की अपेक्षा यश का अधिक लोभ हुआ, ऐसा आदमी यश की आशा न रहने पर कर्तव्य का त्याग कर देगा। यह निर्भयता नहीं है। निर्भयता सर्वतोमुखी होना चाहिये। किसी चीज की हमें चाह नहीं है रुचि नहीं है या उससे हमारी हानि नहीं हो सकती तो उसकी तरफ से लापर्वाही बताने से अरुचि या शक्ति का परिचय मिलेगा निर्भयता का नहीं। निर्भयता वहाँ है जहाँ रुचि हो तो भी कर्तव्य के लिये उसकी पर्वाह न की जाय, हानि हो सकती हो फिर भी कर्तव्य के लिये उसकी पर्वाह न की जाय।

मतलब यह है कि योगी की निर्भयता इस बातमें नहीं है कि उसके पास शक्ति अधिक है या दुःखी होने की परिस्थिति नहीं है परन्तु इस बात में है कि वह अवस्थासमभावी है। वह नाट्य भावना आदि का चिन्तवन करता रहता है। यह निर्भयता स्थायी निर्भयता है और इस निर्भयता को पाकर मनुष्य अन्याय करने पर उतारू नहीं होता।

भय के भेद बहुत हैं पर यहाँ कुछ खास खास भयों का उल्लेख कर दिया जाता है और उनके विषय में योगी की विचारधारा बतादी जाती है। मुख्य भय दश हैं—१ भोग भय, २ वियोगभय ३ संयोगभय, ४ रोगभय, ५ मरण-भय, ६ अगौरवभय, ७ अयशोभय, ८ असाधनभय ९ परिश्रमभय १० अज्ञातभय।

१ भोगभय—इन्द्रियों के विषय अच्छे अच्छे मिलें खराब न मिलें, इस विषय का भय भोगभय है। योगी सोचता है—इन्द्रियों की असली उपयोगिता तो यह है कि वे यह बतायें कि शरीर के लिये कौनसी वस्तु लाभकर है कौनसी अलाभकर। पर मनुष्य ने अपनी आदत को इस प्रकार बिगाड़ लिया है कि वह समझ ही नहीं पाता कि अच्छा क्या और बुरा क्या? रसना इन्द्रिय को दुष्पच रोगजनक वस्तु में भी आनन्द आता है और स्वास्थ्यकर वस्तु भी बेस्वाद मालूम होती है तब रसना इन्द्रिय की पर्वाह क्यों करना चाहिये? कानों को सदुपदेश भी अप्रिय मालूम होता है राजस और तामस शब्द भी अच्छे मालूम होते हैं तब कान की पर्वाह क्यों की जाय? इस प्रकार इन्द्रियविषयों में अनासक्त बन कर वह निर्भय हो जाता है।

इसका मतलब यह नहीं है कि वह इन्द्रियों को अनावश्यक कष्ट देता है। मतलब यह है कि कर्तव्य के सामने, लोक कल्याण के सामने वह इन्द्रियकष्टों की पर्वाह नहीं करता। इस तरह से वह निर्भय रहकर आगे बढ़ता है।

२ वियोगभय—प्रियजन के वियोग की तरफ से भी वह निर्भय रहता है। अगर कोई प्रियजन आकर कहे कि जिसे तुम अपना कर्तव्य समझते हो उससे अगर विमुख न हो जाओगे तो मैं

चला जाऊँगा। योगी उत्तर देगा—मैं नहीं चाहता कि आप चले जाँय पर कर्तव्य से मेरे विमुख हुये बिना अगर आप न रह सकते हों तो मैं रोक नहीं सकता।

'योगी सोचता है—स्वभाव से कौन प्रिय है कौन अप्रिय? व्यवहार से ही प्राणी प्रिय और अप्रिय बनता है। जो मेरे धर्म की, कर्तव्य की पर्वाह नहीं करता उसकी पर्वाह मैं क्यों करूं?

जब किसी प्रियजन के मर जाने की सम्भावना होती है तब योगी सोचता है—मेरा कर्तव्य उसकी सेवा करना है सो मैं सेवा करूंगा, बचाने की पूरी कोशिश करूंगा, उसके विषय में पूरा ईमानदार रहूंगा फिर भी अगर वह न बच सके तो उसकी योग्यता के अनुसार उसे यशस्वी बनाऊँगा और क्या कर सकता हूँ। जहाँ एक दिन संयोग है वहाँ एक दिन वियोग अनिवार्य है। इस प्रकार वह वियोग से भी निर्भय रहकर कर्तव्यरत रहता है।

वियोग से उसकी अपरा मनोवृत्ति क्षुब्ध भी हो सकती है पर वह क्षोभ स्थायी नहीं होता और पहिले से उसका भय और पीछेसे उसका शोक इतना तीव्र नहीं होता कि उसे पाप में प्रवृत्त करा सके यही योगी की निर्भयता है।

३ संयोगभय—अप्रियजनसंयोग के विषय में भी योगी निर्भय रहता है। उसके हृदय में प्रेम रहता है इसलिये अप्रियजन को प्रिय बनाने की आशा रहती है। अगर प्रिय न बनासके तो उसके संघर्ष से बचकर रहने की आशा रहती है अगर संघर्षमें आना ही पड़े तो न्यायसे रहने और फिर भी अगर कुछ फल भोगना पड़े तो सहिष्णुता का परिचय देने की आशा रहती है इसलिये अप्रियजन-संयोग से वह नहीं डरता।

४ रोगभय—रोगभय इसलिये नहीं होता कि वह मिताहारी जिह्वावशी होने के कारण बीमार ही कम पड़ता है। फिर भी रोगों का शिकार हो जाय तो 'रोग तो शरीर का स्वभाव है' यह सोचकर दुखित नहीं होता। रोग का अन्तिम परिणाम मृत्यु है उससे वह नहीं डरता, वेदना के सहने का मनोबल रखता है। शारीरिक अक्षमता के कारण या वेदना की गुरुता के कारण कष्ट असह्य हो तो उसके उद्गार क्षणिक होते हैं। मन साधारण जन की अपेक्षा स्थिर रहता है।

इसका यह मतलब नहीं है कि रोगों की तरफ़ से लापर्वाह होकर वह असंयमी बन जाता है और बीमारियों को निमन्त्रण देता रहता है। क्योंकि इससे मनुष्य स्वयं दुःखी होता है दूसरों के सिर पर व्यक्त या अव्यक्त रूपमें बोझ बनता है और अपना कर्तव्य भी नहीं कर पाता या थोड़ा कर पाता है। इसलिये बीमारी से बचने का पूरा प्रयत्न करना चाहिये। परन्तु अज्ञात कारण वश बीमारी आजाय या किसी कर्तव्य करने में बीमारी का सामना करना पड़े तो शान्ति से उसके सहने की ताकत होना चाहिये यही योगी की रोग से निर्भयता है।

५ मरणभय—जैसे कोई घर बदलता है उसी प्रकार योगी शरीर बदलता है इसमें दुःख किस बात का? दूसरा जन्म इससे अच्छा हो सकता है इसलिये मरण से डरने की और भी जरूरत नहीं है। जिसका यह जीवन पवित्र है उसका परलोक भी सुखमय है जिसका यह जीवन अपवित्र है उसे यह सोचना चाहिये कि मृत्यु अगर इस अपवित्र जीवन का शीघ्र नाश कर देती है तो क्या बुरा है?

परलोक पर अगर विचार न किया जाय तो भी यह सोच कर मरण से निर्भय रहना चाहिये

कि जीवन जहाँ से आया था वहीं चला जायगा, बीच के थोड़े समय की इतनी चिन्ता क्यों ?

संसार में जो अत्याचार होते हैं उनका मुख्य सहारा लोगों का यह मृत्युभय है। अगर लोग यह सोचलें कि मर जाँयगे पर अत्याचार न होने देंगे तो संसार में अत्याचारों को रहना अशक्य हो जाय। योगी तो जगत में स्वर्गीय जीवन का विस्तार करना चाहता है इसलिये वह मृत्युजयी होता है।

हां, वह आत्महत्या न करेगा क्यों कि आत्महत्या एक तरह की कायरता है, कषाय का तीव्र आवेग है, वह अन्य किसी विपत्ति का इतना बडा भय है जो मौत की पर्वाह नहीं करने देता। आत्महत्या निर्भयता नहीं है।

आत्महत्या प्राणार्पण से बिलकुल जुदी चीज है। प्राणार्पण में त्याग है विवेक है कर्तव्य की स्पष्टता है। आत्महत्या में क्षोभ है, किंकर्तव्यविमूढ़ता है मोह है क्रोध है। योगी प्राणार्पण के लिये तैयार रहता है पर आत्महत्या नहीं करता।

६ **अगौरवभय**--मेरा कोई पद न छिन जाय, धन न छिन जाय आदि अगौरवभय है। योगी सोचता है मानव साथ में लाया क्या था जिसके छिनने का वह डर करे। वह महत्त्व की पर्वाह नहीं करता। सबसे बड़ा महत्त्व वह सत्य की सेवा में और सदाचार के पालन में समझता है इसलिये दुनिया की दृष्टि में जो गौरव है उसके छिनने का उसे डर नहीं होता।

७ **अयशोभय**--सच्चा यश अपने दिल की चीज है दुनिया की वाहवाही की उसे पर्वाह नहीं होती। बहुत से लोग इस डर से कि मेरा नाम डूब जायगा, सत्य से दूर भागते हैं, दुनिया जिसमें खुश हो इसी बात में लगे रहते हैं। वे सच्चा यश नहीं पाते चापलूसी पाते हैं। चापलूसी से यश की प्यास बुझाना ऐसा ही है जैसे गटर के प्रवाह से पानी की प्यास बुझाना। योगी इस वाहवाही की पर्वाह नहीं करता। वह सत्य की पर्वाह करता है और सत्य की सेवा में उसके हृदय से यश का प्रवाह निकलता है इसलिये उसे अयश की चिन्ता नहीं होती। दुनिया अज्ञानवश निन्दा करे, घर घर में उसका अपयश छा जाये तो भी वह उस अपयश से नहीं डरता।

इसका यह मतलब नहीं है कि योगी निर्लज्ज होता है, कोई कुछ भी कहे वह उसकी पर्वाह नहीं करता। योगी में लज्जा है अगर उससे गल्ती हो जाय तो वह लज्जित होगा, दूसरे शरमिंदा करें या न करें वह स्वयं शरमिंदा हो जायगा। पर जिस प्रकार यह लज्जा योगी के भीतर की चीज़ है कोई करे या न करे इसकी उसे पर्वाह नहीं है इसी प्रकार यश अपयश भी उसके भीतर की चीज़ है कोई करे या न करे इसकी उसे पर्वाह नहीं है। अच्छा कार्य करने पर उसके हृदय से ही यश रूपी अमृत झरता है जिससे वह अमर हो जाता है इसलिये बाहर लोग उसकी निन्दा करें तो इस बातकी उसे चिन्ता नहीं होती, वह ऐसे अपयश से नहीं डरता। वह डरता है अपने भीतर के अपयश से। बाहर के अपयश की पर्वाह न होना ही उसकी निर्भयता है। इसीलिये कहा गया कि उसे अयशोभय नहीं होता।

८ **असाधनभय**-- साधनों के अभाव से योग्यता रहने पर भी मनुष्य उस का फल नहीं पाता। हमारे साथी बिछुड़ जाँयगे साधन नष्ट हो जाँयगे इस प्रकार डर से वह असत्य का पोषण नहीं करता। इस का यह मतलब नहीं है कि

वह वैसा व्यक्ति का विचार नहीं करता काम बिगाड़ने पर ध्यान नहीं देता। वह अवसरों की ताक में रहता है आवश्यकतानुसार धीरे धीरे बढ़ता है पर सदा लक्ष्य सत्य पर रहता है ऐहिक साधनों पर नहीं। एक तरह की आत्मनिर्भरता उस में पाई जाती है। असहायता या असाधनता के डर से वह घबराता नहीं है घबराता भी नहीं होता है। वह यही सोचता है कि जो कुछ कर सकता हूं वह करता हूं अधिक करने के लिये उस में असत्य का विष क्यों घोलूं? वह आत्मनिर्भर तथा फलाफल निरपेक्ष रहता है इसलिये उसे असाधनभय नहीं होता।

९. परिश्रमभय— जगत् आलस्य का पुजारी है वह परिश्रम को दुःख समझता है, इसलिये आलस्य की आशा में वह असत्य और असदाचार का पोषण करता है। योगी तो परिश्रम को विनोद समझता है शरीरस्वास्थ्य के लिये आवश्यक समझता है उससे उसको अपमान भी नहीं मालूम होता। आलस्य या अकर्मण्यता को वह गौरव का चिन्ह नहीं समझता। इसलिये वह परिश्रम से नहीं डरता।

१०. अज्ञातभय— जिनका स्वभाव ही काय-रतापूर्ण बन गया है वे भय के कारण के बिना ही भय से काँपते रहते हैं। ऐसा हो गया तो, वैसा हो गया तो, भूत आ गया तो, इस प्रकार बेबुनियाद न जाने कितने भय वे अपने मन पर लादे रहते हैं। उपर्युक्त कार्य कारण का विचार करना एक बात है किन्तु जीवन का अतिमोह होने के कारण कर्तव्यशून्य आलसी जीवन बिताना दूसरी। योगी ऐसे अज्ञात भयों से मुक्त रहता है।

भय के भेद और भी किये जा सकते हैं। यहाँ जो भयों का विवेचन किया गया है वह सिर्फ इसलिये कि योगी की निर्भयता की रूप-रेखा दिखाई दे। यह निर्भयता योगी की दूसरी लब्धि है।

३. अकषायता

योगी की तीसरी लब्धि है अकषायता। इससे वह भगवती अहिंसा का परम पुजारी और परम संयमी होता है। उसकी परा मनोवृत्ति तक किसी कषाय का प्रभाव नहीं पहुँचता। क्रोध मान माया लोभ के कारण उपस्थित होने पर उसमें क्षोभ नहीं होता। हाँ कभी कभी इन भावों का वह प्रदर्शन करता है पर वह भीतर से नहीं भीगता। इसप्रकार अकषाय रहकर वह स्वयं सुखी रहता है और जगत को भी दुःखी नहीं होने देता।

आन्तरिक दुखों की जड़ यह कषाय ही है। अकषायता का कारण पहिले बतलाया हुआ चार प्रकार का समभाव है। विवेक और चार प्रकार का समभाव योगी जीवन के चिन्ह हैं। संसार में योगियों की संख्या जितनी अधिक होगी संसार उतना ही सुखी होगा। बाहरी वैभवों की वृद्धि कितनी भी की जाय, उससे कुछ शारीरिक सुख भले ही बढ़े पर उससे कई गुणे मानसिक कष्ट बढ़ेंगे। अगर संसार का प्रत्येक व्यक्ति योगी हो जाय तो अल्प वैभव में ही संसार शान्तिमय, आनन्दमय बन सकता है। प्रत्येक धर्म का प्रत्येक शास्त्र का, प्रत्येक महात्मा का यही ध्येय है। इसलिये योगी बनने के लिये हर एक मनुष्य—पुरुष या स्त्री—को प्रयत्न करना चाहिये।

दृष्टिकांड, छट्ठा अध्याय (जीवन दृष्टि)

अपने को और जगत को सुखमय बनाना हो-आदर्श बनाना हो-तो योगी, खास कर कर्मयोगी बनने के लिये सभी नरनारियों को प्रयत्न करना चाहिये। पाँचवें अध्याय में योगी के चिह्न विस्तार से बता दिये हैं। इसलिये इस बात को समझने में विशेष कठिनाई नहीं रह जाती कि हमारा जीवन कैसा हो। फिर भी आत्मनिरीक्षण जितने तरह से किया जाय उतना ही अच्छा है। इसलिये जीवन को अनेक दृष्टियों से परखने की कोशिश करना चाहिये। इसलिये यहां जीवन के अनेक तरह से भेद किये जाते हैं। हरएक व्यक्ति को यह देखना चाहिये कि मेरा जीवन उनमें से किस भेद में है और अगर निम्नश्रेणी के भेद में अपना जीवन हो तो उच्च श्रेणी के भेद में ले जाना चाहिये। नाना प्रकार से जीवन का निरीक्षण करने से जीवन को सुधारने का मार्ग मिलता है।

जीवार्थ जीवन

बारह भेद

भारतीय भाषाओं में जिन्हें पुरुषार्थ कहा गया है उन्हें यहां जीवार्थ कहा गया है। पुरुषार्थ शब्द अधूरा है वह नारी का व्यवच्छेद करता है। धर्म अर्थ काम मोक्ष जैसे नरके लिये हैं वैसे नारी के लिये हैं तब इन्हें सिर्फ पुरुषार्थ क्यों कहा जाय?

यह ठीक है कि पुरुष शब्द का अर्थ आत्मा या ब्रह्म भी किया गया है पर ये अर्थ बहुत अप्रचलित हैं। ऐसा मालूम होता है कि पुरुषार्थ शब्द की जब रचना हुई तब स्त्रियों का व्यक्तित्व पुरुषों से अलग नहीं था स्त्री सिर्फ पुरुष के कर्तव्य में सहायक थी।

पर बात ऐसी नहीं है नर और नारी दोनों के लिये धर्म अर्थ काम और मोक्ष की जरूरत है। इसलिये इन्हें पुरुषार्थ ही नहीं कर सकते महिलार्थ भी कहना चाहिये अथवा आत्मार्थ कहना ठीक है।

परन्तु आत्मार्थ शब्द भी संकुचित हो गया है आत्मार्थी कहने से मोक्षार्थी ही समझा जाता है इसलिये इनको जीवार्थ कहा गया है। धर्म अर्थ काम मोक्ष प्रत्येक जीवन के लिये हैं। जीव का जिन बातों से प्रजोजन है उन्हें जीवार्थ कहते हैं।

सच पूछा जाय तो प्रयोजन तो सिर्फ सुख से है। पर धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चारों जीवार्थ सुख के साधन हैं इसलिये इन्हें भी ध्येय मान लिया गया है।

यद्यपि इन चारों का सम्बन्ध सुख के साथ एक सरीखा नहीं है काम और मोक्ष का सुख के साथ साक्षात् सम्बन्ध है और धर्म अर्थ का परम्परा सम्बन्ध, इसलिये वास्तविक जीवार्थ तो काम और मोक्ष दो ही कहलाये फिर भी धर्म और अर्थ जीवार्थ हैं क्योंकि धर्म और अर्थ के मिलने पर काम और मोक्ष सुलभ हो जाते हैं काम और मोक्ष के लिये किये जाने वाले प्रयत्न का बहु भाग धर्म और अर्थ के लिये किये जाने वाले प्रयत्न के रूप में परिणत होता है। इस प्रकार चार जीवार्थ हैं और इन चारों के समन्वय में जीवन की सफलता है।

१ धर्म—काम के साधनों को प्राप्त करने में दूसरों के उचित और शक्य स्वार्थों का तथा अपने हित का विवेक रखना स्वार्थ पर संयम रखना।

२—अर्थ—काम के साधनों को प्राप्त करना।

३—काम—साधनों के सहयोग से इन्द्रिय और मन की सन्तुष्टि।

४—मोक्ष दुःखों से निर्लिप्त रह कर पूर्ण निराकुलता का अनुभव करना।

धर्म और अर्थ के विषय में विशेष कहने की ज़रूरत नहीं है परन्तु काम और मोक्ष के विषय में जन साधारण में तो क्या विद्वानों के भीतर भी ग़लतफ़हमी हो गई है। इससे मोक्ष तो उड़ ही गया। वह जीवन के बाद की चीज़ समझा गया। दर्शनशास्त्रकारों ने मोक्ष की जो कल्पना की वह इस जीवन के रहते मिल नहीं सकती थी इसलिये धर्म अर्थ और काम तीनों की सेवा से ही जीवन की सफलता मानी जाने लगी। इधर काम की भी काफ़ी दुर्दशा हुई। निवृत्तिवाद का जब ज्वार आया तब काम के प्रति घृणा प्रकट होने लगी उधर काम का अर्थ भी संकुचित हो गया—मैथुन रह गया। इस प्रकार हमारे जीवन के जो साध्य थे वे दोनों ही झमेले में पड़ गये।

वास्तव में न तो काम इतनी घृणित वस्तु है और न मोक्ष इतनी पारलौकिक, दोनों का जीवन में आवश्यक स्थान है। दोनों के बिना सुखकी कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिये उसके अर्थ पर ही कुछ विचार कर लेना चाहिये।

काम का अर्थ मैथुन नहीं है किन्तु वह **सारा सुख काम है जो दूसरे पदार्थोंके निमित्त से हमें मिलता है।** कोमल वस्तु का स्पर्श, स्वादिष्ट भोजन, पुष्प आदि का सूंघना, सुन्दर दृश्य देखना, संगीत आदि सुनना यह सब काम है इनका सम्बन्ध इंद्रियों से है और इंद्रियों के लिये किसी विषय की आवश्यकता होती है इसलिये यह पर-निमित्तक सुख है—काम है। परन्तु ऐसा भी परनिमित्तक सुख है जो इन्द्रियों से संबंध नहीं रखता किन्तु मनसे सबंध रखता है। तास चौपड़ शतरंज आदि के खेल तथा और भी प्रतियोगिता के खेल मानसिक काम हैं। अपनी प्रशंसा सुनने का आनन्द भी काम है अर्थात् **यश का सुख भी परनिमित्तक है इसलिये वह भी काम है।** इस प्रकार काम का क्षेत्र बहुत है।

हां, यह बात अवश्य है कि अगर मनुष्य में कामलिप्सा बढ़ जाय, वह काम के पीछे धर्म को भूल जाय तो वह घृणा की वस्तु हो जायगा।

कामसुख अगर मर्यादा का अतिक्रमण न कर जाय या व्यसन न बने और दूसरों के नैतिक हकों का नाश न करे तो उपादेय है बल्कि ज़रूरी है। तुम कोमलशय्या पर सोते हो, सोओ, पर उसके लिये छीनाझपटी करो यह बुरा है और कोमल शय्यापर सोने की ऐसी आदत बनालो कि कभी वैसी शय्या न मिले तो तुम्हें नींद ही न आवे, यह भी बुरा है। इसके लिये अन्याय न करो व्यसनी मत बनो फिर काम सेवन करो तो कोई बुराई नहीं है। ज्यों त्योंकर पेट भरने की ज़रूरत नहीं है। कच्ची जली या बेस्वाद रोटी क्यों खाओ? अच्छे तरीके से भोजन तैयार करो, कराओ, स्वादिष्ट भोजन लो यह बहुत अच्छा है। पर जीभ के वश में न हो जाओ कि अगर किसी दिन चटपटा भोजन न मिले मिठाइयां न मिलें तो चैन ही न पड़े। अथवा स्वाद के लोभ में पेटकी मांग से अधिक न खाजाओ कि पच न सके, कल बीमार पड़ना पड़े, लंघन करना पड़े, वैद्यों की सेवा करनी पड़े और पैसे की बर्बादी हो। अथवा स्वाद की लोलुपतामे इतना कीमती न खाजाओ कि उसके लिये ऋण लेना पड़े, या अन्याय से पैसा पैदा करना पड़े। अथवा अगर किसी ने तुम्हें भोजन कराया हो तो उसे खिलाना शक्ति से अधिक मालूम पड़े। तुम्हें भोजन कराने में अगर खिलानेवाले को इतना परिश्रम करना पड़ता है कि वह बेचैन हो जाता है अथवा इतना खर्च करना पड़ता है कि वह चिन्तित हो तो यह तुम्हारे लिये असंयम अर्थात् पाप होगा। मतलब यह है कि अत्याचार न करके जीभ के वश में न होकर स्वास्थ्य की रक्षा करते हुए स्वादिष्ट भोजन करना चाहिये। कभी कभी अभ्यास के लिये बेस्वाद भोजन भी करो पर बेस्वाद भोजन को अपना धर्म न समझो सिर्फ़ अभ्यास समझो।

प्रकृति ने जो कणकण में सौन्दर्य बिखेर रक्खा है, जड़ चेतन और अर्धचेतन जगत जिस सौन्दर्य से चमक रहा है उसका दर्शन करो, खूब आनन्द लूटो। पर सौन्दर्य की सेवा करो पूजा करो, उसका शिकार न करो उसे हजम करने की या नष्ट करने की वासना दिल में न आने दो। सुंदर बनो सुंदर का दर्शन करो पर उसके लिये धर्म और अर्थ मत भूलो। दूसरों को चिढ़ाने के लिये नहीं किन्तु दूसरों को आनंदित करने के लिये और दूसरों के उसी आनन्द में स्वयं आनन्द का अनुभव करने के लिये सौंदर्य की पूजा करो इसमें अधर्म नहीं है। पर अगर फ़ेशन की मात्रा इतनी बढ़ जाय कि कर्तव्य में समय की कमी मालूम होने लगे, अहंकार जगने लगे, धनसे ऋण बढ़ जाय, या धन के लिये हाय हाय करना पड़े, या अन्याय करना पड़े तब यह पाप होगा। अगर फ़ैशन हो पर स्वच्छता न हो तो भी यह पाप है। अगर हम इन पापों से बचे रहें तो सौंदर्य की उपासना जीवार्थ है।

नर को नारी के और नारी को नर के सौन्दर्य की उपासना भी निष्पाप होकर करना चाहिये। उसमें संयम का बांध न टूट जाय। नर और नारी में पारस्परिक आकर्षण भरकर प्रकृति ने अनन्त आनंद का जो श्रोत बहाया है उसमें बहकर न जाने कितने जीवन नष्ट हो गये हैं और उससे दूर रहने की चेष्टा करके न जाने कितने जीवन प्यास से मर गये हैं। अथवा प्यास न सह सकने के कारण घबरा कर फिर उसी श्रोत में बहकर नष्ट हो गये हैं। दोनों में जीवन की सफलता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि संयम रूपी घाटके किनारे बैठकर सौन्दर्य-श्रोतमें से मर्यादित रसपान किया जाय।

नारी के सौन्दर्य को देखकर तुम्हारा चित्त प्रसन्न होता है तो कोई बुरी बात नहीं है। माँ को देखकर बच्चे को जो प्रसन्नता होती है बहिन को देखकर भाई को जो प्रसन्नता होती है पुत्री को देखकर पिता को जो प्रसन्नता होती है वह प्रसन्नता तुम्हें होना चाहिये। माँ बहिन बेटी की तरह नारी को देखो फिर उसकी शोभा का दर्शन करो। उसे वेश्या मत समझो। पर-स्त्री को हम पत्नी नहीं कह सकते, फिर भी यदि उसके विषय में मन में पत्नीत्व का भाव आता है तो वह वेश्याका ही भाव है। इस पाप से बचो। फिर सौन्दर्योपासना करो।

यही नीति नारी के लिये भी है। उसकी भी सौन्दर्योपासना परपुरुष को पिता भाई या पुत्र समझ कर होना चाहिये। यह सौन्दर्योपासना, यह आनन्द, यह काम, अनुचित तो है ही नहीं, बल्कि पूर्ण जीवन के लिये आवश्यक है। श्रृंगार या सजावट भी बुरी चीज़ नहीं है। प्रकृति ने विविध वनस्पतियों से सुशोभित जो पर्वतमालाएँ खड़ी कर रक्खी हैं, नाना वन बना रक्खे हैं, उनके निरन्तर दर्शन करने के लिये घरके चारों तरफ़ वाटिका लगा रखने में कोई बुराई नहीं है। हम मूर्ति के द्वारा जिस प्रकार देवता के दर्शन करते हैं उसी प्रकार वाटिका के द्वारा प्रकृति के दर्शन करें तो इस में क्या बुराई है?

श्रृङ्गार भी प्राकृतिक सौन्दर्य की उपासना ही है। प्रकृति ने जो सौन्दर्य बिखेर रक्खा है उसे हम पाने का प्रयत्न करते हैं इसी का नाम श्रृंगार है। मुर्गे के सिर पर लाल लाल कलगी कैसी अच्छी मालूम होती है पर हमारे सिर पर नहीं है इसलिये टोपी या साफेपर हम कलगी खोंस लेते हैं। मोर के शरीर पर कैसे चमकीले छपके बने हुये हैं जो हमारे ऊपर नहीं है इसलिये मैं इसी तरह का चमकीला कपड़ा पहिनूंगा यही तो श्रृङ्गार है। मतलब यह कि **प्रकृतिके विशाल सौन्दर्य को संक्षिप्त करके अपनाने का नाम श्रृंगार है**। जब तक यह परपीड़क न हो, स्वास्थ्य-नाशक न हो, तब तक इसमें कोई हानि नहीं है। इसका आनन्द लेना चाहिये। यह भी काम है जीवार्थ है।

हां, जिस में सिर्फ अभिमान का प्रदर्शन हो अथवा जो अपने जीवन के अनुरूप न हो ऐसे श्रृङ्गार से बचना चाहिये। मतलब यह कि सौन्दर्योपासना बुरी चीज नहीं है पर वह संयम और विवेक के साथ होना चाहिये।

जो बात सौन्दर्योपासना के विषय में कही गई है वही बात संगीत आदि अन्य इन्द्रियों के विषय में भी कही जा सकती है। नारीकंठ से गीत सुनकर भी पुरुष के मन में व्यभिचार की वासना न जगना चाहिये। कोयल की आवाज में जो आनन्द आता है ऐसा ही आनन्दानुभव होना चाहिये।

काम के विषय में जीवन दोनों तरफ़ से असन्तोषप्रद बन गया है। अधिकांश स्थानों पर काम के साथ व्यसन और असंयम इस तरह मिल गये हैं कि उससे अपना और दूसरों का नाश हो रहा है और कहीं कहीं काम से इतनी घृणा प्रगट की जाती है कि हमारा जीवन नीरस और निरानन्द बन गया है। यहां तक कि महात्मा और साधु होने के लिये यह आवश्यक समझा जाने लगा है कि उसके चिहरे पर हँसी न हो उसमें विनोद न हो मनहूसियत उसके मुँह पर छाई रहे और बहुत से अनावश्यक कष्ट

वह उठा रहा हो। इस प्रकार निर्दोष काम पाप में शामिल हो गये। यह ठीक है कि दूसरों के सुख के लिये कष्ट उठाना पड़ता है भविष्य के महान सुख के लिये कष्ट उठाना पड़ता है पर जिस दुःख का सुख के साथ कार्यकारणसंबंध न हो अथवा अनावश्यक कष्टों से ही सुखप्राप्ति की कल्पना करली जाय यह जीवन की शक्तियों की बर्बादी है। उचित यह है कि आवश्यकता-वश मनुष्य अधिक से अधिक त्याग करने को तैयार रहे और दूसरों के अधिकार का लोप न करके स्वयं आनन्दी बने जगत को आनन्दी बनावे। यही काम है। यह काम साधारण गृहस्थ से लेकर जगद्वंद्य महात्मा में तक रह सकता है और रहता है और रहना चाहिये।

मानसिक काम का एक रूप है यश। जीवन में इसका इतना अधिक महत्व है कि कुछ विद्वानों ने इसे अलग जीवार्थ मान लिया है। यशोलिप्सा महात्मा कहलानेवालों में भी आजाती है। पर इसमें भी संयम की आवश्यकता है। अन्यथा यश के लिये मनुष्य इतनी आत्मवंचना और परवंचना कर जाता है कि उसकी मनुष्यता तक नष्ट हो जाती है। अपने यश के लिये दूसरों की निन्दा करना झूठ और मायाचार से अपनी सेवाओं को बड़ा बताना आदि असंयम के अनेक रूप यशोलिप्सा के साथ आजाते हैं इस लिये अगर संयम न हो तो **यश की गुलामी भी काम की गुलामी है।** काम के अन्य रूपों के समान इसका भी दुरुपयोग होता है। इन दुरुपयोगों को बचाकर विशुद्ध यश का सेवन करना उचित है। इससे मनुष्य लोकसेवी और आत्मोद्धारक बनता है।

यद्यपि जीवार्थी जीवन के लिये काम आ-वश्यक है फिर भी उस में पूर्णता और स्थिरता नहीं है। प्रकृति की रचना ही ऐसी है कि इच्छानुसार साधन सब को मिल नहीं सकते इससे सुख की अपेक्षा दुःख अधिक ही मालूम होता है। इस-लिये प्राचीन समय से ही मोक्ष की कल्पना चली आ रही है। पहिले तो स्वर्ग की कल्पना की गई परन्तु कामसुख के लिये कैसी भी अच्छी कल्पना क्यों न की जाय उस में पूर्णता आ ही नहीं सकती। इससे दार्शनिकों ने मोक्ष की कल्पना की। यद्यपि उसमें भी मतभेद रहा और वह आकर्षक भी नहीं बन सकी, फिर भी इतना तो हुआ कि लोगों के सामने सुख का एक ऐसा रूप रक्खा गया जो नित्य हो और जिसके साथ दुःख न हो। यद्यपि परलोक में मोक्ष की जो कल्पना की गई है उस से सिर्फ दुःखाभाव ही मालूम होता है सुख नहीं मालूम होता, इसीलिये न्याय वैशेषिक आदि दर्शनकारों ने मोक्ष में दुख और सुख का अभाव मानलिया है फिर भी इतना तो मालूम होता है कि वह स्थायीरूप में दुख के नाश के लिये है। इसलिये यह अच्छी तरह समझा जा सकता है कि **मोक्ष किसी स्थान का नाम नहीं है किन्तु दुखरहित स्थायी शान्ति का नाम मोक्ष है।**

इस प्रकार का मोक्ष मरने के बाद भी मिले तो यह अच्छी बात है। परन्तु परलोक सम्बन्धी मोक्ष को दार्शनिक सिद्धान्त से लटकाकर रखने की जरूरत नहीं है। परलोक हो या न हो, अनन्त मोक्ष हो या न हो, हमें तो इसी जीवन में मोक्ष का सुख पाना है पाना चाहिये और पा सकते हैं, इसीलिये मोक्ष जीवार्थ है और काम के साथ उसका समन्वय भी किया जा सकता है **जितना सुख काम-सेवा से उठाया जा सकता है उतना काम सेवा से उठावें बाकी असीम**

सुख मोक्ष-सेवा से उठावें इस प्रकार अपने जीवन को पूर्ण-सुखी बनावें । यही सकल जीवार्थों का समन्वय है ।

मोक्ष सहज सौन्दर्य धाम है ।
उसका ही शृंगार काम है ।
सहज द्विगुण होता है पाकर उचित सभ्य शृंगार ।
समझ मत दूर मोक्ष का द्वार ॥

पूर्ण सुखी होने के दो मार्ग हैं--[१] सुख के साधनों को प्राप्त करना और दुःख के साधनों को दूर करना [२] किसी भी तरह के दुःख का प्रभाव अपने हृदय पर न होने देना। पहिले उपाय का नाम काम है दूसरे उपाय का नाम मोक्ष है । गृहस्थ बन कर भी मनुष्य इस मोक्ष को पा सकता है और मोक्ष को पाकर भी इस जीवन में रह सकता है । ऐसे ही लोगों को जीवन्मुक्त या विदेह कहते हैं । **विपत्तियाँ और प्रलोभन जिन्हें न तो क्षुब्ध कर पाते हैं न दुःखी कर पाते हैं न कर्तव्यच्युत कर पाते हैं वे ही मुक्त हैं** । धर्म अर्थ और काम के साथ यह मुक्तता भी जिनके जीवन में होती है उन्हीं का जीवन पूर्ण और सफल है ।

इन चारों जीवार्थों की दृष्टि से जीवन के अगर भेद किये जाँय तो बारह भेद होंगे ।

१ जीवार्थशून्य, २ कामसेवी ३ अर्थसेवी, ४ अर्थकामसेवी, ५ धर्मसेवी, ६ धर्मकामसेवी, ७ धर्मार्थसेवी, ८ धर्मार्थकामसेवी, ९ धर्ममोक्षसेवी, १० धर्मकाममोक्षसेवी, ११ धर्मार्थमोक्षसेवी, १२ पूर्णजीवार्थी ।

इन बारह भेदों में पहिले चार जघन्य श्रेणी के हैं घृणित या दयनीय हैं, बीच के चार मध्यम श्रेणी के हैं सन्तोषप्रद हैं, अन्तिम चार उत्तम श्रेणी के हैं प्रशंसनीय हैं ।

धर्म के बिना मोक्ष की सेवा सम्भव नहीं है इसलिये केवल मोक्षसेवी, अर्थमोक्षसेवी, काममोक्षसेवी, अर्थकाममोक्षसेवी, ये चार भेद नहीं हो सकते । इन चारों भेदों में मोक्ष तो है पर धर्म नहीं है । धर्म के बिना मोक्षसेवा नहीं बन सकती । बारह भेदों का स्पष्टीकरण इसतरह है ।

१ **जीवार्थशून्य**--जिसके जीवन में धर्म अर्थ काम मोक्ष में से कोई भी जीवार्थ नहीं है वह मनुष्याकार पशु है उसका जीवन असफलता की सीमा पर है ।

२ **कामसेवी**--वे मनुष्य हैं जो अर्थोपार्जन के लिये कोई प्रयत्न नहीं करते, संयम का जिन के पास पता भी नहीं है मोक्ष की तो चर्चा ही व्यर्थ है । ये लोग या तो बाप दादों की कमाई हुई पूँजी को साफ करके मौज करते हैं या ऋण लेकर कामुकता का परिचय देते हैं या वेषधारी आदि बन कर भीख माँगकर मजा उड़ाते हैं । अपने थोड़े से स्वार्थ के पीछे जगत के किसी भी हित की पर्वाह नहीं करते । ये इन्द्रियों के गुलाम होते हैं । ऐसे लोगों को कुछ समय बाद ही अपने जीवन के दयनीय और घृणित दिन देखना पड़ते हैं । कुछ दिन ये भोग भोगते हैं बाद में भोग ही इन्हें भोगने लगते हैं । समाज के लिये ये भयंकर भी हैं और घृणित भी ।

३ **अर्थसेवी**--धनोपार्जन ही इनके जीवन का लक्ष्य है । धन कमाते हैं पर धन किसलिये है यह नहीं समझते । संयम और उदारता इनमें नहीं होती । ये अत्यन्त कंजूस होते हैं । न आध्यात्मिक सुख ये भोग सकते हैं न भौतिक । इनके कुटुम्बी इनसे खुश नहीं रह सकते । धन एकत्रित करके दूसरों को गरीब बनाते रहना ही इनकी दिनचर्या है । ये समाज की पीठ पर नहीं

पेट पर मुक्का मारते हैं इसलिये बड़े भयंकर हैं। सुखहीन तो हैं ही।

४ **अर्थकामसेवी**—धन कमाना और मौज उड़ाना ही इनका ध्येय है। संपत्ति में कहते हैं हमें किसी की पर्वाह नहीं। विपत्ति में कहते हैं दुनिया बड़ी स्वार्थी है कोई काम नहीं आता। रुपये का भोग करके पैसा भी दान में न देंगे। पीड़ितों और असहायों को देखकर हँसेंगे। ये लोग स्वार्थ की मूर्ति हैं। ऐसा कोई पाप नहीं जिसे करने को ये तैयार न हो जाँयँ। पर असफलताएँ आखिर इनके जीवन को मिट्टी में मिला देती हैं भोग इन्हें ही भोगने लगते हैं और नीरस हो जाते हैं। कोई इनसे प्रेम नहीं करता। स्वार्थी दोस्त इन्हें मिलते हैं पर सब अपनी अपनी घात में रहते हैं। आत्मसन्तोष इन्हें कभी नहीं मिलता।

५ **धर्म-सेवी**—ये लोग सदाचारी तो हैं फिर भी इन का जीवन प्रशंसनीय नहीं है। समाज की या किसी व्यक्ति की दया पर इनका जीवन निर्भर रहता है। ये समाज से जो कुछ लेते हैं उसके बदले में कुछ नहीं देते। इनके जीवन में किसी तरह का आनन्द नहीं होता। बहुत से साधुवेषी अपने को इसी श्रेणी में बताने की कोशिश करते हैं। वे समाज को कुछ नहीं देते काम का आनन्द नहीं पाते, मोक्ष के लायक निर्लिप्तता उनमें नहीं होती सिर्फ दुराचार से दूर रहते हैं। इस प्रकार का विकल जीवन सफल नहीं कहा जा सकता। और न ऐसे लोगों का धर्म टिकाऊ रहता है।

६ **धर्मकामसेवी**—धर्म होने के कारण इनका काम जीवार्थ सीमित है। पर जीवन निर्वाह के लिये कुछ नहीं करते अनावश्यक कष्टों को निमन्त्रण नहीं देते आराम से रहते हैं। इस प्रकार अर्थसेवा के बिना इनका जीवन दयनीय है।

७ **धर्मार्थसेवी**—सदाचारी हैं, जगतसे जो कुछ लेते हैं उसके बदले में कुछ देते हैं पर जिनका जीवन आनन्द हीन है। आराम नहीं लेते, एक तरह का असंतोष बना रहता है।

८ **धर्मार्थकामसेवी**—तीनों जीवार्थों का यथायोग्य समन्वय करने से इनका जीवन व्यवहार में सफल होता है पर पूर्ण सफल नहीं होता। असुविधाओं का कष्ट इनके मनमें बना ही रहता है। वह मोक्ष-सेवा से ही दूर हो सकता है।

९ **धर्म-मोक्षसेवी**—इस श्रेणी में वे योगी आते हैं जो दुःखों की पर्वाह नहीं करते, समाज की पर्वाह नहीं करते, समाज को कुछ नहीं देते, जिन्हें प्राकृतिक आनन्द की भी पर्वाह नहीं और यश की भी पर्वाह नहीं होती। इनका जीवन बहुत ऊँचा है पर आदर्श नहीं।

१० **धर्म-काम-मोक्षसेवी**—सदाचार और निर्लिप्त जीवन बितानेवाले, प्रकृति का आनन्द लूटने वाले, अथवा यश फैलाने वाले, इस तरह इनका जीवन अच्छा है। पर एक त्रुटि है कि समाज को कुछ सेवा नहीं देते इसलिये ऐसा काम भी नहीं रखते जिसके लिये समाजसे कुछ लिया जाय। इनका काम ऐसा है जिसके लिये समाज को कुछ खर्च नहीं करना पड़ता। वह प्राकृतिक होता है।

११ **धर्मार्थ-मोक्ष-सेवी**—इस श्रेणी में वे महात्मा आते हैं जो पूर्ण सदाचारी हैं पूर्ण निर्लिप्त हैं कोई भी विपत्ति जिन्हें चलित नहीं कर पाती। जो कुछ लेते हैं उससे कई गुणा समाज को देते हैं

इस प्रकार अर्थ जीवार्थ का सेवन करते हैं । पर काम की तरफ़ जिनका लक्ष्य नहीं जाता । प्राकृतिक आनन्द उठाने में भी जिनकी रुचि नहीं होती । अनावश्यक कष्ट भी उठाने में तत्पर रहते हैं । काम से जिन्हें एक तरह की अरुचि है । सामाजिक वातावरण का प्रभाव उन्हें उचित और निर्दोष काम की तरफ़ भी नहीं झुकने देता । ऐसे महात्मा जगत के महान सेवक हैं । वे पूज्य हैं बहुत अंशों तक आदर्श भी हैं फिर भी पूर्ण आदर्श नहीं ।

प्रश्न—यदि वे काम जीवार्थ का सेवन नहीं करते तो अर्थ-जीवार्थ का सेवन किसलिये करते हैं ।

उत्तर—इन लोगों का अर्थ-जीवार्थ अर्थ-संग्रह के रूपमें नहीं होता । बात यह है कि वे जगत की सेवा करते हैं तब कहीं बदले में जीवित रहने के लिये नाम मात्र का लेते हैं । मुफ्त में कुछ नहीं लेते यही इनका अर्थ-जीवार्थ-सेवन है ।

प्रश्न—क्या ऐसे लोग प्रकृति की शोभा न देखते होंगे क्या कभी संगीत न सुनते होंगे । कम से कम यश तो इन्हें मिलता ही होगा क्या यह सब काम जीवार्थ का सेवन नहीं है ?

उत्तर—है, पर इस श्रेणी में बहुत से प्राणी ऐसे होते हैं जो यशकी तरफ़ रुचि तो रखते ही नहीं है पर यश पाते भी नहीं हैं । दुनिया उनके महत्व को नहीं जान पाती । संगीत और सुंदर दृश्य भी इन्हें पसन्द नहीं हैं । ज़बर्दस्ती आ जाय तो यह बात दूसरी है । यह काम जीवार्थ का सेवन नहीं है । यों तो जगत में ऐसा कौन व्यक्ति है जिसने जीवन में स्वादिष्ट भोजन न किया हो या सुन्दर स्वर न सुना हो अथवा किसी न किसी आनन्ददायी विषय से संपर्क न हुआ हो । पर इतने में ही काम जीवार्थ की सेवा नहीं कही जा सकती । अपनी परिस्थिति और साधनों के अनुकूल ही काम जीवार्थ की सेवा का अर्थ लगाया जायगा । एक लक्षाधिपति और एक भिखारी का काम जीवार्थ एकसा न होगा । उन दोनों के साधनों का प्रभाव उनके काम पर पड़ेगा सर्वथा कामहीन जीवन तो असंभव है । योग्य कामहीन होने से ही किसी का जीवन कामहीन कहलाता है । इस श्रेणी के मनुष्यों का योग्यकामहीन जीवन होता है इसीलिये इन्हें धर्मार्थमोक्षसेवी कहा गया है ।

१२ पूर्णजीवार्थसेवी—चारों जीवार्थों का इनके जीवन में योग्य स्थान रहता है । म. राम, म. कृष्ण, म. महावीर, म. बुद्ध, म. ईसा, म. मुहम्मद आदि महापुरुषों का जीवन इसी कोटि का था । यह आदर्श जीवन है ।

प्रश्न—म. राम, म. कृष्ण, म. मुहम्मद आदि का जीवन नीतिमय था इसलिये आप इन्हें धर्मात्मा कह सकते हैं पर मोक्ष का स्थान इनके जीवन में क्या था । इनने संन्यास भी नहीं लिया ।

उत्तर—दुःखों से निर्लिप्त रहना, पूर्ण निराकुलता का अनुभव करना मोक्ष है । इसका पता उनकी कर्तव्य-तत्परता, आपत्ति और प्रलोभनों के विजय से लगता है । संन्यास लेना या न लेना ये तो समाजसेवा के सामयिक रूप हैं जो अपनी अपनी परिस्थिति और रुचि के अनुसार रखना पड़ते हैं । मोक्षकी सेवा तो दोनों अवस्थाओं में हो सकती है ।

प्रश्न—म. महावीर और म. बुद्ध के जीवन में अर्थ और काम क्या था ? ये तो संन्यासी थे । म. महावीर तो अपने पास कपड़ा भी नहीं रखते थे तब ये पूर्ण जीवार्थसेवी कैसे ?

उत्तर—अर्थसेवन के लिये यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य अर्थ का संग्रह करे । उसके

लिये यही आवश्यक है कि शरीरस्थिति के लिये जो कुछ वह समाज से लेता है उसका बदला समाज को दे। यह बात दूसरी है कि महात्मा लोग उससे कई गुणा देते हैं।

म. महावीर और म. बुद्ध का जीवन साधकावस्था में ही कामहीन रहा है। सिद्ध-जीवन्मुक्त अवस्था में तो उनके जीवन में काम का काफ़ी स्थान था। म. बुद्ध ने तो बाह्य तपस्याओं को अपनी संस्था में से हटा दिया था और म. महावीर ने भी बाह्य तपस्याओं का अपने जीवन में त्याग कर दिया था। केवलज्ञान होने के पहिले बारह वर्ष तक उनने तपस्याएँ की हैं बाद में नहीं। इससे माळूम होता है कि उनके जीवन में काम को स्थान था। इस प्रकार इन महात्माओं के जीवन में धर्म अर्थ काम मोक्ष चारों जीवार्थों का समन्वय हुआ है।

प्रत्येक जीवन में चारों जीवार्थों का समन्वय हो तभी वह जीवन सफल कहा जा सकता है। मोक्ष को परलोक की दार्शनिक चर्चा का विषय न बनाना चाहिये। धर्मशास्त्र तो इसी जीवन में मोक्ष बतलाता है वह हमें प्राप्त करना चाहिये। त्रिवर्गसंसाधन नहीं चतुर्वर्गसंसाधन हमारा ध्येय होना चाहिये। तभी हम जीवार्थ की दृष्टि से आदर्श जीवन बिता सकते हैं।

भक्त-जीवन

ग्यारह भेद

मनुष्य जिस चीज का भक्त है उसी को पाने की वह इच्छा करता है उसी में वह महत्त्व देखता है इसलिये दूसरे भी उसी चीज को पाने की इच्छा करते हैं इसलिये समाज पर उसका अच्छा या बुरा असर पड़ा करता है। इसलिये भक्ति की दृष्टि से भी मानव जीवन के अनेक भेद हैं और उनसे जीवन का महत्त्व लघुत्व या अच्छा बुरापन माळूम होता है।

भक्त जीवन के ग्यारह भेद हैं—

१ भयभक्त	
२ आतंकभक्त	
३ स्वार्थभक्त	जघन्य
४ ऋद्धिभक्त	
५ अधिकारभक्त	
६ वेषभक्त	
७ कलाभक्त	मध्यम
८ गुणभक्त	
९ आदर्शभक्त	
१० उपकारभक्त	उत्तम
११ सत्यभक्त	

भयभक्त--कल्पित या अकल्पित भयंकर चीजों का भक्त या पुजारी भयभक्त या भयपूजक है, भूत पिशाच शनैश्चर आदि की पूजा करने वाला, या आसमान में चमकती हुई बिजली आदि से डरकर उसकी पूजा करनेवाला, जो मनुष्य अपने व्यवहार से हमारा दिल दहला देता है उसकी पूजा करनेवाला भयभक्त है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह सबसे नीची श्रेणी है जो प्रायः पशुओं में पाई जाती है। और साधारण मनुष्य अभी पशुओं से बहुत ऊँचा नहीं उठ पाया है इसलिये साधारण मनुष्य में भी पाई जाती है।

भय से मतलब यहां भक्तिभय या विरक्तिभय से नहीं है। भोगभय वियोगभय आदि अपाय भयों से है। भय से किसी की भक्ति करना मनुष्यता को नष्ट करना है।

जब मनुष्य भयसे भक्ति करने लगता है तब शक्तिशाली लोग शक्ति का उपयोग दूसरों को डराने या अत्याचार में करने लगते हैं वे प्रेमी बनने की कोशिश नहीं करते। इस प्रकार भयभक्ति अत्याचारियों की वृद्धि करने में सहायक होने से पाप है।

२ **आतंक भक्त**—जो लोग दुनिया पर आतंक फैलाते हैं वे दुनिया की सेवा नहीं करते सिर्फ शक्ति का प्रदर्शन करते हैं उनकी पूजा भक्ति करनेवाला आतंकभक्त है। बड़े बड़े दिग्विजयी सम्राटों या सेनानायकों की भक्ति आतंकभक्ति है। यद्यपि यह भी एक तरह की भयभक्ति है पर यहां भयभक्ति से इसमें अन्तर यह रक्खा गया है कि भयभक्ति अपने ऊपर आये हुए भय से होती है और आतंकभक्ति वह है जहां अपने ऊपर आये हुए भयसे सम्बन्ध नहीं रहता किन्तु जिन लोगोंने कहीं भी और कभी भी समाजके ऊपर आतंक फैलाया होता है उनकी भक्ति होती है। चंगेजखाँ नादिरशाह या और भी ऐसे लोग जिनने निरपराधी लोगों पर आतंक फैलाया हो उनकी वीर पूजा के नाम पर भक्ति करना आतंकभक्ति है। भयभक्ति में जो दोष है वही दोष इसमें भी है।

प्रश्न—आतंक तो सज्जनों का भी होता है। जैसे परस्त्रीलम्पट रावण के दल पर म. राम का आतंक छा गया, या सामयिक सुधार के विरोधी काफ़िरों पर हजरत मुहम्मद का आतंक छा गया, अब अगर इनकी भक्ति की जाय तो क्या यह आतंकभक्ति कहलायगी? और क्या यह अधम श्रेणी की होने से निंदनीय होगी?

उत्तर—आतंक से इनकी भक्ति करना अच्छा नहीं है। किन्तु लोकहित के शत्रुओं को इनने नष्ट किया और इससे लोकहित किया इस दृष्टि से अवश्य ही इनकी भक्ति की जा सकती है। यह आतंकभक्ति नहीं है किन्तु कल्याणभक्ति या सत्यभक्ति है। यह उत्तम श्रेणी की है।

३ **स्वार्थभक्त**—अपने स्वार्थ के कारण किसी की भक्ति करनेवाला स्वार्थभक्त है। यह भक्ति प्रायः नौकरों में मालिकों के प्रति पाई जाती है।

इस भक्ति में खराबी यह है कि इसमें न्याय अन्याय उचित अनुचित का विचार नहीं रहता है। और स्वार्थ को धक्का लगने पर यह नष्ट हो जाती है।

प्रश्न—बहुत से स्वामिभक्त कुत्ते या घोड़े या अन्य जानवर या मनुष्य ऐसे होते हैं जो प्राण देकर भी अपने अपने स्वामी की रक्षा करते हैं। जैसे चेटक ने राणा प्रताप की की थी, हाथी ने सम्राट् पोरस की की थी, इसे क्या स्वार्थभक्ति कहकर अधम श्रेणी की कहना चाहिये? इस प्रकार की भक्ति से तो इतिहास में भी स्थान मिलता है इसे अधम श्रेणी की भक्ति कैसे कह सकते हैं?

उत्तर—यह स्वार्थभक्ति नहीं कृतज्ञता या कर्तव्यतत्परता है। अगर स्वार्थभक्ति होती तो ये प्राण देकर स्वामी की रक्षा न करते। स्वार्थभक्ति वहीं है जहां स्वार्थ के नष्ट होते ही मनुष्य गुणानुराग कृतज्ञता न्याय आदि को भूलकर भक्ति छोड़ बैठे। प्रताप की रक्षा करने वाले चेटक में कर्तव्यतत्परता थी इसलिये उसने प्राण देकर भी प्रताप की रक्षा की। यह न समझना चाहिये कि जानवरों में कर्तव्यतत्परता नहीं हो सकती। जानवरों में पांडित्य भले ही न हो परन्तु कृतज्ञता प्रेम भक्ति आदि भावुकता के रूप रह सकते हैं।

४ ऋद्धिभक्त--धन वैभव होने से किसी की भक्ति करना ऋद्धिभक्ति है। ऋद्धिभक्ति का परिणाम यह है कि मनुष्य हर तरह की बेईमानी से धनी बनने की कोशिश करता है। धन जीवन के लिये आवश्यक चीज है और इसीलिये अधिक धनसंग्रह पाप है क्योंकि इससे दूसरे लोगों को जीवन के आवश्यक पदार्थ दुर्लभ हो जाते हैं। एक जगह संग्रह होने से उसका बटवारा ठीक तरह नहीं हो पाता। और जो मनुष्य धनसंग्रह का पाप कर रहा है उसकी भक्ति करना तो पाप को उत्तेजना देना है। इसलिये ऋद्धिभक्ति अधम श्रेणी की भक्ति है हेय है।

प्रश्न--श्रीमानों से कुछ न कुछ जगत की भलाई होती ही है कुछ न कुछ दान भी होता है और पैसा पैदा करने की शक्ति भी कुछ विशेष गुणों पर निर्भर है इसलिये वैभवशालियों की भक्तिमें अमुक अंश में गुणभक्ति सेवाभक्ति आदि आही जाते हैं तब ऋद्धिभक्ति या धनभक्ति को अधमभक्ति क्यों कहा जाय?

उत्तर--धनवान अगर जगत की भलाई या सेवा करता है तो उसकी परोपकारशीलता की भक्ति की जा सकती है धनोपार्जन में अगर उसने बुद्धि आदि किसी गुण का तथा ईमानदारी का उपयोग किया है तो उन गुणों की भक्ति की जा सकती है पर यह धनभक्ति नहीं है। जहां अन्य किसी गुण की उपेक्षा करके केवल धनवान होने से किसी की भक्ति या आदर किया जाता है, यहां तक कि वह बेईमान आदि हो बेईमानी से ही उसने धन कमाया हो फिर भी उसके धन की भक्ति की जाती हो तो यह धन भक्ति है। यह धनसंग्रह के पाप को उत्तेजित करती है इसलिये अधम भक्ति है।

प्रश्न--धन एक शक्ति अवश्य है क्योंकि उसमें कुछ कराने की ताकत है। उस शक्ति का सदुपयोग कराने के लिये अगर किसी धनी की भक्ति की जाय तो क्या बुराई है। अगर हमारे मीठे बोलने से, आदर करने से, तारीफ कर देने से कोई श्रीमान् किसी अच्छे काम में अपनी सम्पत्ति लगादे तो उसका आदर आदि करना क्या बुरा है? इससे तो दुनिया की कुछ न कुछ भलाई ही है।

उत्तर--यह धनभक्ति नहीं है। जैसे किसी बालक को प्रेम से पुचकारते हैं और पुचकार कर उससे कोई काम करा लेते हैं तो यह उसकी भक्ति नहीं है, इसी प्रकार कोई श्रीमान् प्रशंसा और यश से ही कर्तव्य करता हो, उसे वास्तविक कर्तव्य का पता न हो तो आदर सत्कार करके उससे कुछ अच्छा काम करा लेना अनुचित नहीं है। पर यह धनभक्ति नहीं है, समझा बुझाकर या लुभाकर अच्छा काम करा लेने की एक कला है। विवेकी श्रीमान तो आदर सत्कार यश आदि की पर्वाह किये बिना उचित मार्ग में दान करेगा इस प्रकार अपनी परोपकारशीलता से जनता की सच्ची भक्ति पायेगा। वह कला का विषय न बनकर भक्ति का विषय बनेगा।

५ अधिकारभक्त--अमुक आदमी किसी पद पर पहुँचा है, वह न्यायाधीश है, राजमंत्री है, किसी विभाग का सञ्चालक है आदि पदों से उसकी भक्ति करना अधिकार भक्ति है, यह भी एक जघन्य या अधम भक्ति है।

ऐसे भी बहुत से पद हैं जो किसी सेवा के बलपर मनुष्य को मिलते हैं उनके कारण किसी की भक्ति करना उस सेवा की ही भक्ति है। पर सेवा का विचार किये बिना पद के कारण किसी की भक्ति करना अधम भक्ति है। अमुक आदमी

की कल तक बात न पूछते थे आज वह राजमंत्री या न्यायाधीश हो गया है तो उसे मानपत्र दो, अध्यक्ष बनाओ, यों करो त्यों करो, यह सब अधम भक्ति है।

जब समाज में इस प्रकार के अधिकारभक्त बढ़ जाते हैं तब मनुष्य को सेवा की पर्वाह नहीं रहती अधिकार की रहती है। अधिकार को पाने के लिये मनुष्य सब कुछ करने को उतारू हो जाता है वह अच्छे से अच्छे सेवकों को धक्का देकर गिरा देना चाहता है और आगे बढ़ कर जनता की भक्ति पूजा लूट लेना चाहता है। इसमें उस आदमी का तो असंयम है ही, साथ ही जनता का भी दोष है। जनता जब अपने सेवक की अपेक्षा अधिकारी की अधिक भक्ति करेगी तब लोग सेवक बनने की अपेक्षा अधिकारी बनने की अधिक कोशिश करेंगे। इससे सेवक घटेंगे अधिकारों के लुटारू बढ़ेंगे इसलिये अधिकारभक्ति भी एक तरह का पाप है। अधिकारी की भक्ति उतनी ही करना चाहिये जितनी कि अधिकारी होने के पहिले उसके गुणों और सेवाओं के कारण करते थे।

प्रश्न–व्यवस्था की रक्षा करने लिये अधिकार-भक्ति करना ही पड़ती है और करना भी चाहिये। न्यायालय में जानेवाले अगर न्यायाधीश के व्यक्तित्व का ही खयाल करें और उसके अधिकार की तरफ ध्यान न दें तो न्यायालय की इज्जत भी कायम न रहे न्यायाधीश को न्याय करना भी कठिन हो जाय।

उत्तर–न्यायालय में न्यायाधीश का सन्मान न्यायाधीश की भक्ति नहीं है यह तो उचित मर्यादा का पालन है। न्यायासन पर व्यक्ति के व्यक्तित्व का विचार नहीं किया जाता उस पद का विचार किया जाता है। न्यायालय के आदर में व्यक्ति को बिलकुल गौण कर देना चाहिये। न्यायालय के बाहर उस व्यक्ति का आदर उसके गुण के अनुसार करना चाहिये वहाँ उसके पद या अधिकार को गौण कर देना चाहिये।

प्रश्न–ऐसे भी अधिकारी हैं जो चौबीसों घंटे अपनी ड्यूटीपर माने जाते हैं उसके लिये न्यायालय के भीतर या बाहर का भेद नहीं होता।

उत्तर–ऐसे लोग जब ड्यूटी के काम के लिये आवें तब उनका वैसा आदर करना चाहिये, परन्तु जब वे किसी धार्मिक सामाजिक या वैयक्तिक कार्य से आवें तब उनका अधिकारीपन गौण समझना चाहिये।

मतलब यह है कि अधिकार और महत्ता या पूज्यता का मेल नहीं बैठता। अच्छे से अच्छे जगसेवक त्यागी व्यक्ति अधिकारहीन होते हैं और साधारण से साधारण क्षुद्रव्यक्ति अधिकार पा जाते हैं। अधिकार के आसन पर बैठ कर वे आदर सन्मान तो लूट ही लेते हैं, अब अगर अन्यत्र भी वे आदर सन्मान लूटें और सच्चे सेवक और त्यागी भी उनके आगे गौण कर दिये जाँय तो समाज के लिये इससे बढ़कर कृतघ्नता और क्या हो सकती है। और इसी कृतघ्नता का यह परिणाम है कि समाजसेवा की अपेक्षा पदाधिकारी बनने की तरफ मनुष्य की रुचि अधिक होती है। प्रजातंत्र शासन की अच्छाई भी इसी कारण धीरे धीरे नष्ट हो जाती है।

हां यह ठीक है कि कोई पदाधिकारी योग्य भी हो और उसने अपनी योग्यता का धन का जनका समाज सेवा के कार्य में उपयोग किया हो तो इस दृष्टि से उसकी भक्ति की जा सकेगी।

पर जब दूसरे समाजसेवी से उसकी तुलना होगी तो समाज सेवा ही की दृष्टि से तुलना होगी अधिकार की दृष्टि से नहीं।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि कोई धनी या अधिकारी आर्थिक आदि कारणों से सम्पर्क में आता है, उससे परिचय हो जाता है, और पता लगता है कि वह सिर्फ धनी या अधिकारी ही नहीं है किन्तु गुणों में भी श्रेष्ठ है परोकारी भी है, इस प्रकार उसकी भक्ति पैदा हो जाती है तो यह धनभक्ति या अधिकारभक्ति नहीं है किन्तु गुणभक्ति या उपकारभक्ति है।

६ **वेषभक्त**–गुण हो या न हो किन्तु वेष देख कर किसी की भक्ति करना वेषभक्ति है। वेषभक्त भी जघन्य श्रेणी का भक्त है। जब हम विद्वत्ता त्याग समाजसेवा आदि का अपमान करके किसी वेष का सन्मान करते हैं तब यह अधम भक्ति समाज में इन गुणों की कमी कराने लगती है और वेष लेकर पुजने के लिये धूर्तों मूढ़ों गुणहीनों को उत्तेजित करती है। वेष तो किसी संस्था के सदस्य होने की निशानी है महत्ता या गुण के साथ उसका नियत सम्बन्ध नहीं है। वेष लेकर भी मनुष्य हीन हो सकता है। वेष के आगे वास्तविक महत्ता का अपमान न होना चाहिये।

प्रश्न--वेष किसी संस्थाके सदस्य होने की निशानी है, तब यदि उस संस्था का सन्मान करना हो तो वेष का सन्मान क्यों न किया जाय ?

उत्तर--वेष का सन्मान एक बात है, वेष होने से किसी व्यक्ति का सन्मान करना दूसरी बात है, वेष के द्वारा किसी संस्था का सन्मान करना तीसरी बात है, और वेष के द्वारा आत्म-शुद्धि और जनसेवा का सन्मान करना चौथी बात है। इनमें से पहिली दो बातें उचित नहीं हैं। तीसरी बात ठीक है परन्तु उसमें मर्यादा होना चाहिये। संस्था का सन्मान उतना ही उचित है जितनी उससे लोकसेवा होती है। कोई संस्था यह नियम बनाले कि हमारे सदस्यों से जो मिलने आवे उसे जमीन पर बैठना पड़ेगा भले ही मिलनेवाला कितना ही बड़ा लोकसेवी विद्वान हो और हमारा सदस्य सिंहासन या ऊँचे तख्त पर बैठेगा भले ही उसकी योग्यता कितनी ही कम हो, तो उस संस्था की यह ज्यादती है। संस्था का सन्मान उसके रीतिरिवाज के आधार पर नहीं किन्तु उसकी लोकसेवा आदि के आधार पर किया जाना चाहिये।

चौथी बात सर्वोत्तम है। इसमें संस्था का प्रश्न नहीं रहता इसमें वेष तो सिर्फ एक विज्ञापन है जिससे आकृष्ट होकर लोग व्यक्ति की आत्मशुद्धि और जनसेवा की परीक्षा के लिये उत्सुक हों। इसके बाद जैसा उसे पायें उसके साथ वैसा ही व्यवहार करें।

७ **कलाभक्त**–मन और इन्द्रियों को प्रसन्न करनेवाली साकार या निराकार रचना विशेष का नाम **कला** है। जैसे वक्तृत्व कवित्व संगीत आदि निराकार कला, मूर्ति चित्र नृत्य आदि साकार कला। जहां कला है वहां कम खर्च में भी अधिक आनन्द मिल सकता है, जहां कला नहीं है वहां अधिक खर्च में भी उतना आनन्द नहीं मिल पाता। चतुर चित्रकार पेन्सिल से दो चार रेखाएँ खींचकर सुन्दर चित्र बना लेता है और अनाड़ी चित्रकार स्याही से कागज भर कर भी कुछ नहीं कर पाता। यह कला की विशेषता है।

कला की भक्ति मध्यम श्रेणी की भक्ति है। अधिकारभक्ति धनभक्ति आदि से जो दूसरों पर बोझ होता है वह कलाभक्ति में नहीं है।

कला जगत को कुछ देती ही है जब कि धन अधिकार आदि दूसरों से खींचते हैं। मुझे धनी बनने के लिये दूसरों से छीनना पड़ेगा या लेना पड़ेगा पर कलावान होने के लिये दूसरों से छीनना जरूरी नहीं है थोड़ा बहुत दूंगा ही। जगत में बहुत से धनी अधिकारी आदि हों इस की अपेक्षा यह अच्छा है कि बहुत से कलावान हों। इसलिये कलाभक्ति धनभक्ति आदि से अच्छी है मध्यम श्रेणी की है।

उत्तम श्रेणी की यह इसलिये नहीं है कि कलावान् होने से ही जगत को लाभ नहीं होता। उसका दुरुपयोग भी काफ़ी हो सकता है। इसलिये सिर्फ़ कलाभक्ति से कुछ लाभ नहीं उसके सदुपयोग की भक्ति ही उत्तम श्रेणी में जा सकती है। पर उस समय कला गौण हो जायगी और उससे होनेवाला उपकार ही मुख्य हो जायगा इसलिये वहां कलाभक्ति न रह कर उपकारभक्ति रहेगी।

८ **गुणभक्त**—दूसरे की भलाई कर सकनेवाली शक्ति विशेषका नाम गुण है। जैसे विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता, पहिलवानी, सुन्दरता आदि। कुछ गुण स्वाभाविक होते हैं और कुछ उपार्जित। बुद्धिमत्ता आदि स्वाभाविक हैं विद्वत्ता आदि उपार्जित। गुणी होने से किसी की भक्ति करना गुणभक्ति है यह भी मध्यम श्रेणी की भक्ति है। इसकी मध्यमता का कारण वही है जो कलाभक्ति का है।

प्रश्न—सौन्दर्य भी एक गुण है उसकी भक्ति मध्यम श्रेणी की भक्ति है और धनी अधिकारी आदि की भक्ति जघन्य श्रेणी की तब सुन्दरियों के पीछे घूमनेवाले मध्यम श्रेणी के कहलाये और अधिकारियों को मानपत्र देनेवाले जघन्य श्रेणी के। यह अन्तर कुछ जचता नहीं। यह तो विषय को उत्तेजन देना है।

उत्तर—विषयातुर होकर सुन्दरियों को महत्व देनेवाले कलाभक्त नहीं हैं। वे तो विषयभक्त होनेसे स्वार्थभक्त हैं। विषय को धक्का लगा कि उनकी भक्ति गई। ऐसे स्वार्थभक्त तो जघन्य श्रेणी के हैं। सौन्दर्यभक्ति तो सामूहिक हितकी दृष्टि से होती है। एक विद्वान की इसलिये भक्ति करना कि उसने हमारे लड़के को मुफ्त में पढ़ा दिया है, गुणभक्ति नहीं है, स्वार्थभक्ति है। एक सुन्दरी की इसलिये भक्ति करना कि उसके रूप से आँखें सिकतीं हैं सौन्दर्यभक्ति नहीं है स्वार्थभक्ति है। निस्वार्थ दृष्टि से जो भक्ति होगी वही गुणभक्ति रहेगी. और मध्यम श्रेणी में शामिल होगी।

९ **शुद्धिभक्त**—पवित्र जीवन बितानेवाले लोगोंकी भक्ति करना शुद्धिभक्ति है। इस भक्ति में कोई दु:स्वार्थ नहीं होता अपने जीवन की पवित्रता की ओर लेजानेका सत्स्वार्थ होता है। यह उत्तम श्रेणी की भक्ति है क्योंकि इससे पवित्र जीवन बिताने की उत्तेजना मिलती है।

१० **उपकारभक्ति**—किसी वस्तु से कोई लाभ पहुँचता हो तो उसके विषयमें कृतज्ञता रखना उपकारभक्ति है। यह भी उत्तम श्रेणी की है क्योंकि इससे उपकारियों की संख्या बढ़ती है।

गाय को जब माता कहते हैं तब यही उपकारभक्ति आती है। गाय एक जानवर है खुद उसे अपनी उपकारकता का पता नहीं है पर हम उससे लाभ उठाते हैं इसलिये माता कहकर भक्ति प्रगट करते हैं। यह किसी नामकी भक्ति नहीं है किन्तु गोजाति के द्वारा होनेवाले मानव जाति के उपकार की भक्ति है। यदि हमने अपनी शक्ति से विवश करके किसी से सेवा ली है तो भी न्याय के खातिर हमें उस का उपकार मानना

चाहिये और यथाशक्य आदर पूजा से कृतज्ञता प्रगट करना चाहिये, यह मनोवृत्ति अच्छी है। इसी दृष्टि से एक कारीगर अपने औजारों की पूजा करता है एक व्यापारी तराजू की पूजा करता है । कृतज्ञ मनोवृत्ति जड़ चेतन का भेद भी गौण कर देती है। गंगा आदि की भक्ति के मूल में भी यही कृतज्ञता की भावना है। इसे देव आदि समझकर अद्भुत शक्तियों की कल्पना तो मूढ़ता है पर उपकारी समझकर भक्ति करना उचित है । इससे मनुष्य में कृतज्ञता जगती रहती है । कृतज्ञता से परोपकारियों की संख्या बढ़ती है कृतघ्नता से अगणित उपकारी नष्ट होते हैं।

प्रश्न—उपकारभक्ति तो स्वार्थ भक्ति है स्वार्थभक्ति तो अधम श्रेणी की भक्ति है फिर उपकार के नाम से उसे उत्तम श्रेणी की क्यों कहा ?

उत्तर—स्वार्थभक्ति और उपकारभक्ति में अंतर है। स्वार्थभक्ति मोहका परिणाम है और उपकारभक्ति विवेक का। स्वार्थ नष्ट होनेपर स्वार्थभक्ति नष्ट होजाती है जब कि उपकारभक्ति उपकार नष्ट होनेपर भी बनी रहती है, इसमें कृतज्ञता है। स्वार्थभक्ति में दीनता, दासता मोह आदि हैं।

११ **सत्यभक्त**--शुद्धि और उपकार दोनों के सम्मिश्रण की भक्ति सत्यभक्ति है । न तो कोरी शुद्धि से जीवन की पूर्ण सफलता है न कोरे उपकार से, ये तो सत्य के एक एक अंश हैं। जीवन को शुद्ध बनाया पर वह जीवन दुनिया के काम न आया, सिर्फ पुजने के काम का रहा तो ऐसा जीवन अच्छा होने पर भी पूर्ण नहीं है। और उपकार किया पर जीवन पवित्र न बना तो भी वह आदर्श न बना, बल्कि कदाचित यह भी हो सकता है कि वह उपकार के बदले अपकार अधिक कर जाय। दोनों को मिलाने से जीवन की पूर्णता है, यही सत्य है इसी की भक्ति सत्यभक्ति है।

ये ग्यारह प्रकार के भक्त बतलाये हैं इन्हें सेवक उपासक पूजक आदि भी कह सकते हैं। पर सेवा आदि करने में तो दूसरों की सहायता की आवश्यकता है लेकिन भक्ति में नहीं है, भक्ति स्वतन्त्र है । इसलिये मनुष्य भक्त बनने का ही पूरा दावा कर सकता है सेवक आदि बनना तो परिस्थिति और शक्ति पर निर्भर है।

भक्ति की जगह प्रेम आदि शब्दों का भी उपयोग किया जा सकता है पर भक्तजीवन शब्द से जो सात्त्विकता और नम्रता प्रगट होती है वह प्रेमीजीवन शब्द से नहीं होती। जो चीजें हमारी मनुष्यता का विकास करती हैं जगत का उद्धार करती हैं उनके सामने तो हमें भक्त बन कर जाना ही उचित है। मनुष्य प्राणी प्राणियों का राजा होने पर भी इस विश्व में इतना तुच्छ है कि वह भक्त बनने से अधिक का दावा करे तो यह उसका अहंकार ही कहा जायगा। खैर, भक्त कहो, पुजारी कहो, सेवक कहो, प्रेमी कहो उपासक कहो, एक ही बात है और इस दृष्टि से जीवन के ग्यारह भेद हैं। इनमें से उत्तम श्रेणी का भक्त हर एक मनुष्य को बनना चाहिये।

हाँ, व्यवहार में जो शिष्टाचार के नियम हैं उनका पालन अवश्य करना चाहिये। जो शिष्टाचार नीतिरक्षण और सुव्यवस्था के लिये आवश्यक है वह रहे, बाकी में भक्ति जीवन के अनुसार संशोधन करना उचित है।

वयोजीवन
आठ भेद

मानव-जीवनकी अवस्थाओं को हम तीन भागों में विभक्त करते हैं, बाल्य, यौवन और वार्धक्य। तीनों में एक एक बातकी प्रधानता होने से एक एक विशेषता है। बाल्यावस्था में आमोद-प्रमोद-आनन्द की विशेषता है। निश्चित जीवन, किसी से स्थायी वैर नहीं, उच्चनीच आदि की वासना नहीं, किसी प्रकार का बोझ नहीं, क्रीड़ा और विनोद, ये बाल्यावस्था की विशेषताएँ हैं। युवा और वृद्ध भी जब अपने जीवन पर विचार करने बैठते हैं तब उन्हें बाल्यावस्था की स्मृतियाँ आनन्द-मग्न कर देती हैं। जब मनुष्य आनन्द-मग्न होता है तब वह बाल्यावस्था का ही अनुकरण करता है। व्याख्यान सुनते सुनते या कोई सुन्दर दृश्य देखते देखते मनुष्य हर्षित होने पर बालकों की तरह तालियाँ पीटने लगता है, उछलने कूदने लगता है। बुद्धि की अर्गला किनोर हो जाती है हृदय उन्मुक्त होकर उछलने लगता है। बाल्यावस्थाकी घड़ियाँ वे घड़ियाँ हैं जिनकी स्मृति जीवन में जब चाहे तब गुदगुदी पैदा करती है।

यौवन कर्मठताकी मूर्ति है। इस अवस्था में मनुष्य उत्साह और उमंगों से भरा रहता है। विपत्तियों को वह मुसकरा कर देखता है, असंभव शब्दका अर्थ ही नहीं समझता, जो काम सामने आ जाय उसी के ऊपर टूट पड़ता है, इस प्रकार कर्ममयता यौवन की विशेषता है।

वार्द्धक्य की विशेषता है ज्ञान-अनुभव-दूरदर्शिता। इस अवस्था में मनुष्य अनुभवों का भंडार हो जाता है. इसलिये उसमें विचारकता और गंभीरता बढ़ जाती है। वह जल्दी ही किसी प्रवाह में नहीं बहजाता। इस प्रकार इन तीनों अवस्थाओं की विशेषताएँ हैं। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि एक अवस्था में दूसरी अवस्था की विशेषता बिलकुल नहीं पाई जाती। यदि ऐसा हो जाय तो जीवन जीवन न रहे। इसलिये बालकों में भी कर्मठता और विचार होता है, युवकों में भी विनोद और विचार होता हैं, वृद्धों में भी विनोद और कर्मठता होती है। इसलिये उन अवस्थाओं में जीवन रहता है। परन्तु जिन जीवनों में इन तीनों का अधिक से अधिक सम्मिश्रण और समन्वय होता है वे ही जीवन पूर्ण हैं। धन्य हैं।

बहुत से लोग किसी एकमें ही अपने जीवन की सार्थकता समझ लेते हैं बहुतों का नम्बर दो तक पहुँचता है परन्तु तीन तक बहुत कम पहुँचते हैं। अगर इस दृष्टि से जीवनों का श्रेणी-विभाग किया जाय तो उसके आठ भेद होंगे:--

१ गर्भजीवन, २ बालजीवन, ३ युवाजीवन, ४ वृद्धजीवन, ५ बालयुवाजीवन, ६ बालवृद्ध-जीवन, ७ युवावृद्धजीवन, ८ बालयुवावृद्ध जीवन। दूसरे नामों में इसे यों कहेंगे:—१ जड़, २ आनंदी, ३ कर्मठ, ४ विचारक, ५ आनंदी-कर्मठ ६ आनंदी-विचारक, ७ विचारक, ८ आनंदी-कर्मठ-विचारक।

१ जड़--जिसके जीवन में न आनन्द है न विचार, न कर्म, वह एक तरह का पशु है या जड़ है।

२ आनंदी-अधिकांश मनुष्य या प्रायः सभी मनुष्य इसी प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहते हैं परन्तु उनमें से अधिकांश इसमें असफल रहते हैं। असफलता तो स्वाभाविक ही है क्योंकि

प्रकृतिकी रचना ही ऐसी है कि अधिकांश मनुष्य इस प्रकार एकांगी जीवन व्यतीत कर ही नहीं सकते। आनन्द के लिये विचार और कर्मका सहयोग अनिवार्य है। थोड़े बहुत समय तक कुछ लोग यह बालजीवन व्यतीत कर लेते हैं परन्तु कई तरह से उनके इस जीवन का अन्त हो जाता है। एक कारण तो यही है कि इस प्रकार के जीवन से जो लापर्वाही सी आ जाती है उससे जीवन-संग्राम में वे हार जाते हैं, दूसरे कर्मठ व्यक्ति उन्हें लूट लेते है। वाजिदअली शाह से लेकर हजारों उदाहरण इसके नमूने मिलेंगे। आज भी इस कारण से सैकडों श्रीमानों को उजड़ते हुए और उनके चालाक मुनीमों को या दोस्त कहलानेवालों को बनते हुए हम देख सकते हैं। इनके जीवन में जो एकान्त बालकता आ जाती है उसीका दुष्फल ये इन रूपों में भोगते हैं। इस जीवन के नाश का दूसरा कारण है प्रकृति-प्रकोप। ऐयाशी उनके शरीर को निर्बल से निर्बल बना देती है। ये लोग दूसरों से सेवा कराते कराते दूसरों को तो मारते ही हैं परन्तु स्वयं भी मरे जाते हैं इसके अतिरिक्त डाक्टर वैद्योंकी सेवा करते करते भी मरे जाते हैं। इस प्रकार इनका जीवन असफलता की सीमा पर जा पहुँचता है ये लोग दुनिया को भार के समान हैं।

इस तरह के लोग देखने में शान्त, किन्तु तीव्र स्वार्थी होने के कारण अत्यन्त क्रूर होत हैं।

३ **कर्मठ**–साध्य और साधनके भेदको भूलकर बहुत से लोग कर्म तो बहुत करते हैं परन्तु कर्म का लक्ष्य क्या है इसका उन्हें कभी विचार भी पैदा नहीं होता। जिस किसी तरह सम्पत्ति एकत्रित करते हैं परन्तु सम्पत्ति का उपयोग नहीं कर सकते। उनकी सम्पत्ति न तो दान में खर्च होती है न भोग में खर्च होती है। इस प्रकार सम्पत्ति का संग्रह करके वे दूसरों को कंगाल तो बनाते हैं परन्तु स्वयं कोई लाभ नहीं उठाते।

धन कोई स्वयं सुख या ध्येय नहीं है परन्तु सुख और ध्येय का साधनमात्र है। अगर धन से शान्ति न मिली, भोग न मिला, तो एक पशु-जीवन में और मानवजीवन में अन्तर क्या रहा? जिसने धन पाकर उससे यश और भोग न पाया, दुखियों का और समाजसेवकों का आशीर्वाद न लिया, उसकी सम्पत्ति उसके लिये भार ही है। मृत्यु के समय ऐसे लोगों को अनन्त पश्चात्ताप होता है। क्योंकि सम्पत्ति का एक अणु भी उन के साथ नहीं जाता। ऐसी हालत में उनकी अवस्था कोल्हू के बैल से भी बुरी होती है। कोल्हू का बैल दिन भर चक्कर लगाकर कुछ प्रगति नहीं कर पाता, फिर भी उसके चक्कर लगाने से दूसरे को कुछ न कुछ लाभ होता ही है। परन्तु ऐसे लोग न तो अपनी प्रगति कर पाते हैं न दूसरों की, अर्थात् न तो अपने जीवन को विकसित या समुन्नत बना पाते हैं न दुनिया को भी कुछ लाभ पहुंचा पाते हैं।

४ **विचारक**–कर्महीन विचारक जघन्य श्रेणी का न सही, किन्तु अकर्मण्य होने से समाजके लिये भारभूत है। इस श्रेणी में ऐसे भी बहुत से लोग आ जाते हैं जो समाज की दृष्टि में बहुत ऊंचे गिने जाते हैं। बहुत से साधु-वेषी इसी श्रेणी में हैं। विचार और विद्वत्ता एक साधन हैं। जो लोग सिर्फ साधन को पकड़ कर रह जाते हैं और साध्य को भूल जाते हैं उनका जीवन बिल्कुल अधूरा है। अनावश्यक कायक्लेश सहना और लोकहित से विरक्त रहना जीवन को निरुपयोगी बना लेना है।

५ आनन्दी-कर्मठ—बहुत से मनुष्य चतुर स्वार्थी होते हैं। वे कर्मशील होंगे मौज मजा भी खूब उड़ायेंगे लेकिन लोकहित की तरफ और सात्त्विक आनन्द की तरफ ध्यान न देंगे। ऐसे लोग लाखों करोड़ों की जायदाद एकत्रित करते हैं, अर्थोपार्जन के क्षेत्र में अपना सिंहासन ऊंचे से ऊंचा बना लेते हैं, परन्तु उस सिंहासन के नीचे कितने अस्थिपंजर दब रहे हैं—कराह रहे हैं इसकी पर्वाह नहीं करते। लौकिक व्यक्तित्वकी दृष्टि से ये कितने भी ऊंचे हों परन्तु जीवन की उच्चताकी दृष्टि से ये काफी नीचे स्तर में हैं।

विचारहीन होने के कारण इनकी कर्मठता केवल स्वार्थकी तरफ झुकी रहती है। सात्विक स्वार्थ को वे पहिचान ही नहीं पाते। दूसरों के स्वार्थ की इन्हें पर्वाह नहीं रहती बल्कि उनकी असुविधाओं, दुर्बलताओं तथा भोलेपन से अधिक से अधिक अनुचित लाभ उठालेने की घात में ये लोग रहते हैं इसलिये समर्थ होकर भी ये दुनियां के लिये भारभूत होते हैं। इस श्रेणी में अनेक साम्राज्य-संस्थापक, अनेक धन कुबेर आदि भी आ जाते हैं। इन लोगों की सफलता हजारों मनुष्यों की असफलता पर खड़ी होती है, इनका स्वार्थ हजारों मनुष्यों के निर्दोष स्वार्थों का भोग लगाता है, इनका अधिकार हजारों के जन्मसिद्ध अधिकारों को कुचल डालता है। इस श्रेणी का व्यक्ति जितना बड़ा होगा उतना ही भयंकर और अनिष्टकर होगा। दुनिया ऐसे जीवनों को सफल जीवन कहा करती है परन्तु मनुष्यता की दृष्टि से वास्तव में वे असफल जीवन हैं। इतिहास में इनका नाम एक जगह घेर सकता है परन्तु वह श्रद्धेय और वन्दनीय नहीं हो सकता।

६ आनन्दी विचारक—इस श्रेणी में प्रायः ऐसे लोगों का समावेश होता है जो विद्वान हैं, साधारणतः जिनका जीवन सदाचार पूर्ण है, पास में कुछ पैसा है इसलिये आराम से खाते हैं अथवा कुछ प्रतिष्ठा है, कुछ भक्त हैं उनकी सहायता से आराम करते हैं, परन्तु ऐसे कुछ काम नहीं करते जिससे समाज का कुछ हित हो अथवा अपनी जीविका ही चल सके। मानव समाज में ऐसे प्राणी बहुत ऊंची श्रेणी के समझे जाते हैं परन्तु वास्तव में इतनी ऊंची श्रेणी के होते नहीं हैं। प्रत्येक मनुष्य को जब तक उसमें कर्म करने की शक्ति है कर्म करने के लिये तैयार रहना चाहिये। कर्म कैसा हो इसका कोई विशेष रूप तो नहीं बताया जा सकता परन्तु यह कहा जा सकता है कि उससे समाज को कुछ लाभ पहुँचता हो। जब मनुष्य जीवित रहनेके साधन लेता है तब उसे कुछ देना भी चाहिये।

कोई यह कहे कि रुपया पैदा करके मैंने अपने पास रख लिया है उससे मैं अपना निर्वाह करता हूं मैं समाज से कुछ नहीं लेना चाहता तब निवृत्त होकर आरामसे दिन क्यों न गुजारूं?

परन्तु यहां वह भूलता है। किसी भी मनुष्य को संग्रह करने लायक सम्पत्ति लेने का कोई अधिकार नहीं है। अगर परिस्थितिवश उसकी सेवाका बाज़ार में मूल्य अधिक है तो उस के बदले में वह अधिक सेवा दूसरों से लेले, परन्तु जीवनोपयोगी साधनों का अथवा उसके प्रतिनिधिरूप सिक्कों आदि का संग्रह करने का उसे कोई अधिकार नहीं है। अधिक रुपया लेता है तो उसे किसी न किसी रूप में खर्च कर देना चाहिये। हां, योग्य स्थान में खर्च करने के लिये कुछ समय तक संग्रहीत रहे तो बात दूसरी

है अथवा उस समय के लिये संग्रह करे जब बदला लिये बिना समाज की सेवा करना हो तो भी वह संग्रह उचित है, अथवा वृद्धावस्था आदि के लिये संग्रह करे जब अर्थोपयोगी सेवा के लिये मनुष्य अक्षम हो जाता है तब भी संग्रह क्षम्य है । ऐसे अपवादों को छोड़कर मनुष्य को अर्थसंग्रह नहीं करना चाहिये । आराम करने का तो मनुष्य को अधिकार है परन्तु वह कर्म के साथ होना चाहिये । इसलिये जो मनुष्य होकर के भी और कर्म करने की शक्ति रख करके भी कर्म नहीं करता है वह अधूरा आदमी है और ऐसा अधूरा है जिसे टोका जा सकता है जिस पर आक्षेप किया जा सकता है ।

जो लोग कर्म की शक्ति रखते हुए भी कर्म-हीन सन्यास ले बैठते हैं, बाह्य तपस्याओं में-जिनसे अपने को और समाज को लाभ नहीं--अपनी शक्ति लगाते हैं, वे इसी श्रेणी में आते हैं । अथवा इस प्रकार के निरुपयोगी जीवन को उनने अगर दुःखमय बना लिया है तो उनकी श्रेणी और भी नीची होजाती है वे एकान्त विचारक की श्रेणी में (जिसका वर्णन नं. ४ में किया गया है) गिर-जाते हैं । ऐसे मनुष्य योगी सिद्ध महात्मा आदि कहलाने पर भी जीवन के लिये आदर्श नहीं हो सकते । उनकी कर्महीनता निर्बलता का परिणाम है, परिस्थिति विशेष में वह लक्ष्य भले ही हो सके परन्तु आदर्श नहीं ।

७ कर्मठ विचारक--यह उत्तम श्रेणी का मनुष्य है । जो ज्ञानी भी है और कर्मशील भी है, वह आत्मोद्धार भी करता है और जगदुद्धार भी करता है । परन्तु इसके जीवन में एक तरह से काम का अभाव रहता है । इस श्रेणी का व्यक्ति कभी कभी भ्रम में भी पड़ जाता है, वह दुःख को धर्म समझने लगता है । यह बात ठीक है कि समाजसेवा के लिये तथा आत्मविकास के लिये अगर कष्ट सहना पड़े तो अवश्य सहना चाहिये । परन्तु कष्ट उपादेय नहीं है । निरर्थक कष्टों को निमन्त्रण देना उचित नहीं है ।

जनता में एक भ्रम चिरकाल से चला आता है । वह कष्ट को और धर्म को सहचर समझ लेती है, कष्ट की कमीको धर्मकी कमी समझ लेती है इसलिये कष्टकी वृद्धि को धर्मकी वृद्धि मानती है । जहां कष्ट में और धर्म में कार्य-कारण-भाव होता है वहां तो ठीक भी कहा जा सकता है परन्तु जहां कष्ट का कोई साध्य ही नहीं होता है वहां भी जनता दोनों का सम्बन्ध जोड़ लेती है । जैसे कोई आदमी किसी की सेवा करने के लिये जागरण करे भूख प्यास के कष्ट सहे तो समझा जा सकता है कि उसका यह कष्ट परोपकार के लिये था इसलिये उसका सम्बन्ध धर्म से था, परन्तु जहां कष्टका साध्य परोपकार आदि न हो वहां भी ऐसा समझ बैठना भूल है ।

अमुक मनुष्य ठंड में बाहर पड़ा रहता है और धूपमें खड़ा रहता है इसलिये बड़ा धर्मात्मा है, ऐसे ऐसे भ्रमों में पड़कर जनता दंभियों की खूब पूजा करती है और दंभियों की सृष्टि करती है । अमुक मनुष्य ब्रम्हचारी है अर्थात् विवाह नहीं करता इसीसे लोग उसे धर्मात्मा समझ लेंगे । वे यह नहीं सोचेंगे कि ब्रम्हचर्य से उसने कितनी शक्ति संचित की है ? कितना समय बचाया है और उस शक्ति तथा समय का समाज-सेवा के कार्य में कितना उपयोग किया है । एक आदमी विवाहित है इसीलिये छोटा है, लोग यह न सोचेंगे कि विवाहित जीवन से उसने

शक्तिको बढ़ाया है या घटाया है ! सेवा के क्षेत्र में वह कितना बढ़ा है ? एक आदमी मनहूसी से रहता है, उसके पास सात्विक विनोद भी नहीं है, बस, वह बड़ा त्यागी और महात्मा हैं। परन्तु दूसरा जोकि हँसमुख और प्रसन्न रहता है, अपने व्यवहार से दूसरे को प्रसन्न रखता है, निर्दोष क्रीड़ाओंसे वह सुखसृष्टि करता है तो वह छोटा है। जनता की अन्ध-कसौटी के ऐसे सैकड़ों दृष्टांत पेश किये जा सकते हैं जहां उसने नरक को धर्म और स्वर्ग को अधर्म समझ रक्खा है।

कर्मठविचारक श्रेणीके बहुत से लोग इस कसौटी पर ठीक उतरने के लिये जानबूझकर अपने जीवन को सुखहीन बनाते हैं। जिस आनन्द से दूसरे की कुछ हानि नहीं है ऐसे आनन्द का भी वे बहिष्कार करते रहते हैं इसलिये वे जनता में अपना स्थान ऊंचा बना लेते हैं परन्तु इससे सिर्फ व्यक्तित्व की विजय होती है जनता को आदर्श जीवन नहीं मिलता।

इस श्रेणी का मनुष्य सिपाही है सद्गृहस्थ नहीं। वह त्यागी है, समाज-सेवी है और वन्दनीय भी है परन्तु पूर्ण नहीं है—आदर्श नहीं है।

७ आनन्दी कर्मठ विचारक— यह आदर्श मनुष्य है, जिसमें संयम, समाज-सेवा और त्याग आदि होकर के भी जो दुनिया को सुखमय जीवन बिताने का आदेश, उपदेश आदि ही नहीं देता किन्तु स्वयं आदर्श उपस्थित करता है। वह अनावश्यक कष्टों को नहीं अपनाता, न आवश्यक कष्टों से मुँह छिपाता है। जनता की अन्धकसौटीकी उसे पर्वाह नहीं होती वह सिर्फ सेवा और सदाचार से आत्मोद्धार और जगदुद्धार करता है। उसका जीवन आडम्बर और आवरण से हीन होता है वह योगी है। वह बालक भी है, युवक भी है, वृद्ध भी है; हँसता भी है, खेलता भी है और डटकर काम भी करता है; गुरु भी है और दोस्त भी है; अमीर भी है फकीर भी है; भक्ति और प्रेम से गाता भी है, और दूसरों के दुःख में रोता भी है छोटी बड़ी सभी बातों की चिन्ता भी करता है परन्तु अपने मार्ग में असंदिग्ध होकर आगे बढ़ता भी जाता है, इस प्रकार सब रसों से परिपूर्ण है। उसके जीवन का अनुकरण समस्त विश्व कर सकता है। छोटा आदमी भी कर सकता है बड़ा आदमी भी कर सकता है फिर भी उससे जीवन के चक्र को कुछ धक्का नहीं पहुँचता। वह असाधारण है, पूर्ण है, पर लोगों की पहुँच से बाहर नहीं है, सुलभ है। वह भारी है परन्तु किसी के सिर का बोझ नहीं है।

ऐसे लोगों को कभी कभी दुनिया पहिचान नहीं पाती अथवा बहुत कम पहिचान पाती है। जिनके आँखें हैं उनके लिये वह सुन्दर चित्र है परन्तु अंधोंके लिये वह कागज़ का टुकड़ा है।

ऐसे महापुरुष सैकड़ों होगये हैं परन्तु दुनियाने उसे कागज़ का टुकड़ा कहकर, मामूली समझ कर भुला दिया है। परन्तु जो पहिचाने जा सके उनका उल्लेख आज भी किया जा सकता है। उन में म. राम, म. कृष्ण और म. मुहम्मदका नाम बिना किसी टीका टिप्पणी के लिया जा सकता है। इनमें उपर्युक्त सब गुण दिखाई देते हैं। ये सेवाके लिये बड़े से बड़े कष्ट भी सहसके हैं और एक सद्गृहस्थ के समान स्वाभाविक आनन्दमय जीवन भी व्यतीत कर सके हैं। ये लोग निःसंदेह आनन्दी-कर्मठ-विचारक श्रेणी के महापुरुष हैं।

म. बुद्ध, म. ईसा और म. महावीर के विषय में कुछ लोगों को संदेह हो सकता है कि इन्हें

सातवीं श्रेणी में रखना चाहिये या छट्ठी श्रेणी में ? ये महापुरुष किस श्रेणी के थे यह बात तो इतिहास का विषय है, परन्तु यह कहा जा सकता है कि जिसप्रकार का कर्ममय सन्यासी जीवन इन लोगों ने बिताया वैसा जीवन बिता करके मनुष्य सातवीं श्रेणी में शामिल किया जायगा ।

म. ईसा और म. बुद्ध के विषय में तो निःसंदेह रूपमें कहा जा सकता है कि ये सातवीं श्रेणी के थे । म. ईसा में जैसा बालक-प्रेम था उससे यह साफ़ कहा जा सकता है कि उनके जीवन में बालोचित हास्य-विनोद अवश्य था । जन-साधारण में मिश्रित हो जाने को वृत्ति से भी यही बात मालूम होती है ।

म. बुद्ध के मध्यम-मार्ग से तो यह बात सैद्धान्तिक रूपमें भी मालूम हो जाती है तथा बुद्धत्व प्राप्त होने के बाद जो उनने अनावश्यक तपस्याओं का त्याग कर दिया उससे विदित होता है कि म. बुद्ध निर्दोष आनन्द को पसन्द करते थे । बल्कि कभी कभी उनके शिष्यों को भी उनके आनन्दी जीवन पर कुछ असन्तोष सा उत्पन्न हो उठता था । निःसन्देह यह शिष्यों का अज्ञान था किन्तु इससे यह साफ़ मालूम होता है कि उनका जीवन आनन्दी-कर्मठ-विचारक था ।

म. महावीर के विषय में यह सन्देह कुछ बढ़ जाता है । इसका एक कारण तो यह है कि उनका इतिहास बहुत अधूरा मिलता है । उनकी चर्या, मिलने जुलने तथा वार्तालाप आदि के प्रसंग इतने कम उपलब्ध हैं कि किसी भी पाठकको जैनियों के इस प्रमाद पर रोष आयगा । जैन लोग म. महावीर को पूजने में जितने आगे रहे उतने आगे उन्हें न समझने में और भुलाने में भी रहे । फिर भी जो कुछ टूटीफूटी सामग्री उपलब्ध है उससे कहा जा सकता है कि उनका जीवन आनन्दी-कर्मठ-विचारक था । कूर्मापुत्र सरीखे गृहस्थ अर्हतों की कथा का निर्माण करके उनने इस नीतिका काफ़ी परिचय दिया है । साधना के समय में हम उनके जीवन में कठोर तपस्याएँ देखते हैं परन्तु अर्हन्त हो जाने के बाद उनके जीवन में अनावश्यक कष्टों को निमन्त्रण नहीं दिया गया । म. महावीर लोगों के घर जाते थे, स्त्रीपुरुषों से मिलते थे, वार्तालाप आदि में उनकी भाषा में कहीं कहीं उनके मुँहसे ऐसी बातें निकलती हैं जो अगर विनोद में न कहीं जाँयें तो उससे सुननेवाले को भक्ति के स्थान में क्षोभ पैदा हो सकता है, जैसा कि सद्दालपुत्र के वार्तालाप के प्रसंग में है । परन्तु वहां उसे भक्ति ही पैदा हुई है इससे यह साफ़ मालूम होता है कि उनके जीवन में काफ़ी विनोद भी होना चाहिये । श्रेणिक और चेलना में अगर झगड़ा होता है तो म. महावीर उसके बीच में पड़कर झगड़ा शान्त करा देते हैं । दाम्पत्य के बीच में खड़ा हो सकनेवाला व्यक्ति निर्दोष-रसिक अवश्य होना चाहिये । इसलिये म. महावीर का जीवन भी आनन्दी-कर्मठ-विचारक जीवन था ।

म. ईसा जो अविवाहित रहे और म. बुद्ध और म. महावीर ने जो दाम्पत्य का त्याग किया और अन्ततक चालू रक्खा इसका कारण यह नहीं था कि वे इस प्रकार के जीवन को नापसन्द करते थे, किन्तु यह था कि उस युग में परिव्राजक जीवन बिताने के साधन अत्यंत अल्प और संकीर्ण थे इसलिये तथा वातावरण बहुत विपरीत होने के कारण वे दाम्पत्य के साथ धर्म-संस्थापन का कार्य नहीं कर सकते थे ।

इस श्रेणी में रहनेवाले मनुष्यों का व्यक्तित्व छोटा हो या बड़ा, शक्ति कम हो या अधिक, परन्तु वह जगत के लिये उपादेय है ।

कर्तव्यजीवन

छः भेद

न्याय शास्त्रियोंने वस्तु की एक बड़ी अच्छी परिभाषा की है कि 'जो कर्म करे वह वस्तु' (अर्थक्रियाकारित्वं वस्तुनो लक्षणम्) इस प्रकार मनुष्य ही नहीं प्रत्येक वस्तुका स्वभाव है कि उसमें कुछ क्रिया हो। अगर वस्तुमें कोई विशेषता है तो उसकी क्रियामें भी कुछ विशेषता होना चाहिये। जड़ जगत के क्रियाकारित्व की अपेक्षा चेतन जगत का क्रियाकारित्व कुछ विशेषमात्रामें होगा। चेतन जगतमें भी जिस प्राणीका जितना अधिक विकास हुआ होगा उसका क्रियाकारित्व भी उतना ही उच्च श्रेणीका होगा। वस्तुका लघुत्व और महत्व उसकी क्रियाकारित्वशीलता पर निर्भर है।

मनुष्य प्राणी सब प्राणीयोंमें श्रेष्ठ है। प्राणियोंका लक्ष्य सुख है। अन्य प्राणी आत्म-सुख और पर-सुखके लिये सच्चा प्रयत्न नहीं के बराबर कर पाते हैं। सुख का स्रोत कितनी दूरसे किस प्रकार आता है इसका उन्हें पता नहीं होता जब कि मनुष्य इस विषय में काफी बढ़ा चढ़ा है। वह समझता है कि सारा संसार अगर नरकरूप हो जाय तो मैं अकेला स्वर्ग बनाकर नहीं रह सकता, इसलिये आत्म-सुख के साथ वह पर सुख के लिये भी पूरा प्रयत्न करता है। इस प्रकार उसकी दृष्टि सुख के सूक्ष्म और विस्तीर्ण स्रोतों तक पहुँचती है। जो मनुष्य आत्म-सुख और परसुख के लिये जितना अधिक सम्मिलित प्रयत्न करता है वह उतना ही अधिक महान है। जो अकर्मण्य है या कुकर्मण्य है उस में स्वभाव से ही कुछ न कुछ क्रिया होने से वस्तुत्व तो है परन्तु मनुष्योचित कर्तव्य न करने से मनुष्यत्व नहीं है। वह मनुष्याकार प्राणी है परन्तु मनुष्यत्ववान् मनुष्य नहीं है।

जगत में मनुष्याकार जन्तु बहुत हैं परन्तु मानव जीवन का लक्ष्य बहुत ही थोड़े प्राप्त कर पाते हैं। मनुष्यों का बहुभाग अकर्मण्यों से भरा हुआ है। विश्व हितैषी कर्मठ व्यक्ति बहुत थोड़े हैं परन्तु सच्चे मनुष्य वे ही हैं। इस वास्तविक कर्मठता की दृष्टि से मनुष्यजीवन छः भागों में विभक्त किया जा सकता है-इन भागों को कर्तव्य पद कहना चाहिये। १ प्रसुप्त, २ सुप्त, ३ जाग्रत, ४ उत्थित, ५ संलग्न, ६ योगी।

१ प्रसुप्त—प्राणियों का बहुभाग इसी श्रेणी में है। इस श्रेणी के लोग विचारशून्य होते हैं। पशुपक्षियों से लेकर अधिकांश मनुष्य तक इसी श्रेणी में हैं। इस श्रेणी के प्राणी नहीं समझते कि जीवन का ध्येय क्या है। सुख की लालसा तो रहती है किन्तु उसे प्राप्त करने की-उद्योग करने की-इच्छा या शक्ति नहीं रहती। दुःख आपड़े तो रोकर भोग लेंगे सुख आया तो उसमें फूल जाँयगे, भविष्य की चिन्ता न रहेगी। परोपकार का ध्यान न आयगा उनके सारे कार्य स्वार्थ-मूलक होंगे।

अनेक तरह की निद्राओं में एक ऐसी निद्रा भी होती है जिसमें मनुष्य सोते सोते अनेक काम कर जाता है। दौड़ जाता है, तैर जाता है और शक्ति के बाहर भी काम कर जाता है। इसे स्त्यानगृद्धि कहते हैं। इस प्रकार की निद्रावाले मनुष्य की तरह प्रसुप्त श्रेणी का मनुष्य भी कभी कभी कर्मठता दिखलाता है परन्तु उसमें विवेक तो होता ही नहीं है साथ ही साधारण विचा बुद्धि भी नहीं होती। जुवारी के दाव की तरह उसका पाँसा कभी औंधा तो कभी सीधा पड़

जाता है। ऐसे मनुष्य लाखों कमायेंगे, लाखों गमायेंगे पर यह सब क्यों करते हैं इसका उत्तर न पा सकेंगे। दानादि भी करेंगे तो बिलकुल विवेकशून्य होकर। बिना विचारे रूढ़ियों की पूजा करेंगे उनका अनुसरण करेंगे। ये लोग इसी लिये जिंदे रहते हैं कि मौत नहीं आती। बाकी जीवन का कुछ ध्येय इनके सामने नहीं होता।

जिस प्रकार प्राकृतिक जड़ शक्तियाँ कभी कभी प्रलय मचा देतीं हैं और कभी कभी सुभिक्ष कर देतीं हैं परन्तु इसमें उनका विवेक नहीं होता उसी तरह प्रसुप्त श्रेणीके लोग भी अच्छी या बुरी दिशा में विशाल कार्य कर जाते हैं। परन्तु यह सब स्त्यानगृद्धि सरीखे आवेग में कर जाते हैं। उसमें विवेक नहीं होता। इस श्रेणीके लोग संयमी का वेष ही क्यों न लेलें पर महान् असंयमी होते हैं। उत्तरदायित्व का भान भी नहीं होता। विश्वासघात इनके हृदय को खटकता भी नहीं है। विश्वासघात वञ्चकता इनकी दृष्टि में होशियार है। सन्ध्या, नमाज, पूजा, प्रार्थना करने में नहीं, उसका ढोंग करने में इनके धर्म की इतिश्री होजाती है। धर्म का सम्बन्ध नैतिकता से है यह बात इनकी समझके परे है। बड़े बड़े पापोंकी भी पापता इनकी समझ में स्वयं नहीं आती अगर कोई सुझाये तो 'ऊँह चलता ही है' कहकर उपेक्षा कर जाते हैं। यह इनकी अति-निद्रितता का परिणाम है।

२ सुप्त— प्रसुप्त श्रेणीके मनुष्यों की अपेक्षा इस की निद्रा कुछ हलकी होती है। इसका चैतन्य भीतर भीतर निरर्गल रूप में नृत्य करता रहता है किन्तु स्वप्न की तरह निष्फल होता है। इस श्रेणी के मनुष्य विद्वान और बुद्धिमान भी होसकते हैं। बड़े भारी पंडित, शास्त्री, वकील, प्रोफेसर, जज, धर्म समाज और राष्ट्रके नेता तक होसकते हैं फिर भी कर्तव्य मार्ग में सोते ही रहते हैं। दुनिया की नजरों में ये समझदार तो कहलाते हैं, प्रतिष्ठा भी पाजाते हैं परन्तु न तो इन में विवेक होता है न सात्विक आत्मसंतोष। ये सोचेंगे बहुत, परन्तु इनके विचार व्यापक न होंगे दृष्टि संकुचित रहेगी। काम भी करेंगे परन्तु स्वार्थ की उस व्यापक व्याख्या को न समझ सकेंगे, जिस के भीतर विश्वहित समा जाता है। थोड़ासा धक्का लगते ही इनका कार्य स्वप्न की तरह टूट जायगा और ये चौंक पड़ेंगे और कोई दूसरा स्वप्न लेने लगेंगे। स्वप्न की तरह इनके कार्य चञ्चल और निष्फल होते हैं।

इन्हें ज्ञान तो होता है पर सच्चा नहीं होता। फलाफल के विचार में इनकी दृष्टि दूर तक नहीं जाती। कोई सेवा करेंगे तो तुरन्त ही विशाल फल चाहेंगे। तुरन्त फल न मिला तो सेवा छोड़ बैठेंगे। अगर थोड़ा फल मिला तो भी उत्साह टूट जायगा और भागने की बात सोचने लगेंगे। बातों में खूब आगे रहेंगे परन्तु काम में पीछे। दूसरे को उपदेश देनेमें परम पंडित और स्वयं आचरण करने में पूरे कायर, और अपनी कायरता को छिपाने के प्रयत्न में काफ़ी तत्पर।

अपनी शक्ति का वास्तविक उपयोग कैसे करना इसका ज्ञान इन्हें नहीं होता या बातूनी ज्ञान होता है, विश्वास-प्राप्त सच्चा ज्ञान नहीं होता। अमुक तो करता नहीं है मैं क्यों करूं? लेक्चर तो दे आता हूँ फिर सेवा सहायता क्यों करूं! मुझे क्या गरज़ पड़ी है? मैं बड़ा आदमी हूं, मुझे मुफ्त में ही बड़प्पन और यश मिलना चाहिये। इस प्रकार की विचार धाराएँ इनके हृदय में उठा करतीं हैं जिनकी भँवरों में कर्मठता

फँसी रहती है। कभी कभी इनकी कर्मठता जाग्रत भी हो जाती है तो स्वार्थ के कारण वह विपरीत दिशा में जाती है। बड़े बड़े दिग्विजयी सम्राट प्रायः इस श्रेणी के होते हैं।

सुप्तावस्था मनुष्य की वह अवस्था है जब मनुष्य का पांडित्य तो जाग्रत हो जाता है पर विवेक जाग्रत नहीं होता। इसलिये उसमें सच्चा स्वार्थ-त्याग नहीं आ पाता और जहां स्वार्थ-त्याग नहीं है, वहां संयम नहीं हो सकता। इस प्रकार यह पंडित होने पर भी विवेक-हीन असंयमी प्राणी है।

३ **जाग्रत**--जीवन के वास्तविक विकास की यह प्रथम श्रेणी है। यहां मनुष्य का विवेक जाग्रत होता है, दृष्टि विशाल होती है; स्वप्न जगत को छोड़कर वह वास्तविक जगत में प्रवेश करता है। फिर भी इस में कर्मठता नहीं होती या नाममात्र की होती है। पुराने जो संस्कार पड़े हैं वे इतने प्रबल होते हैं कि जानते समझते हुए भी यह कर्तव्य नहीं कर पाता। इस के लिये इसे पश्चाताप भी होता है। सुप्तकी अपेक्षा इसमें यह विशेषता है कि यह अपने दोषों को और त्रुटियों को समझता है तथा स्वीकार करता है। उन्हें छुपाने की अनुचित चेष्टा नहीं करता। सुप्त श्रेणी का मनुष्य ऐसा विवेकी नहीं होता। वह अपनी त्रुटियों को गुण साबित करने की चेष्टा करेगा। कायरता को चतुराई या दूरंदेशी कहेगा इस प्रकार स्वयं धोखा खायगा या दूसरों को धोखा देगा। जब कि जाग्रत श्रेणी का मनुष्य ऐसा न करेगा।

वह मार्ग देखता है, मार्ग पर चलने की इच्छा भी करता है, पर अपनी शक्ति में पूर्ण विश्वास न होने से और संस्कारों से आई हुई स्वार्थ-वृत्तिकी कुछ प्रबलता होने से कर्तव्य में विरत सा रहता है। परन्तु इस में कषायों की प्रबलता नहीं रहती, अथवा वह प्रबलता नहीं रहती जैसी सामान्य मनुष्य में रहती है।

जाग्रत श्रेणी के मनुष्य के हृदय में एक प्रकार का असंतोष सदा रहना चाहिये। जिसे वह कर्तव्य समझता है उसे वह कर नहीं पाता इस बात का उसे असंतोष या खेद रहना आवश्यक है। अगर उसे यह संतोष आजाय कि मैं आखिर समझता तो हूं, नहीं कर पाता तो नहीं सही, जाग्रत श्रेणी का तो कहलाता हूं यही क्या कम है, इस प्रकार का संतोष आत्मवञ्चकता और परवञ्चकता का सूचक है। ऐसी हालत में वह जाग्रत श्रेणी का न रहेगा सुप्त श्रेणी में चला जायगा।

जाग्रत श्रेणी का मनुष्य कर्तव्य की प्रेरणा होने पर इस तरह का बहाना कभी न बनायगा कि मैं तो जाग्रत श्रेणी का मनुष्य हूं कर्तव्य करना मेरे लिये अनिवार्य नहीं है। वह कर्तव्य को लालचकी दृष्टि से देखेगा और उसे पकड़ने का प्रयत्न करेगा। अधिक कुछ न बनेगा तो यथाशक्ति दान देगा। जो मनुष्य सचमुच जाग्रत है वह उत्थित होने की कोशिश करता ही है।

बहुत से मनुष्य यह सोचा करते हैं कि मैं अपना अमुक कार्य करलूं फिर जनसेवाके लिये यों करूंगा और त्यों करूंगा। वे जीवन भर यह सोचते ही रहते हैं पर उनका अमुक काम पूरा नहीं हो पाता और उनका जीवन समाप्त हो जाता है। यह ठीक है कि मनुष्य को परिस्थिति का विचार करना पड़ता है, साधन जुटाने पड़ते हैं, पहिले अपने पैरोंपर खड़ा हो जाना पड़ता है पर साथ ही यह भी ठीक है कि ज्यों ज्यों उसका

अमुक काम पूर्णता की ओर बढ़ता जाता है त्यों त्यों वह जनसेवा संबंधी कर्तव्य मार्ग में भी बढ़ता जाता है। जबतक उसका स्वार्थ पूरा न हो जाय तबतक वह कर्तव्य का योग्य मात्रा में श्रीगणेश ही न करे तो ये जाग्रत श्रेणी के मनुष्य के चिह्न नहीं हैं किन्तु सुप्त श्रेणी के चिह्न हैं। जाग्रत श्रेणी का मनुष्य 'न नव मन तेल होय न राधा नाचे' की कहावत चरितार्थ नहीं करता। वह ज्यों ज्यों साधन बढ़ते जाते हैं त्यों त्यों कर्तव्य में भी बढ़ता जाता है। और इस प्रकार बहुत ही शीघ्र उत्थित श्रेणी में पहुँच जाता है। और फिर संलग्न बन जाता है।

बाट देखने की जिनको बीमारी हो गई है वे जीवन के अंत तक कुछ काम नहीं कर पाते। क्यों कि उनका अमुक काम जबतक पूरा होता है तबतक जीवन के वे दिन निकल जाते हैं जिन दिनों कुछ करने का उत्साह रहता है। विघ्न बाधाओं का सामना करने की कुछ ताकत रहती है। अमुक काम पूरा करते तक उन में बुढ़ापा आजाता है, फिर 'गई बहुत, रही थोड़ी' की बात याद आने लगती है। इस समय किसी सेवा का कार्य शुरू करना और जीवन भर जो आदत पड़ी रही है उसके विपरीत चलना कठिन होता है। जो जाग्रत श्रेणी का मनुष्य है उसमें यह बाट देखने की बीमारी न होगी। वह अपनी शक्ति को जल्दी से जल्दी उपयोग में लाना चाहेगा।

सोता हुआ मनुष्य यदि जाग पड़े तो वह अवश्य उठने की चेष्टा करेगा। अगर उठने के लिये उसका प्रयत्न बन्द हो गया हो तो समझना चाहिये कि वास्तव में वह जागा ही नहीं है। इसी प्रकार यहाँ पर भी जाग्रत श्रेणी का मनुष्य उठने का अगर प्रयत्न न करे तो समझ लेना चाहिये कि वह जाग्रत नहीं है।

४ उत्थित—जो मनुष्य वास्तविक कर्मठ है, जनसेवा के मार्ग में आगे बढ़ा है, जनसेवा जिसके जीवन की आवश्यकता बन गई है वह उत्थित है। इसके पुराने संस्कार इतने प्रबल नहीं होते और न स्वार्थ-वासना इतनी प्रबल होती है कि उसके लिये यह कर्तव्य पर सर्वथा उपेक्षा कर सके। जनसेवा के लिये यह पूर्ण त्याग नहीं करता परन्तु मर्यादित त्याग अवश्य करता है। सेवा के क्षेत्र में वह महाव्रती नहीं है पर देशव्रती अवश्य है। जन-सेवक होने से उसमें सदाचार भी आगया है। क्योंकि जो मनुष्य सदाचारी न हो वह सच्चा जनसेवक नहीं बन सकता। इस प्रकार इस में पर्याप्त मात्रा में सदाचार भी है, त्याग भी है, निर्भयता भी है। जीवन के क्षेत्र में यही इसका उत्थान है।

जाग्रत श्रेणी का मनुष्य अपनी त्रुटियोंको समझता भी था स्वीकार भी करता था परन्तु उन्हें यथेष्ट मात्रा में दूर नहीं कर पाता था। जब कि यह दूर कर पाता है। यह जाग्रत श्रेणी के मनुष्य की तरह दानादि तो करेगा पर उतने में ही इसके कर्तव्य की इतिश्री न हो जायगी किन्तु वह निर्भयतासे सेवा के क्षेत्रमें आगे बढ़ेगा।

५ संलग्न—यह साधु है। यह अधिक से अधिक देकर कम से कम लेता है। पूर्ण सदाचारी है। जनहित के सामने इसके ऐहिक स्वार्थ गौण हो गये हैं। यह अनावश्यक कष्ट नहीं सहता पर जनहित के लिये यथेष्ट कष्ट सहने के लिये तैयार रहता है। अपरिग्रही होता है। स्वार्थ के लिये धन-संचय इसका लक्ष्य नहीं होता। जनसेवा के लिये इसका संचय होता है।

यह साधु है। परिस्थिति के अनुसार परिव्राजक हो सकता है, स्थिरवासी हो सकता है, सन्यासवेषी हो सकता है, गृहस्थवेषी हो सकता है, दाम्पत्य जीवन बिता सकता है, ब्रह्मचारी रह सकता है। वेष, आश्रम, स्थान का कोई नियम नहीं है। त्याग, निर्भयता, सदाचार, अपरिग्रहता और निस्वार्थता की यह मूर्ति होता है।

किसी दिन मानव- समाज का अमर सुवर्ण-युग आया तो मानव-समाज ऐसे साधुओं से भर जायगा। उस समय शासन-तंत्र नाम के लिये रहेगा। उसकी आवश्यकता मिट जायगी। असंयम और स्वार्थिता ढूंढ़े न मिलेगी।

संलग्न श्रेणी का मनुष्य पापका अवसर आने पर भी पाप नहीं करता। बड़े बड़े प्रलोभनों को भी दूर कर देता है। उसके ऊपर शासन करने की आवश्यकता नहीं होती। अगर उसका कोई गुरु हो तो वह गुरु के शासन में रहता है परन्तु इस के लिये उसे कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उसकी साधुता स्वभाव से ही उसे शासन के बाहर नहीं जाने देती। पथ-पदर्शन के लिये वह सूचना ग्रहण करता है परन्तु उसमें असंयम नहीं होता। कदाचित् अज्ञान सम्भव है—पर असंयम नहीं।

६ **योगी**—योगी अर्थात् कर्मयोगी। जीवन का यह आदर्श है। सदाचार, त्याग, निःस्वार्थता इसमें कूट कूट कर भरी रहती है। यह विपत्ति और प्रलोभनों से परे है। संलग्न श्रेणी का मनुष्य विपत्ति से ठिठकसा जाता है। अपयश से घबरा सा जाता है। पर योगी के सामने यह परिस्थिति नहीं आती। वह यश अपयश मानापमान की कोई पर्वाह नहीं करता। फलाफल की भी पर्वाह नहीं करता किन्तु कर्तव्य किये चला जाता है। असफलता भी उसे निराश नहीं कर सकती। वह घर में हो या वन में हो गृहस्थ हो या सन्यासी हो पर परमसाधु है, स्थितिप्रज्ञ है, अर्हन्त है, जिन है, जीवन्मुक्त है, वीतराग है, आप्त है। कोई उसे पहिचाने या न पहिचाने इसकी वह पर्वाह नहीं करता।

उपायों साधनों और परिस्थितियों पर वह विचार करता है इसलिये उसे सविकल्प कह सकते हैं, परन्तु कर्तव्य मार्ग में दृढ़ रहने की दृष्टि से वह निर्विकल्प है। शंका और अविश्वास उसके पास नहीं फटकने पाते। सत्य और अहिंसा के सिवाय वह किसी की पर्वाह नहीं करता। जनहित की पर्वाह करता है किन्तु वह सत्य अहिंसा की पर्वाह में आजाती है। यह जीवन की परमोत्कृष्ट दशा है। जब समाज ऐसे योगियों से भर जायगा तब वह हीरक युग होगा।

कर्तव्य मार्ग में कर्मठता ही मनुष्यता की कसौटी है इस दृष्टि से यहाँ छः पद बनाये गये हैं। जिस समय मनुष्य-समाज प्रसुप्त श्रेणी के मनुष्यों से भरा रहता है उस युग को मनुष्य का मृत्तिका युग (मिट्टी युग) कहना चाहिये। जब समाज सुप्तोंसे भरा रहता है तब उसे उपल युग या पत्थर युग कहना चाहिये। जब मनुष्य समाज जाग्रतों से भर जायगा तब उसे धातु-युग कहेंगे और जब उत्थित श्रेणी के मनुष्यों से भर जायगा तब उसे रजत युग कहेंगे। जब संलग्न श्रेणी के मनुष्यों से भर जायगा तब सुवर्ण युग कहेंगे और जब योगियों से मानव समाज भरा हुआ होगा तब वह हीरक युग कहलायगा। विकास की यह चरम सीमा है। यही वैकुण्ठ है, मुक्ति है।

भौतिक दृष्टि से मनुष्य किसी भी युग में में आगया हो परन्तु आत्मिक दृष्टि से मनुष्य अभी पत्थर युग में या मिट्टी युग में से गुजर रहा है। हाँ, संज्जनों की संख्या भी है और योगी भी हैं परन्तु इतनी सी संख्या से सुवर्ण युग हीरक युग नहीं आजाता इसके लिये उनकी बहुलता चाहिये। वह कब आयगा कह नहीं सकते पर उस दिशा में हम जितने ही आगे बढ़ें कर्तव्य-पदों पर चढ़ने की हम जितनी अधिक कोशिश करें उतना ही अधिक हमारा कल्याण है।

अर्थजीवन

छः भेद

यद्यपि समस्त प्राणी सुखार्थी हैं परन्तु दूसरों की पर्वाह न करके केवल अपने सुखके लिये हाय हाय करने से कोई सुखी नहीं होपाता इसलिये अधिक से अधिक स्वपर कल्याण ही जीवन का ध्येय है। यह बात ध्येयदृष्टि अध्याय में विस्तार से बताई जाचुकी है। इस स्वार्थ परार्थ की दृष्टिसे जो जीवन अधिक से अधिक स्वपर-कल्याणकारी होगा वह जीवन उतना ही महान है। इस अपेक्षा से जीवन की छः श्रेणियाँ बनती हैं— १— व्यर्थस्वार्थान्ध २— स्वार्थान्ध ३— स्वार्थप्रधान ४— समस्वार्थी ५— परार्थप्रधान ६— विश्वहितार्थी।

इन में पहिले दो जघन्य, बीच के दो मध्यम और अंत के दो उत्तम श्रेणी के हैं।

१— व्यर्थस्वार्थान्ध— जिस स्वार्थ का वास्तव में कोई अर्थ नहीं है ऐसे स्वार्थ के लिये जो अन्धे होकर पाप करने को उतारू होजाते हैं वे व्यर्थस्वार्थान्ध हैं। शेर के आगे मनुष्य को छोड़कर उस मनुष्य की मौत देखकर प्रसन्न होना व्यर्थस्वार्थान्धता है। पहिले कुछ उच्छृंखल राजा लोग ऐसे व्यर्थस्वार्थान्ध हुआ करते थे। आज भी नाना रूप में यह व्यर्थस्वार्थान्धता पाई जाती है। जिसमें किसी इन्द्रिय को तृप्ति नहीं मिलती सिर्फ मन की क्रूरता ही तृप्त होती है वह व्यर्थ-स्वार्थान्धता है।

प्रश्न— जब लोग दूसरों का मजाक उड़ाते हैं तब इससे उनका कोई लाभ तो होता ही नहीं है इसलिये यह व्यर्थस्वार्थान्धता कहलाई। और मजाक करनेवाले व्यर्थस्वार्थान्ध कहलाये। इसलिये जीवन में हास्य विनोद को कोई स्थान ही न रहा।

उत्तर— हँसी चार तरह की होती है १ सुप्रीतिका २ शैक्षणिकी, ३ विरोधिनी ४ रौद्रिणी। जिस हँसी में सिर्फ प्रेम का प्रदर्शन किया जाता है जिस में द्वेष अभिमान आदि प्रगट नहीं होते वह सुप्रीतिका है। इसका ध्येय मनो-विनोद और प्रेमप्रदर्शन है। इसमें जिसकी हँसी की जाती है वह भी खुश होता है और जो हँसी करता है वह भी खुश होता है।

जो हँसी किसीकी भूल बताकर उसका सुधार करने की नियत से की जाती है वह शैक्षणिकी है। जैसे किसी शिकारी से कहाजाय कि भाई तुम तो जानवरों के महाराजा हो। शेर से सब जानवर डरते हैं इसलिये वह जानवरों का राजा है तुम से शेर भी डरता है इसलिये तुम जानवरों के महाराजा हो। क्यों जी, तुम्हें अब पशुपति कहाजाय ! इस हँसी में द्वेष नहीं है किन्तु शिकारी को शिकार से छुड़ाने की भावना है। यह शैक्षणिकी है।

जिस हँसी में विरोध प्रगट किया जाता है वह विरोधिनी है। शैक्षणिकी में सुप्रीतिका

बराबर तो नहीं, फिर भी कुछ प्रेम का अंश रहता है, परन्तु विरोधिनी में उतना अंश नहीं रहता उसमें सिर्फ विरोध प्रगट करने, या उस की गलती के लिये शाब्दिक दंड देने की भावना रहती है। शैक्षणिकी की अपेक्षा विरोधिनी में कुछ कठोरता अधिक है। जैसे म. ईसा को क्रास पर लटकाते समय काँटों का मुकुट पहनाकर हँसी की गई कि आप तो शाहंशाह हैं। किसी शत्रु को तोप से उड़ाते समय कहना— चलो, तुम्हें आकाश की सैर करादें। ये विरोधिनी हँसीके उग्र दृष्टान्त हैं। पर साधारण जीवनमें भी विरोधिनी हँसी के साधारण दृष्टान्त मिलते हैं।

रौद्रिणी हँसी वहीं है कि जहाँ अपना कोई स्वार्थ नहीं है, उससे विरोध भी नहीं है, उसका लाभ भी नहीं है, सिर्फ मनोविनोद के नामपर दूसरे के मर्मस्थल को चोट पहुँचाई जाती है, उसका दिल दुखाया जाता है। इसका एक दृष्टान्त, जिस समय ये पंक्तियाँ लिखी जा रहीं थीं उसी समय मिला। सत्याश्रम की इमारत के काममें कुछ मजदूरिनें काम कर रहीं थीं उनके पास एक आदमी आया और पूछने लगा कि क्या यहाँ कुछ काम मिलेगा। काम यहाँ नहीं था पर सीधा जबाब न देकर वे उस की हँसी उड़ाने लगीं— क्यों न मिलेगा? तुम्हें न मिलेगा तो किसे मिलेगा! प्रेसमें काम करो, अच्छा पगार मिलेगा, आदि। इस हँसी में व्यर्थ ही एक गरीब के मर्मस्थल को चोट पहुँचाई गई। इस प्रकार की हँसी साधारण लोगों के जीवन में बहुत होती है पर यह अनुचित है। साइकिल आदि से गिरने पर भी दर्शक लोग हँसी उड़ाने लगते है, दैवी विपत्ति से भी लोग हँसी उड़ाने लगते हैं अन्य विपत्ति आनेपर भी लोग हँसी उड़ाने लगते हैं, यह सब रौद्रिणी हँसी है। हँसी ऐसी होना चाहिये जिससे दोनों का दिल खुश हो। जीवन में हँसी की जरूरत है जिस के जीवन में हँसी नहीं है वह मनहूस जीवन किसी काम का नहीं, पर हँसी सुप्रीतिका होना चाहिये। आवश्यकतावश शैक्षणिकी और विरोधिनी भी हो सकती है पर रौद्रिणी कभी नहीं होना चाहिये। इससे व्यर्थस्वार्थान्धता प्रगट होती है।

प्रश्न— हंसी सुप्रीतिका ही क्यों न हो उस में कुछ न कुछ चोट तो पहुँचाई ही जाती है, तब हँसी-मजाक जीवन का एक आवश्यक अंग क्यों समझा जाय? एक कहावत है 'रोग की जड़ खाँसी, लड़ाई की जड़ हाँसी' इसलिये हँसी तो हर हालत में त्याज्य ही है।

उत्तर— हँसी प्रसन्नता का चिन्ह और प्रसन्नता का कारण है, साथ ही इससे मनुष्य दुःख भी भूलता है इसलिये जीवन में इसकी काफ़ी आवश्यकता है। हाँ, हँसी में चोट अवश्य पहुँचती है पर उससे दर्द नहीं मालूम होता बल्कि आनन्द आता है। जब हम किसी को शाबासी देने के लिये उसकी पीठ थपथपाते हैं तब भी उसकी पीठ पर कुछ चोट तो होती है पर उस मे दर्द नहीं होता, इसी प्रकार सुप्रीतिका हँसी की चोट भी होती है। हँसी लड़ाई की भी जड़ है किन्तु लड़ाई तभी होती है जब वह विरोधिनी या रौद्रिणी हो। शैक्षणिकी हँसी भी लड़ाई की जड़ हो जाती है जब पात्रापात्र का विचार न किया जाय। हमने किसी को सुधारने की दृष्टि से हँसी की, किन्तु उसको इससे अपना अपमान मालूम हुआ तो लड़ाई हो जायगी। इसलिये शैक्षणिकी हँसी करते समय भी पात्र अपात्र का और मर्यादा का विचार न भूलना चाहिये। सुप्रीतिका हँसी में भी इन बातों का विचार करना

जरूरी है। हँसी प्रायः बराबरी वालों के साथ या छोटों के साथ की जाती है। जिनके साथ अपना सम्बन्ध आदर पूजा का हो उनके साथ हँसी परिमित और अत्यन्त विवेक पूर्ण होना चाहिये। जिसकी प्रकृति हँसी सहसके हँसी का आदर करे उसके साथ हँसी करना चाहिये सब के साथ नहीं। हँसी भी एक कला है और बहुत सुन्दर कला है पर इसके दिखाने के लिये बहुत योग्यता मनोवैज्ञानिककता और हृदय-शुद्धि की आवश्यकता है। इस प्रकार कलावान होकर जो हँसी करता है वह व्यर्थस्वार्थान्ध से बिलकुल उल्टा अर्थात् विश्वहितार्थी है।

२ स्वार्थान्ध— जो अपने स्वार्थ के लिये दूसरों के न्यायोचित स्वार्थ की भी पर्वाह नहीं करते वे स्वार्थांध हैं। चोर बदमाश मिथ्याभाषी विश्वासघातक हिंसक आदि सब स्वार्थान्ध हैं। जगत के अधिकांश प्राणी स्वार्थान्ध ही होते हैं। स्वार्थान्धता ही सकल पापों की जड़ है।

प्रश्न— व्यर्थस्वार्थान्ध और स्वार्थान्ध में अधिक पापी कौन है?

उत्तर— जगत में व्यर्थ स्वार्थान्धता की अपेक्षा स्वार्थान्धता ही अधिक है, पर विकास की दृष्टिसे व्यर्थस्वार्थान्धता निम्न श्रेणी की है इसमें असंयम या पाप की मात्रा भी अधिक है। व्यर्थ-स्वार्थान्धता स्वार्थान्धता की अपेक्षा अधिक भयंकर है। स्वार्थान्धकी गतिविधि से परिचित होना जितना कठिन है उससे कई गुणा कठिन व्यर्थ-स्वार्थान्ध की गतिविधि से परिचित होना है।

प्रश्न— टोना टोटका अपशकुन आदि करनेवाले स्वार्थान्ध हैं या अन्धस्वार्थान्ध? अपशकुन आदि निष्फल होनेसे यहाँ व्यर्थस्वार्थान्धता ही मानना चाहिये।

उत्तर—यह स्वार्थान्धता ही है क्योंकि ये काम किसी ऐसे स्वार्थ के लिये किये जाते हैं जिसे व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। भले ही उस से सफलता न मिलती हो। इससे मूढ़ता या अज्ञान का विशेष परिचय मिलता है असंयम तो स्वार्थान्ध बराबर ही है। व्यर्थस्वार्थान्ध अधिक असंयमी है।

स्वार्थान्ध और व्यर्थस्वार्थान्ध पूर्ण असंयमी और मूढ़ होते हैं वे भविष्य के विषय में भी कुछ सोच विचार नहीं करते अपनी स्वार्थान्धता के कारण मानव समाज का सर्वनाश तक किया करते हैं भले ही इसमें उनका भी सर्वनाश क्यों न हो जाय।

स्वार्थान्धता व्यक्तिगतरूप रूप में भी होती है और सामूहिक रूप में भी होती है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर जब अत्याचार या अन्याय करता है तब सामूहिक स्वार्थान्धता होती है। दुनिया में अभी तक अधिकांश राष्ट्र और अधि-कांश जातियों में ऐसी स्वार्थान्धता भरी हुई है। इसीलिये यह जगत् नरक के समान बना हुआ है। इससे बारी बारी से सभी व्यक्तियों सभी जातियों और सभी राष्ट्रों को पाप का फल भोगना पड़ रहा है।

३ स्वार्थ प्रधान--स्वार्थ प्रधान वे व्यक्ति हैं जो स्वार्थ की रक्षा करते हुए कुछ परोपकार के कार्य भी कर जाते हैं। ऐसे लोग दुनिया की भलाई की दृष्टि से दान या सेवा न करेंगे किन्तु उस में यश मिलता होगा, पूजा मिलती होगी, तो दान करेंगे। स्वार्थ और परार्थ में परस्पर विरोध उपस्थित हो तो परार्थ को तिलांजलि देकर स्वार्थ की ही रक्षा करेंगे। परोपकार सिर्फ वहीं करेंगे जहां स्वार्थ को धक्का न लगता हो या जितना

धक्का लगता हो उसकी कसर किसी दूसरे ढंगसे निकल आती हो। एक तरह से ये हैं तो स्वार्थान्ध ही, पर अन्तर इतना ही है कि जहां स्वार्थान्ध परोपकार की बिलकुल पर्वाह नहीं करता वहां स्वार्थप्रधान व्यक्ति कुछ खयाल रखता है। अपना कुछ नुकसान न हो और परोपकारी बनने का गौरव मिलता हो तो क्या बुराई है ? यही इन की विचार धारा रहती है बड़े बड़े दानवीरो और जनसेवकों में से भी बहुत कम इस श्रेणी के ऊपर उठ पाते हैं। ये लोग स्वार्थ के लिये अन्याय भी कर सकते हैं।

४ समस्वार्थी– जिनका स्वार्थ और परार्थ का पलड़ा बराबर है वे समस्वार्थी हैं। ये त्यागी नहीं होते दानी होते हैं पर अपने स्वार्थ का खयाल बराबर रखते हैं। फिर भी स्वार्थप्रधान की अपेक्षा ये काफी ऊँच हैं क्योंकि भले ही इनके जीवन में परोपकार की मुख्यता न हो पर इतनी बात अवश्य है कि ये स्वार्थ के लिये किसी पर अन्याय न करेंगे। ये भले के लिये भले, और बुरे के लिये बुरे बनेंगे, पर भले के लिये बुरे न बनेंगे। स्वार्थप्रधान से इनमें यह बड़ा भारी अन्तर है। बाकी ये स्वार्थप्रधान के समान हैं।

५ परार्थप्रधान-- ये स्वार्थ की अपेक्षा परोपकार को प्रधानता देते हैं। जगत की सेवा के लिये सर्वस्वका त्याग कर जाते हैं यश अपयश की भी पर्वाह नहीं करते। पर इस के बदलेमें वे इस जन्म में नहीं तो परलोक में कुछ चाहते हैं। स्वर्ग आदि की आशा ईश्वर या खुदा का दर्बार इन की नजरों में रहता है। ये परोपकारी हैं जिनका परोपकार करते हैं उन से बदला भी नहीं चाहते, यह बात समस्वार्थी में नहीं होती, पर परलोक आदि का अवलम्बन न हो तो इनका परोपकार खड़ा नहीं रह सकता। ये सिर्फ सत्य या विश्वहित के भरोसे अपना परोपकारी जीवन खड़ा नहीं कर सकते। कोई न कोई तर्कहीन बात इनकी श्रद्धा का सहारा होती है। विश्वहित का मौलिक आधार इनका कमजोर होता है जिसे ये श्रद्धासे जकड़कर रखते हैं। बाकी जहाँ तक संयम त्याग आदि का सम्बन्ध है ये परार्थप्रधान हैं। ये परार्थ कोही स्वार्थ का असली साधन मानते हैं।

६ विश्वहितार्थी– इनका ध्येय है--

जगतहित में अपना कल्याण।
यदि तू करता त्राण न जगका तेरा कैसा त्राण ॥

ये विवेक और संयम की पूर्ण मात्रा पाये हुए होते हैं। विश्वके साथ इनकी एक तरह से अद्वैतभावना होती है। स्वार्थ और परार्थ की सीमाएँ इनकी इस प्रकार मिली रहती हैं कि उन्हें अलग अलग करना कठिन होता है। ये आदर्श मनुष्य हैं।

प्रश्न-- कोई भी मनुष्य हो उसकी प्रवृत्ति अपने सुखके लिये होती है। जब हमें किसी दुःखी पर दया आती है और उसके दुःख दूर करने के लिये जब हम प्रयत्न करते हैं जब यह प्रयत्न परोपकार की दृष्टिसे नहीं होता किन्तु दुःखी को देखकर जो अपने दिलमें दुःख हो जाता है उस दुख को दूर करने के लिये हमारा प्रयत्न होता है, इस प्रकार अपने दिल के दुःख को दूर करने का प्रयत्न स्वार्थ ही है, तब स्वार्थ को निंदनीय क्यों समझना चाहिये और परोपकार जीवन का ध्येय क्यों होना चाहिये ?

उत्तर–परोपकार जीवन का ध्येय भले ही कहा जाय किन्तु परोपकार अगर स्वार्थ का अंग बन जाय और ऐसा स्वार्थ जीवन का ध्येय हो

तो परोपकार जीवन का ध्येय हो ही गया। असल बात यह है कि यहां जो अर्थ जीवन के छः भेद किये गये हैं वे असल में स्वार्थ के छः रूप हैं। कोई व्यर्थस्वार्थान्धता या स्वार्थान्धता को स्वार्थ समझते हैं कोई विश्वहितार्थिता को स्वार्थ समझते हैं। स्वार्थ के छः का क्रम उत्तरोत्तर उत्तमत्ता की दृष्टि से यहां किया गया है। जहां परका दुःख अपना दुःख बनता है अपना दुःख दूर करना परदुख का दूर करना हो जाता है ऐसा स्वार्थ परम स्वार्थ भी है और परम परार्थ भी। परन्तु स्वार्थ के अन्य खराब रूप भी हैं इसलिये इस उत्तम स्वार्थ को परार्थ शब्द से कहते हैं क्योंकि परार्थ भी उस स्वार्थ की दूसरी बाजू है। और उसी ने इस स्वार्थ को उत्तम बनाया है इसलिये उसे इसी नामसे अर्थात् परार्थ नामसे कहना उचित समझा जाता है। इसमें स्पष्टता अधिक है।

स्वार्थ के जो रूप एकपक्षी हैं या परार्थ के विरोधी हैं उन में परार्थ का अंश न होने से केवल स्वार्थरूप होने से उन्हें स्वार्थ शब्द से कहा जाता है। निस्वार्थ जीवन में ऐसे ही स्वार्थी जीवन का निषेध किया जाता है जिनने विश्वसुख को आत्मसुख रूप समझ लिया है वे वास्तव में श्रेष्ठस्वार्थी या परार्थी हैं। स्वार्थ और परार्थ एक ही सिक्के के दो बाजू हैं। इस अद्वैत को जिसने जीवन में उतार लिया उसका जीवन ही आदर्श जीवन है।

प्रेरितजीवन

(पाँच भेद)

मनुष्य मनुष्यता के मार्ग में कितना आगे बढ़ा हुआ है इस का पता इस बात से भी लगता है कि उसे कर्तव्य करने की प्रेरणा कहाँ से मिलती है। इस दृष्टिसे जीवन की पाँच श्रेणियाँ बनती हैं।

१ व्यर्थप्रेरित, २ दंडप्रेरित, ३ स्वार्थप्रेरित, ४ संस्कारप्रेरित, ५ विवेकप्रेरित।

१ व्यर्थप्रेरित-- जो प्राणी बिलकुल मूढ़ हैं जिनका पालन पोषण अच्छे संस्कारों में नहीं हुआ, जिन्हें न दंड का भय हैं न स्वार्थ की समझ, न कर्तव्य का विवेक, इस प्रकार जिनकी दृढ़ता अखंड है वे व्यर्थप्रेरित हैं।

यह एक विचित्र बात है कि विकास की चरमसीमा और अविकास की चरमसीमा प्रायः शब्दों में एक सी हो जाती है। जिस प्रकार कोई योगी चरम विवेकी ज्ञानी संयमी मनुष्य दंड से भीत नहीं होता, स्वार्थ के चक्कर में नहीं पड़ता कोई रूढ़ि उसे नहीं बाँधपाती उसीप्रकार इस व्यर्थप्रेरित मनुष्य को न तो दंड का भय है, न स्वार्थ का विचार, न संस्कारों की छाप, बिलकुल निर्भय निर्द्वंद हो कर वह अपना जीवन व्यतीत करता है। यह जड़ता की सीमा पर है और योगी विवेक की सीमापर है। जिस प्रकार शराब आदि के नशे में चूर मनुष्यपर दंड आदि का भय असर नहीं करता पर इस निर्भयता में और सत्याग्रही की निर्भयता में अन्तर है उसीप्रकार व्यर्थप्रेरित मनुष्य की निर्भयता और योगी की निर्भयता में अन्तर है। व्यर्थप्रेरित मनुष्य ऐसा जड़ होता है कि उसे मारपीट कर रास्तेपर चलाना चाहो तोभी नहीं चलता, उसके स्वार्थ के विचार से उसे समझाना चाहो तोभी नहीं समझता, उसको अच्छी संगतिमें रखकर सुधारना चाहो तो-भी नहीं सुधरता, उसे पढ़ा लिखाकर तथा उपदेश देकर मनुष्य बनाना चाहो तोभी शैतान बनता है यह व्यर्थप्रेरित मनुष्य है। इस की

पशुता चरमसीमापर है।

२ दंडप्रेरित—जो आदमी कानून के भय या दंड के भय से सीधे रास्ते पर चलता है वह दंडप्रेरित मनुष्य है इसमें पूरीपूरी पशुता है।

जबतक मनुष्य में पशुता है तबतक दंड की आवश्यकता रहेगी ही। समाज से दंड या कानून तभी हटाया जा सकता है जब मनुष्य-समाज इतना सुसंस्कृत बन जाय कि अपराध करना असंभव माना जाने लगे। वह स्वर्णयुग जब आयगा तब आयगा परन्तु जबतक वह युग नहीं आया है तबतक इस बात की कोशिश अवश्य होते रहना चाहिये कि समाज में दंड-प्रेरित मनुष्य कम से कम हों।

दंड या कानून के भय से जो काम होता है वह न तो स्थायी होता है न व्यापक। कानून तो बड़े बड़े दिखावटी मामलों में ही हस्तक्षेप कर सकता है और उसके लिये काफी प्रबल प्रमाण उपस्थित करना पड़ते हैं। फी सदी अस्सी पाप तो कानून की पकड़ में ही नहीं आसकते और जो पकड़ में आसकते हैं उनमें भी बहुत से पकड़ में नहीं आते। कानून तो सिर्फ इसके लिये है कि निरंकुशता सीमातीत न हो जाय। जो सिर्फ दंड से डरते हैं उनको अंकुश में रखने के लिये राष्ट्र की बड़ी शक्ति खर्च होती है फिर भी मौका मिलते ही वे कोई भी पाप करने को उतारू होजाते हैं। उनमें मनुष्यता का अंश नहीं आने पाया है।

कोई आदमी जानवर है या मनुष्य, इसका निर्णय करना हो तो यह देखना चाहिये कि वे दंड से प्रेरित होकर उचित कार्य करते हैं या अपनी समझदारी से प्रेरित होकर। पहिली अवस्था में वे मनुष्याकार जानवर हैं दूसरी अवस्था में मनुष्य।

किसी किसी मनुष्य की वह आदत रहती है कि जब उन्हें दस पाँच गालियाँ देकर रोको तभी वे उस रोक को जरूरी रोक समझते है नहीं तो उपेक्षा कर जाते हैं, जो सरल और नम्र सूचनाओंपर ध्यान नहीं देता और वचन या काम से ताडित होने पर ध्यान देता है वह जानवर है।

जिस समाज में दंडप्रेरितों की संख्या जितनी अधिक होगी वह समाज उतना ही हीन और पतित है। इसी प्रकार जिस मनुष्य में दंडप्रेरितता जितने अंश में है वह उतने ही अंश में पशु है।

प्रश्न—कभी कभी एक बलवान मनुष्य अत्याचार करने लगता है तब उसके अत्याचार के आगे एक समझदार को भी झुक जाना पड़ता है अथवा कुछ समय के लिये शान्त हो जाना पड़ता है, इसीप्रकार एक राष्ट्र जब दूसरे राष्ट्र पर पशुबल के आधार पर विजय पालेता है तब एक सज्जन को भी झुककर चलना पड़ता है क्या पराधीन राष्ट्रों को और पीड़ित मनुष्यों को पशु कोटि में रक्खा जाय।

उत्तर— पशुबल से विवश होकर अगर कभी हमें अकर्तव्य करना पड़े तो इतने से ही हम पशु न हो जाँयगे। पशु होने के लिये यह आवश्यक है कि हम पशुबल से विवश होकर अकर्तव्य को कर्तव्य समझने लगें। अगर हम गुलामी को गौरव समझते हैं, अत्याचारियों की दिलसे तारीफ करते हैं तो मनुष्य होकर भी पशु हैं।

परिस्थिति से विवश होकर हमें कभीकभी इच्छा के विरूद्ध काम करना पड़ता है पर प्रेरितजीवन

का यह प्रकरण इसलिये नहीं है कि तुम्हारे अकार्यों की जाँच करे। यहाँ तो यह बताया जाता है कि तुम भले काम किसकी प्रेरणा से करते हो ? इस से तुम्हारी समझदारी और संयम की जाँच होती है किसी के दबाने से जब कोई अनुचित कार्य करता है तब उसकी निर्बलता का विशेष परिचय मिलता है। यद्यपि निर्बलता में भी अमुक अंश में असंयम है पर उसमें मुख्यता निर्बलता की है। पशुता का सम्बन्ध निर्बलता से नहीं किन्तु अज्ञान और असंयम से है।

२ **स्वार्थप्रेरित**–स्वार्थप्रेरित वह मनुष्य है जिस में समझदारी आगई है और जो दीर्घदृष्टि से अपने स्वार्थ की रक्षा की बात समझता है। दंड-प्रेरित नौकर तब काम करेगा जब उसको फटकारा जायगा, गाली दी जायगी पर स्वार्थप्रेरित नौकर यह सोचेगा कि अगर मैं मालिक को तंग न करूंगा, उनको बोलने को जगह न रक्खूंगा उनकी इच्छा से अधिक काम करूंगा तो मेरी नौकरी स्थायी होगी, तरक्की होगी और आवश्यकतापर मेरे साथ रियायत की जायगी। इस प्रकार वह भविष्य के स्वार्थ पर विचार करके कर्तव्य में तत्पर रहता है, दंडप्रेरित की अपेक्षा यह मालिक को अधिक आराम पहुँचाता है और स्वयं भी अधिक निश्चित और प्रसन्न रहता है इसका अपमान भी कम होता है।

एक दूकानदार इसलिये कम नहीं तौलता कि मैं पुलिस में पकड़ा जाऊंगा तो वह दंडप्रेरित है पर दूसरा इसलिये कम नहीं तौलता कि इस से उसकी साख मारी जायगी, लोग विश्वास नहीं करेंगे, दूकान कम चलेगी आदि तो वह स्वार्थ-प्रेरित है। दंड-प्रेरित की अपेक्षा स्वार्थ-प्रेरित बेईमानी कम करेगा इसलिये यह श्रेष्ठ है। बहुत से लोग भीतर से संयमी न होने पर भी व्यापार में ईमानदारी का परिचय देते हैं जिस से साख बनी रहे इससे वे स्वयं भी लाभ उठाते हैं और दूसरों को भी निश्चित बनाते हैं इसलिये दंड-प्रेरित की अपेक्षा स्वार्थ-प्रेरित श्रेष्ठ है।

एक देश में दो जातियाँ हैं वे नाममात्र के कारण से आपस में लड़तीं हैं, लड़ाई तभी रुकती है जब कोई तीसरी शक्ति या सरकार डंडे के बल पर उन्हें रोक रखतीं हैं। ऐसी जातियों में दंडप्रेरितता अधिक होने से कहना चाहिये कि पशुता अधिक है। पर जब वे यह विचार करतीं हैं कि दोनों की लड़ाई से दोनों का ही नुकसान है। हमारे पाँच आदमी मरे और उसके बदले में दूसरों के हम दस आदमी भी मारें तो इससे हमारे पाँच जी न उठेंगे इसलिये आपस में लड़नेसे कोई भी तीसरी शक्ति हम दोनों को गुलाम बना लेगी।

इस प्रकार के विचार से वे दोनों जातियाँ मिलकर रहें तो यह उनकी स्वार्थप्रेरितता होगी जो कि दंडप्रेरितता की अपेक्षा श्रेष्ठ है। इसमें पशुता नहीं है और मनुष्यता का अंश आगया है।

४ **संस्कारप्रेरित**–संस्कारप्रेरित वह मनुष्य है जिसके दिलपर अच्छे कार्यों की छाप ऐसी मजबूत पड़ गई है कि अच्छे कार्य को भंग करने का विचार ही उसके मन में नहीं आता। अगर कभी ऐसा मौका आता भी है तो उसका हृदय रोने लगता है, बहिन-भाई के सम्बन्ध की पवित्रता संस्कारप्रेरितता का रूप है। स्वार्थप्रेरितता की अपेक्षा संस्कारप्रेरितता इसलिये श्रेष्ठ है कि संस्कार-प्रेरित मनुष्य स्वार्थ को धक्का लगने पर भी अपने सत्कर्तव्य को नहीं भूलता— अन्याय करने को तैयार नहीं होता।

किसी देश में अगर दो जातियाँ हैं और वे समान स्वार्थ के कारण मिल गई हैं तो दंड-प्रेरित की अपेक्षा यह सम्मिलन अच्छा होनेपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसका वह सम्मिलन स्थायी है। किसी भी समय कोई तीसरी शक्ति उन में से किसी एक का बलिदान करके दूसरी को पुष्ट करना चाहे तो उन के स्वार्थ में अन्तर पड़ने से वह सम्मिलन नष्ट हो जायगा। वह देश अशान्ति और निर्बलता का घर बनकर नष्ट होजायगा, गुलाम बन जायगा। पर अगर वह सम्मिलन संस्कार-प्रेरित हो—दोनों में सांस्कृतिक एकता होगई हो तो तीसरी शक्ति को उन के अलग अलग दो टुकड़े करना असम्भव होजायगा। संस्कृति, स्वार्थ की पर्वाह नहीं करती, वह तो स्वभाव बन जाती है जो स्वार्थ नष्ट होनेपर भी विकृत नहीं होती।

प्रश्न—भारतवर्ष में संस्कारों का बहुत रिवाज है, बच्चा जब गर्भ में आता है तभी से उसके ऊपर संस्कारों की छाप लगना शुरू होजाती है। सोलह संस्कार तो प्रसिद्ध ही हैं पर इससे भी अधिक संस्कार इस देश में होते हैं पर इन संस्कारों के होनेपर भी कुछ सफलता दिखाई नहीं देती। इसलिये संस्कारप्रेरितता का कोई विशेष प्रयोजन नहीं मालूम होता।

उत्तर—संस्कार के नाम से जो मंत्रजाप किया जाता है वह संस्कार नहीं है। आज तो वह बिलकुल निकम्मा है परन्तु जिस समय उसका कुछ उपयोग था उस समय भी सिर्फ यही कि बच्चे के अभिभावकों को बच्चेपर अमुक संस्कार डालने की जिम्मेदारी का ज्ञान होजाय। ज्ञान संयम विनय आदि के संस्कार मिनिट दो मिनिट के मंत्र-जाप से नहीं पड़ सकते उस के लिये वर्षों की तपस्या या साधना चाहिये।

संस्कार एक तरह की छाप है जो बारबार हृदयपर लगने से दृढ़ता के साथ अंकित होजाती है। अमुक विचारों का हृदय में बारबार चिन्तन कराने से, उसको कार्यपरिणत करने से, वैसे ही दृश्य बारबार सामने आने से हृदय उन विचारों में तन्मय होजाता है। अनुभव से, तर्क से, महान् पुरुषों के वचन अर्थात् शास्त्र से, और सत्संगति से भी यह तन्मयता आती है। इसप्रकार जो संस्कार पड़ते हैं वे मनुष्य का स्वभाव बन जाते हैं इसका परिणाम यह होता है कि किसी निर्दिष्ट मार्गपर मनुष्य सरलता से जा सकता है। एक मनुष्य कठिन अवस्था में भी मांस नहीं खाता, काम-पीड़ित होनेपर भी माता बहिन बेटी के विषय में संयम रखता है यह सब संस्कारका ही फल है। स्वार्थ और कानून [दंड] जहाँ रोक नहीं कर पाता वहाँ संस्कार रोक कर जाता है। संस्कार के अभाव में कभी कभी बुद्धि में जँचे हुए अच्छे काम करने में भी मनुष्य हिचकने लगता है एक मनुष्य सर्वधर्म-समभाव को ठीक समझने पर भी उसे व्यवहार में लाने में कुछ लज्जित सा या हिचकिचाता-सा रहता है इसका कारण संस्कार का अभाव है। सैकड़ों बड़े बड़े काम ऐसे हैं जिन्हें मनुष्य संस्कार के वश में होकर बिना किसी विशेष प्रयत्न के सरलता से कर जाता है और सैकड़ों छोटे छोटे काम ऐसे हैं जिन्हें मनुष्य इच्छा रहने पर भी नहीं कर पाता। अच्छा से अच्छा पहिलवान भी संस्कार के अभाव में साइकिल नहीं चला सकता और संस्कार हो जाने पर एक निर्बल बालक या बालिका भी साइकिल चला सकती है। संस्कार का लाभ यह है कि मनुष्य बुद्धि पर विशेष जोर दिये बिना कोई भी काम कर

सकता है या बुरे कामसे बचा रह सकता है। मनुष्य आज पशु से जुदा हुआ है उसका कारण सिर्फ़ बुद्धि-वैभव ही नहीं है किन्तु संस्कारों का प्रभाव भी है।

मनुष्य के हृदय में जो जानवर मौजूद है उसको दूर करने के लिये ये तीन उपाय हैं संस्कार, स्वार्थ और दंड। पहिला व्यापक है, निरुपद्रव है और स्थायी है; इस प्रकार सात्विक है उत्तम है। दूसरा राजस है मध्यम है। तीसरा तामस है, जघन्य है। मानव हृदय का पशु जब तक मरा नहीं है तब तक तीनों की आवश्यकता है। परन्तु जब तक मनुष्यता संस्कार का रूप न पकड़ले तब तक मनुष्य चैन से नहीं सो सकता। पैरों के नीचे दबा हुआ सर्प कुछ कर सके या न कर सके पर वह कुछ कर न सके इसके लिये हमारी जितनी शक्ति खर्च होती है प्रतिक्षण हमें जितना चौकन्ना रहना पड़ता है उससे किसी तरह ज़िन्दा तो रहा जा सकता है पर चैन नहीं मिलती। दंड या क़ानून का उपाय ऐसा ही है।

मानव हृदय के भीतर रहने वाली पशुता से अपनी रक्षा करने के लिये स्वार्थ का सहारा लेना साँप के आगे दूध का कटोरा रख कर अपनी रक्षा करने के समान है। दूध के प्रलोभन में भूला हुआ सर्प काटेगा नहीं, परन्तु वह छेड़-खानी नहीं सह सकता और अगर किसी दिन उसे दूध न मिलेगा तब वह उच्छृंखल भी हो सकता है।

अगर सर्प के विषदंत उखाड़ लिये जाँय और वह पालतू भी बना लिया जाय तब फिर डर नहीं रह जाता। संस्कार के द्वारा मानव हृदय की पशुता की यही दशा होती है। इस-लिये यही सर्वोत्तम मार्ग है।

छोटी से छोटी बात से लेकर बड़ी से बड़ी बात तक इन तीनों की उपयोगिता की कसौटी हो सकती है। आप ट्रेन में जाते हैं, डब्बे में जगह जगह लिखा हुआ है कि 'थूको मत' थूकवुं नहीं, थुंकू नका (Do not spit) इस प्रकार विविध भाषाओं में लिखा रहने पर भी यात्री डब्बे में थूकते हैं। दंड का भय उन्हें नहीं है। दंड देना कुछ कठिन भी है, हाँ, वे यह सोचें कि हम दूसरों को तकलीफ़ देते हैं, दूसरे हमें तकलीफ़ देंगे, दूसरों का थूकना हमें बुरा मालूम होता है, हमारा दूसरों को होगा इस प्रकार स्वार्थ की दृष्टि से वे विचार करें तब ठीक हो सकता है पर हरएक में इतना गाम्भीर्य नहीं होता, बहुत से मनुष्य निकटदर्शी ही होते हैं। वे सोचते हैं कि अगले स्टेशन पर अपने को उतर ही जाना है फिर दूसरे थूका करें तो अपना क्या जाता है? इस प्रकार स्वार्थ उनके हृदय की पशुता को नहीं मार पाता है। परन्तु जब यही बात संस्कार के द्वारा स्वभाव में परिणत हो जाती है तब मनुष्यत्व चमक उठता है, वह जाग्रत रहता है और बिना किसी विशेष प्रयत्न के काम करता है। यह तो एक छोटासा उदाहरण मात्र है, पर इसी दृष्टि से राष्ट्र की बड़ी बड़ी समस्याएँ भी हल करना चाहिये। किसी देश में विविध जातियों या विविध सम्प्रदायों के बीच में अगर संघर्ष होता हो तो उसे शान्त करने के लिये संस्कार, स्वार्थ और दंड में से पहिला मार्ग ही श्रेष्ठ है। समन्वय या ऐक्य का आधार संस्कृति होना चाहिये। दंड या स्वार्थ के आधार पर खड़ा हुआ ऐक्य पूर्ण या स्थायी नहीं हो सकता।

दंड से शान्ति होना कठिन है बल्कि ऐसे

देशव्यापी जातीय मामलों में तो असंभव ही है। क्योंकि दंड-नीति का पालन कराना जिनके हाथमें है वे ही तो झगड़नेवाले हैं। वादी और प्रतिवादी न्यायाधीश का काम न कर सकेंगे। ऐसी हालतमें कोई तीसरी शक्ति की ज़रूरत होगी। और वह तीसरी शक्ति दोनों का शिकार करने लग जायगी। इस प्रकार उस तीसरी शक्ति के साथ दोनों का एक नया ही संघर्ष चालू हो जायगा।

बात यह है कि दंड-नीति की ताक़त इतनी नहीं है कि वह प्रेम या एकता करा सके। अगर उसे ठीक तरह से काम करने का अवसर मिले तो इतना तो हो सकता है कि अत्याचार अन्याय का बदला दिलाने में सफल हो जाय। इससे अन्याय अत्याचारों पर अंकुश भी पड़ सकता है पर उन्हें रोक नहीं सकता और प्रेम करने के लिये विवश कर सकना तो उसकी ताक़त के हर तरह बाहर है।

साथ ही जहां संस्कृति में एकता नहीं है वहां क़ानून को न्याय के अनुसार काम करने का अवसर ही नहीं मिलता इसलिये प्रेम पैदा करने की बात तो दूर पर अन्याय अत्याचार को रोकने में भी वह समर्थ नहीं हो पाता। जहां जातीय द्वेष है जहां सांस्कृतिक एकता नहीं है वहां क़ानून की गति भी कुंठित हो जाती है।

ऐक्य और प्रेम में स्वार्थ भी कारण हो जाता है। हम तुम्हारे अमुक काम में मदद करें तुम हमारे अमुक काममें मदद करो इस प्रकार स्वार्थका विनिमय भी कभी काम कर जाता है पर वह अल्पकालिक होता है और कभी कभी उसका अन्त बड़ा दयनीय होता है।

आज कल अनेक राष्ट्रों के बीचमें जो संधियाँ होतीं हैं वे इसका पर्याप्त स्पष्टीकरण हैं। संधिपत्र की स्याही भी नहीं सूखपाती कि संधिका भंग शुरू हो जाता है। एक राष्ट्र आज किसी राष्ट्र का जिगरी दोस्त बना बैठा है और दूसरे क्षण स्वार्थ की परिस्थिति बदलते ही वह उसपर गुर्राने लगता है। आज दोस्त बनकर कंधे से कंधा भिड़ाये हुए है कल शत्रु बनकर छाती पर संगीन तानने लगता है। स्वार्थ के आधार पर जो मैत्री-एकता होगी उस की यही दशा होगी।

एकता शान्ति आदि के लिये श्रेष्ठ उपाय है संस्कार। स्वार्थ और दंड इसे सहायता पहुँचा सकते हैं परन्तु स्थायिता लानेवाला और स्वार्थ और दंड को सफल बनाने वाला संस्कार ही है। मानव-हृदयमें द्वैतका एक विचित्र भ्रम समाया हुआ है। व्यक्ति और ब्रह्मके बीचमें उसने ऐसी अनेक कल्पनाएँ कर रक्खीं हैं जो व्यर्थ ही उसका नाश कर रहीं हैं। मनुष्यने जो नाना गिरोह बना रक्खे हैं उनमें कोई मौलिक असाधारण समानता नहीं है। हो सकता है कि मेरे गिरोहका एक आदमी लखपति बनकर मौज उड़ाता रहे और मैं भूखों रोटीके लिये तड़पता रहूं और कदाचित दूसरे गिरोह का आदमी मुझे सहायता दे सहानुभूति रक्खे।

एक गरीब हिन्दू और एक श्रीमान् हिन्दूकी अपेक्षा एक गरीब हिन्दू और गरीब मुसलमान में सहानुभूति कहीं अधिक होगी फिर भी हिन्दू और मुसलमान सामूहिक रूपमें परस्पर द्वेष करेंगे- कैसा भ्रम है! भारतका एक विद्वान और इंग्लैंड का एक विद्वान परस्पर अधिक सजातीय है, कर्मसे दोनों ही ब्राह्मण हैं पर एक विद्वान् अंग्रेज़ भी दूरसे दूर रहने वाले मूर्ख से मूर्ख अंग्रेज़ को तो अपना समझेगा और भारत के विद्वान् से घृणा करेगा यह एक सांस्कृतिक भ्रम है जो योग्य संस्कृति के द्वारा

मिट सकता है। लोगों के दिल पर जन्म से ही ऐसे संस्कार डाल दिये जाते हैं कि अमुक गिरोह के लोग तुम्हारे भाई के समान हैं और अमुक गिरोहके शत्रुके समान। आचार विचार की अच्छी और अनुकूल बातें भी कुसंस्कृति के द्वारा मनुष्यको बुरी और प्रतिकूल मालूम होने लगतीं हैं। जो दोष कुसंस्कारों पर अवलम्बित है वह सुसंस्कारों से ही अच्छी तरह जा सकता है।

जिस आदमी पर सच बोलने के संस्कार डाले गये हैं वह आवश्यकता होने पर भी झूठ नहीं बोलता। सच झूठके लाभालाभ का विचार किये बिना ही सच बोलता है परन्तु जिस पर झूठ बोलने के कुसंस्कार पड़े है वह मामूलीसे मामूली कारणों पर भी झूठ बोलेगा, अनावश्यक झूठ भी बोलेगा, व्यक्तिगत असंयम के विषयमें जो बात है सामूहिक असंयम के विषय में भी वही बात है।

जिन को हमने पराया समझ लिया है उन की ज़रा सी भी बात पर सिर फोड़ देंगे पर जिनको अपना समझ लिया है उनके भयंकर से भयंकर पापों पर भी नज़र न डालेंगे। कुसंस्कारों के द्वारा आये हुए सामूहिक असंयम ने हमें गुणों का या सदाचार का अपमान करना सिखा दिया है और दोषों तथा दुराचार का सन्मान करने में निर्लज्ज बना दिया है। इन्हीं कुसंस्कारों का फल है कि मनुष्य मनुष्य में हिन्दू मुसलमानों का जाति-वैर बना हुआ है, छूताछूत का भूत सिर पर चढ़ा हुआ है, जातियों के नामपर हज़ारों जेलखाने बने हुए हैं, जिनमें सब का दम घुट रहा है। दंड इन्हें नहीं हटा पाता, स्वार्थ-सिद्धि का प्रलोभन भी इन से बचने के लिये मनुष्य को समर्थ नहीं बना पाता। संस्कार ही एक ऐसा मार्ग है जिससे इन रोगों को हटाने की आशा की जा सकती है।

वैयक्तिक असंयम को दूर करने के लिये—मनुष्य को ईमानदार बनाने के लिये सत्संगति और सुसंस्कारों की आवश्यकता है, यह बात निर्विवादसी है इस पर कुछ नई सी बात नहीं कहना है। पर सामूहिक असंयम को दूर करने के लिये सर्व-धर्म-समभाव और सर्व-जाति-समभाव के संस्कारों की आवश्यकता है। यह बात संस्कार से अर्थात् समझा बुझाकर या अपने व्यवहार से दूसरों के हृदय पर अंकित कर देने से ही हो सकती है। राजनैतिक स्वार्थ के नाम पर मनुष्य को इसके लिये उत्तेजित किया जा सकता है पर उत्तेजना अपने स्वभाव के अनुसार क्षणिक ही होगी।

जब लोगों के हृदय पर यह बात अंकित हो जायगी कि पूजा नमाज़ का एक ही उद्देश्य है एक ही ईश्वर के पास भक्ति पहुँचती है, सत्य और अहिंसा की सभी जगह प्रतिष्ठा है, प्रेम और और सेवाको सबने अच्छा और आवश्यक कहा है, राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि सभी महापुरुष समाज के सेवक थे, इन सभी का आदर करना चाहिये, सभी से हम कुछ न कुछ अच्छी बातें सीख सकते हैं, समय समय पर सभी के ख़ास गुणों की आवश्यकता होती है, तब दंड का और बताये बिना, राजनैतिक स्वार्थ या प्रलोभन बताये बिना स्थायी एकता हो जायगी। नाम से सम्प्रदाय भेद रहेगा पर उन सब के भीतर एक व्यापक धर्म होगा जो सब को एक बनायेगा। और यह भी सम्भव है कि सभी सम्प्रदाय किसी एक नये नामके अन्तर्गत होकर अपनी विशेषता और विशेष नामों के साथ भी एक बन जाँय।

जैसे वैदिक धर्म और शैव वैष्णव आदि सम्प्रदायों ने तथा आर्य और द्राविड़ी सभ्यताओं ने हिन्दू धर्म का नाम धारण कर लिया और इस बात की पर्वाह नहीं की कि हिन्दू नाम अवैदिक, अर्वाचीन और यवनों के द्वारा दिया गया है, इस प्रकार एक धर्म की सृष्टि होगई। उसी प्रकार हिन्दू, मुसलमान, ईसाई; जैन, बौद्ध, पारसी, सिक्ख आदि सभी सम्प्रदायों की और पंथों की एक संस्कृति ढलना चाहिये। इस प्रकार सांस्कृतिक एकता हो जाने पर सम्प्रदाय के नाम पर चलने वाला जो सामूहिक असंयम है वह नामशेष हो जायगा।

कुसंस्कारोंने हमे नाममोही बना दिया है सुसंस्कारों के द्वारा हमारा नाममोह मर सकता है फिर तो हम बिना किसी पक्षपात के परस्पर में आदान प्रदान कर लेंगे और जिनके आदान प्रदान की आवश्यकता न होगी उनको दूसरों की विशेषता समझेंगे-घृणा न करें।

दंड भी काम करे, लोगों के सामने समस्वार्थता के नाम पर भी मिलने की अपील की जाय, परन्तु हम भूल न जाँयँ कि हमें मनुष्य मात्र में सांस्कृतिक एकता पैदा करना है। सब की एक जाति और एक धर्म बनाना है। वह नैतिक धर्म होगा सत्य-धर्म होगा, प्रेम-धर्म होगा। वह मनुष्य जाति होगी सभ्य जाति होगी हम दंड के भय से नहीं, भौतिक स्वार्थ के प्रलोभन से नहीं, लेकिन एक सुसंस्कृत मनुष्य होने के नाते प्रेम के पुजारी बनें विश्वबन्धुत्व की मूर्ति बनें जिससे हमारा संयम प्रेम और बंधुत्व चतुराई या चाल न हो किन्तु स्वभाव हो और इसी कारण से उसमें अमरता हो।

इस प्रकार समाज में संस्कार-प्रेरितों का बहुभाग हो जाने से मानव-समाज में स्थायी शान्ति हो जाती है और मनुष्य सभ्य तथा सुखी हो जाता है।

५ विवेक-प्रेरित--विवेक-प्रेरित वह मनुष्य है जो अपने स्वार्थ की पर्वाह न करके, नये और पुराने की पर्वाह न करके, अभ्यास हो या न हो पर जो जनकल्याणकारी काम करता है। यद्यपि संस्कारों से मनुष्य श्रेष्ठ बन जाता है पर संस्कार के नाम पर ऐसे कार्य भी मनुष्य करता रहता है जो किसी जमाने में अच्छे थे पर आज उनसे हानि है। संस्कार प्रेरित मनुष्य उनको हटाने में असमर्थ है। पर जो विवेक-प्रेरित है वह उचित सुधार या उचित क्रान्ति के लिये सदा तैयार रहता है। इस प्रकार संस्कारों के द्वारा आई हुई सब अच्छी बातों को तो वह अपनाये रहता है और बुरी बातों को छोड़ने में उसे देर नहीं लगती है।

विवेक प्रेरित मनुष्य विद्वान हो या न हो पर बुद्धिमान, अनुभवी मनोवैज्ञानिक और निःपक्ष विचारक अवश्य होता है। इन्हीं विवेक प्रेरितों में से जो उच्च श्रेणी के विवेक प्रेरित होते हैं जिनकी निःस्वार्थता साहस और जन सेवकता बढ़ी चढ़ी रहती है और जो कर्मयोगी होते हैं वे ही तीर्थंकर जिन बुद्ध अवतार पैगम्बर मसीह आदि बन जाते हैं। पैगम्बरों के विषय में जो यह कहा जाता है कि वे ईश्वर के दूत या सन्देशवाहक होते हैं उनकी यह ईश्वर-दूतता और सन्देशवाहकता और कुछ नहीं है विशाल रूपमें उच्च श्रेणी की विवेक-प्रेरितता ही है।

निःस्वार्थता, बुद्धिमत्ता, विचारशीलता, मनोवैज्ञानिकता और अनुभवों के कारण मनुष्य में सदसद्विवेकबुद्धि जग पड़ती है। इस विवेक बुद्धि से वह भगवान सत्य का सन्देश सुन सकता है अर्थात् जनकल्याणकारी कार्यों का उचित निर्णय कर

सकता है यही ईश्वर-प्रेरणा, सन्देशवाहकता या पैग़म्बरपन है।

विवेक-प्रेरित मनुष्य ही सब मनुष्यों में उच्च श्रेणी का मनुष्य है। वह ग़रीब से ग़रीब भी हो सकता है या अमीर से अमीर, राजा या रंक, यशस्वी या नामहीन, गृहस्थ, या संन्यासी।

प्रेरितों के पाँच भेदों में पहिले दो भेद पशुता के सूचक हैं इन में पशुता पूर्णरूप में रहती है। स्वार्थ-प्रेरित में मनुष्यता का प्रारम्भ हो जाता है और संस्कार-प्रेरित में पर्याप्त मनुष्यता आ जाती है। अंतिम विवेक-प्रेरित ही पूर्ण मनुष्य है बल्कि वह दिव्य कोटि में पहुँच जाता है।

लिंगजीवन

तीन भेद

नर और नारी ये मानजीवन के दो अंग हैं। अकेली नारी आधा मनुष्य है अकेला नर आधा मनुष्य है। दोनों के मिलने से पूर्ण मनुष्य बनता है। इस प्रकार दम्पति को हम पूर्ण मनुष्य कह सकते हैं।

हिन्दुओं में जो यह प्रसिद्धि है कि शिवजी का आधा शरीर पुरुषरूप है और आधा नारी, इस रूपक का अर्थ यही है कि पूर्ण मनुष्य में नर और नारी दोनों की विशेषताएँ हुआ करतीं हैं। पर यह ध्यान रखना चाहिये कि ये विशेषताएँ मन बुद्धि या गुणों से सम्बन्ध रखनेवालीं हैं शरीर से नहीं। लैंगिक दृष्टि से कोई मनुष्य पूर्ण है इसका यह मतलब नहीं है कि उसकी दाढ़ी में एक तरफ़ बाल है और दूसरे तरफ़ नहीं, एक तरफ़ मूँछ है दूसरी तरफ़ नहीं, एक तरफ़ स्त्रियों सरीखे स्तन हैं दूसरी तरफ़ पुरुषों सरीखे। किसी पूर्ण पुरुष का ऐसा चित्र गवारू चित्र ही कहा जा सकेगा। उभयलिंगी चित्रण करना हो तो वह गुणसूचक होना चाहिये।

लैंगिक दृष्टि से मानव जीवन के तीन भेद हैं १ नपुंसक, २ एकलिंगी, ३ उभयलिंगी।

१ नपुंसक—जिस मनुष्य में न तो स्त्रियोचित गुण हैं न पुरुषोचित, वह नपुंसक है। समाज की रक्षा में, उन्नति में, सुख शान्ति में नारी का भी स्थान है और नर का भी। जो न तो नारी के गुणों से जगत की सेवा करता है न नर के गुणों से, वह नपुंसक है।

नर नारी

नर और नारी की शरीररचना में प्रकृति ने जो अन्तर पैदा कर दिया है उसका प्रभाव उनके गुणों तथा कार्यों पर भी हुआ है। उससे दोनों में कुछ गुण भी पैदा हुए हैं और दोनों में कुछ दोष भी। ज्यों ज्यों विकास होता गया त्यों त्यों दोनों में उन गुण दोषों का भी विकास होता गया। इस प्रकार नर और नारी में आज बहुत अन्तर दिखलाई देने लगा है जब कि मौलिक अन्तर इतना नहीं है। बुद्धिमत्ता विद्वत्ता आदि में नर और नारी समान हैं। किन्तु शताब्दियों तक विद्वत्ता आदि के क्षेत्र में काम न करने से, आने जाने की पूरी सुविधा न मिलने से और अनुभव की कमी के कारण, नारी विद्वत्ता आदि में कम मालूम होती है, पर इस विषय में मूल से कोई अन्तर नहीं है।

शरीर रचना के कारण नर और नारी में जो मौलिक गुण दोष हैं वे बहुत नहीं हैं। वात्सल्य नारी का गुण है निर्बलता दोष। सबलता नर का गुण है लापर्वाही दोष। इस एक एक ही गुण दोष से बहुत से गुण दोष पैदा हुए हैं।

नारी की विशेष अंग-रचना के अनुसार उसका सन्तान से इतना निकट सम्बन्ध होता है

कि वह अलग प्राणी होने पर भी उसे अपने में संलग्न समझती है । अपनी पर्वाह न करके भी सन्तान की पर्वाह करती है । सन्तान के साथ यह आत्मौपम्य भाव नारी की महान् विशेषता है। संयम, सेवा, कोमलता, प्रेम आदि इसी वृत्ति के विकसित रूप हैं । अगर प्रेम या अहिंसा को साकार रूप देना हो तो उसे नारी का आकार देना ही सर्वोत्तम होगा ।

नारी का वात्सल्य या प्रेम मूल में सन्तान के प्रति ही था। एक तरफ़ तो वह नाना रूपों में प्रकट हुआ दूसरी तरफ़ उसका क्षेत्र विस्तीर्ण हुआ। इस दुहरे विकास ने मानव समाज में सुख समृद्धि की वर्षा की है। जितने अंश में यह विकास है उतने ही अंश में यहाँ स्वर्ग है ।

नारी में जब सन्तान के लिये वात्सल्य आया तब उसके साथ सेवा का आना अनिवार्य था । इस प्रकार सेवाके रूप में नारी जीवन की एक झाँकी और दिखाई देने लगी । सेवा भी नारी का स्वाभाविक गुण हो गया ।

जहाँ वात्सल्य है वहाँ कोमलता स्वाभाविक है । नारी में दुग्धपानादि कराने से तन की कोमलता तो थी ही, साथ ही प्रेम और सेवा के कारण उसमें मनकी कोमलता भी आगई । बच्चे का रोना सुनकर उसका मन भी रोने लगा उसकी बेचैनी से उसका मन भी बेचैन होने लगा । इस कोमलता ने दूसरे के दुःखों को दूर करने और सहानुभूति के द्वारा हिस्सा बटाने में काफ़ी मदद की ।

वात्सल्य और सेवाने नारी में सहिष्णुता पैदा की । नारी के सामने मनुष्य-निर्माण का एक महान् कार्य था और वह उसमें तन्मय थी इसलिये उसमें सहिष्णुता का आना स्वाभाविक था । जिसके सामने कुछ विधायक कार्य होता है वह चोटों की कम पर्वाह करता है । बदला लेने की भावना भी उसमें कम होती है । वह हुंकार तभी करता है जब चोट असह्य हो जाती है या उसके विधायक कार्य में बाधा पड़ने लगती है । नारी शरीर से कोमल होने पर भी जो उसमें कष्टसहिष्णुता अधिक है उसका कारण मानव-निर्माण के कार्य में प्राप्त हुई कष्टसहिष्णुता का अभ्यास है । नर ने इसका काफ़ी दुरुपयोग किया है फिर भी नारी विद्रोह नहीं कर सकी और सहयोग के लिये पुरुष को ही खींचने की कोशिश करती रही इसका कारण उसकी सन्तान-वत्सलता या मानव निर्माण का कार्य है ।

मानव निर्माण के कार्य ने नारी में एक तरह की स्थिरता या संरक्षणशीलता पैदा की । मानव निर्माण या और भी विधायक कार्य प्रक्षुब्ध वातावरण या अस्थिर जीवन में नहीं हो सकते, उसके लिये बहुत शान्त और स्थिर जीवन चाहिये । इसीलिये नारीने घर बसाया । चिड़ियाँ जैसे अंडों के लिये घोंसला बनाती हैं और इस काम में मादा चिड़िया नर चिड़िया का सहयोग प्राप्त करती है उसी प्रकार नारीने घर बसाया और नर का सहयोग प्राप्त किया ।

जब घर बना तब जीवन में स्थिरता आई, उपार्जन के साथ संग्रह पैदा हुआ, भविष्य की चिन्ता हुई, इससे उच्छृंखलता पर अंकुश पड़ा और इस तरह समाज का निर्माण हुआ ।

नारी के सामने मानव-निर्माण, घर बसाना, समाज-रचना आदि विशाल कार्य आगये । अगर मनुष्य पशु होता तब तो यह कार्य इतना विशाल न होता, अकेली नारी ही इस कार्य को पूरा कर डालती, पर मनुष्य पशुओं से कुछ अधिक

था इसलिये उसका निर्माण कार्य भी विशाल था। अकेली नारी इस विशाल कार्य को अच्छी तरह न कर पाती इसलिये उसने पुरुष का सहयोग चाहा। नारी घर रूपी कारखाने में बैठकर निर्माण कार्य करने लगी और पुरुष सामान जुटाना और संरक्षण कार्य करने लगा। इस अवस्था में पुरुष सिर्फ सहयोगी था, नारी मालकिन थी। नारी के आकर्षण से पुरुष यह कार्य करता था पर सन्तान के विषय में पुरुष को कोई आकर्षण न था, न घर की चिन्ता थी, इस लिये पुरुष में वह स्थिरता नहीं थी जिस की आवश्यकता थी। मन ऊबने पर वह जहां चाहे चल देता था। पर नारी का तो घर था, बाल बच्चे थे और था उसके आगे मानव-निर्माणका महान् कार्य, वह इतनी अस्थिर नहीं हो सकती थी। वह स्थिर थी और स्थिर सहयोग ही चाहती थी। इसलिये पुरुष को सदा लुभाये रखने के लिये नारी की चेष्टा होने लगी इसी कारण नारी में कलामयता शृङ्गारप्रियता आदि गुणों का विकास हुआ। इससे पुरुष का आकर्षण तो बढ़ा ही, साथ ही उसका मूल्य भी बढ़ा उसमें आत्मीयता की भावना अधिक आई और वह नारी के बराबर तो नहीं फिर भी बहुत कुछ स्थिर हो गया।

इस प्रकार नारी के सन्तानवात्सल्य नामक एक गुणने उसमें सेवा कोमलता सहिष्णुता स्थिरता शृङ्गारप्रियता या कलामयता आदि अनेक गुण पैदा किये। संगति और संस्कारों ने ये गुण नारी मात्र में भर दिये। सन्तान न होने पर भी बाल्यावस्था से ही ये गुण नारी में स्थान जमाने लगे। नारी के सहयोग से ये गुण पुरुष में भी आये और ज्यों ज्यों मनुष्य का विकास होता गया त्यों त्यों इनका क्षेत्र विस्तृत होता गया यहां तक कि सन्तानवात्सल्य फैलते फैलते विश्वबन्धुत्व बन गया।

जगत में आज जो अहिंसा, संयम, प्रेम, त्याग, सेवा, सहिष्णुता, स्थिरता, कौटुम्बिकता, सौंदर्य, शोभा, कलामयता आदि गुणोंका विकसित-रूप दिखाई देता है उसका श्रेय नारी या नारीत्व को है क्योंकि इनका बीजारोपण उसीने किया है इसलिये नारी भगवती है नारीत्व वन्दनीय है। नारीत्व का अर्थ है प्रेम सेवा सहिष्णुता कला आदि गुणों का समुदाय और मानव-निर्माण का महान् कार्य।

नारी की विशेष शरीर रचना के कारण जहाँ उस में उपर्युक्त गुण आये वहाँ थोड़ी मात्रा में एक दोष भी आया। वह है आंशिक रूप में शारीरिक निर्बलता। नारी-शरीर के रक्त मांस द्वारा ही एक प्राणी की रचना होती है इसलिये यह बात स्वाभाविक थी कि पुरुष शरीर की अपेक्षा नारी का शरीर कुछ निर्बल हो। इस निर्बलता में नारी का ज़रा भी अपराध नहीं था बल्कि मानव-जाति के निर्माण और संरक्षण के लिये होनेवाले उसके स्वाभाविक त्याग का यह अनिवार्य परिणाम था। वह निर्बलता उसके त्याग की निशानी होने से सन्मान की चीज़ है।

यह भी स्वाभाविक था कि जैसे गुणों में वृद्धि हुई उसी प्रकार इस दोष में भी वृद्धि होती, सो वह हुई। पशुपक्षियों में नर मादा की शक्ति में जो अन्तर होता है उससे कईगुणा अन्तर मानव-जाति के नर मादा में है। गुणों की वृद्धि तो उचित कही जा सकती है पर यह दोषवृद्धि उचित नहीं कही जा सकती। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को नारीत्व के गुण प्राप्त करने के लिये अधिक से अधिक प्रयत्न करना चाहिये पर नारीत्व

के इस सहज दोष से बचने की कोशिश भी करना चाहिये। नारी-शरीरधारी मनुष्य को उतनी ही निर्बलता क्षम्य है जो मानव-निर्माण के लिये अनिवार्य हो चुकी है।

और अब तो शारीरिक शक्ति भी सिर्फ़ मुट्ठी के बलपर निर्भर नहीं है। अब तो अस्त्रशस्त्रों के ऊपर निर्भर है। अगर बुद्धिमत्ता हो, जानकारी हो, हस्तकौशल हो, साहस हो तो अस्त्रशस्त्रों के सहारे से निर्बल भी सबल का एक सामना कर सकता है। इसप्रकार नारी की सहज निर्बलता अब उतना अनिष्ट पैदा नहीं कर सकती है। अन्य साधनों से वह पशुबल में भी पुरुष के समकक्ष खड़ी हो सकती है। इस तरफ़ नारीका विकास होना चाहिये। फिर भी जो निर्बलता रह जाय वह परोपकार का परिणाम होने से उसका अनादर न करना चाहिये उसका दुरुपयोग भी कदापि न करना चाहिये।

पुरुष को मानव-निर्माण के कार्य में नहीं के बराबर लगना पड़ा इसलिये उस में नारी की अपेक्षा सबलता अधिक आई। यह पुरुष का विशेष गुण है। इस गुण ने अन्य गुण पैदा किये। सबलता से निर्भयता पैदा हुई, घर के बाहर भ्रमण करने के विशेष अवसर मिले, नारी के कार्य में संरक्षक होने से बाहिरी संघर्ष अधिक हुआ इन सब कारणों से उसकी बुद्धि का विकास अधिक होगया, अनुभवों के बढ़ने से विद्वत्ता बहुत बढ़ी, वीरता साहस आदि गुणों का भी काफ़ी विकास हुआ। बाहरी परिवर्तन अर्थात् बड़ेबड़े परिवर्तन करने की मनोवृत्ति और शक्ति भी इस में अधिक आगई, नारी के छोटे से संसार का इस विशाल विश्व के साथ सम्बन्ध जोड़ने में पुरुष का ही कर्तृत्व अधिक रहा। इस-प्रकार पुरुष नारीत्व के गुणों में पीछे रहकर भी अन्य अनेक गुणों में बढ़ गया।

पुरुष में बल की जो विशेषता हुई उसने अन्य अनेक गुणों को पैदा किया पर उसमें जो लापर्वाही का दोष था उसने अन्य अनेक दोषों को पैदा किया इसके कारण सबलता दोषों को बढ़ाने में भी सहायक हुई।

नारी को मानव-निर्माण के कार्य में पुरुष की आवश्यकता थी, पुरुष ने इसका दुरुपयोग किया। रक्षक होने से, सबल होने से, बाहरी जगत से विशेष सम्बन्ध होने से वह मालिक बन गया। पहिले उसकी लापर्वाही का परिणाम यह होता था कि जब उसका दिल चाहता था तब घर छोड़कर चल देता था अब यह होने लगा कि घरकी मालकिनको अलग कर दूसरीको लाने लगा।

कहीं कहीं इस ज्यादती को रोकने के लिये जो प्रयत्न हुआ और उससे जो समझौता हुआ उसके अनुसार पहिली मालकिन को निकालना तो बन्द हो गया पर उसके रहते दूसरी मालकिन लाने का अधिकार हो गया। घर से बाहर रहने के कारण उपार्जन का अवसर पुरुष को ही अधिक मिला, इधर मालकिनों को बदलने या निकालने या दूसरी लाने का अधिकार भी उसे मिला इस प्रकार नारी दासी रह गई और पुरुष स्वामी बन गया। अब उल्टी गंगा बहने लगी। पुरुष जो अज्ञात स्थानों में जाने का और बाहर की हर एक परिस्थिति के सामना करने का अभ्यासी था वह तो घरवाला बनकर घर में रहा, और नारी जिसे घर के बाहर निकलने का बहुत कम अभ्यास था, घर-वाली बनने के लिये अपना घर-पैतृक कुल-छोड़ने लगी। ख़ैर कम से कम किसी एक को घर छोड़ना ही पड़ता, परन्तु खेद तो यह है कि एक

घर छोड़कर भी वह दूसरे घर में घरवाली न बन सकी। वह दासी ही बनी। यद्यपि उसे पदवी तो पत्नी अर्थात् मालकिन की मिली पर वह पदवी अर्थशून्य थी। इसी प्रकार घरवाली की पदवी भी व्यर्थ हुई। पुरुष तो घरवाला रहा पर वह घरवाली के नाम से घर बनी। बड़े बड़े पंडितों ने भी कहा—दीवार वगैरह को घर नहीं कहते घरवाली को घर कहते हैं [गृहं हि गृहिणी माहुः न कुड्यकटिसंहतिम्—सागारधर्मामृत] इस प्रकार मूल में जो घरवाला नहीं था वह तो घरवाला बन गया और जो घरवाली थी वह घर होकर रह गई।

इस प्रकार नारीत्व और पुरुषत्व के गुणों ने जहाँ मनुष्य को हर तरह विकसित या समुन्नत बनाया उसी प्रकार इनके सहज दोषों ने मनुष्य को हैवान और शैतान बनाया। नारीत्व का मूल्य उसके गुण से है वह पुरुष को भी अपनाने की चीज़ है और नारीत्व का जो दोष है वह नारी को भी छोड़ना चाहिये। पुरुषत्व का मूल्य उसके गुण से है वह नारीको भी अपनाना चाहिये। और पुरुषत्व का जो दोष है वह पुरुष को भी छोड़ना चाहिये।

जिसमें न तो नारीत्व के गुण हैं न पुरुषत्व के, अगर हैं तो दोनों के या किसी एक के दोष हैं वह नपुंसक है। भले ही वह शरीर से नपुंसक न हो-स्त्री या पुरुष हो।

२ **एकलिंगी**- जिसमें या तो पुरुषत्व के गुण विशेषरूप में हैं या नारीत्व के गुण, वह मनुष्य एकलिंगी है। किसी मनुष्य में कलाप्रियता सेवा आदि की भावना हो पर शक्ति विद्वत्ता आदि पुरुषोचित गुण न हों वह नारीत्ववान मनुष्य है भले ही वह शरीर से नारी हो, पुरुष हो या नपुंसक हो। इसी प्रकार जिसमें पुरुषत्व के गुण हों परन्तु नारीत्व के गुण न हों वह पुरुषत्ववान मनुष्य है, भले ही वह नारी हो, नपुंसक हो या पुरुष हो। यह एकलिंगी मनुष्य अधूरा मनुष्य है मध्यम श्रेणी का है।

प्रश्न--एकलिंगी मनुष्य पुरुष हो या नारी, इसमें कोई बुराई नहीं है परन्तु पुरुषत्ववती नारी और नारीत्ववान् पुरुष, यह अच्छा नहीं कहा जा सकता। नारी, पुरुष बने और पुरुष, नारी बने यह तो लैंगिक विडम्बना है।

उत्तर--ऊपर जो पुरुषत्व के और नारीत्व के गुण बताये गये हैं वे इतने पवित्र और कल्याणकारी हैं कि कोई भी उन्हें पाकर धन्य हो सकता है। अगर कोई मनुष्य रोगियों की सेवा करने में चतुर और उत्साही है तो यह नारीत्ववान पुरुष जगत् की सेवा करके अपने जीवन को सफल ही बनाता है उसका जीवन धन्य है। इसी प्रकार कोई नारी झाँसी की लक्ष्मीबाई या फ्रांस की देवी जोन की तरह अपने देश की रक्षा के लिये शस्त्र-सञ्चालन करती है तो ऐसी पुरुषत्ववती नारी भी धन्य है उसका जीवन सफल है कल्याणकारी है। इन जीवनों में किसी तरह से लैंगिक विडम्बना नहीं है। लैंगिक विडम्बना वहाँ है जहाँ पुरुष नारीत्व के गुणों का परिचय नहीं देता, कोई जनसेवा नहीं करता किन्तु नारीका वेष बनाता है, नारी जीवन की सुविधाएँ चाहता है और नारी के ढंग से कामुकता का परिचय देता है। गुण तो गुण हैं उनसे जीवन सफल और धन्य होता है फिर वे नारीत्व के हों या पुरुषत्व के, और उन्हें कोई भी प्राप्त करे।

प्रश्न—नारीत्ववान पुरुष पुरुषत्व की विडम्बना भले ही न हो किन्तु यह तो कहना ही

पड़ेगा कि पुरुषत्ववान् पुरुष से वह हलके दर्जे का है इसी प्रकार नारीत्ववती नारी से पुरुषत्ववती नारी हीन है।

उत्तर—हीनाधिकता का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है, इसका सम्बन्ध है युग की आवश्यकता से। किसी देशव्यापी बीमारी के समय अगर रोगियों की सेवा में कोई पुरुष होश्यार है तो वह नारीत्ववान पुरुष का दर्जा किसी योद्धा से कम नहीं है। राष्ट्र के ऊपर कोई आक्रमण हुआ हो तो राष्ट्र रक्षा के लिये युद्ध क्षेत्र में काम करने वाली पुरुषत्ववती नारी किसी नारीत्ववती नारी से कम नहीं है। आदर्श तो यही है कि प्रत्येक मनुष्य में दोनों की विशेषताएँ हों, वह उभयलिंगी हो, परन्तु यदि ऐसा न हो तो अपनी रुचि योग्यता और राष्ट्र की आवश्यकता के अनुसार किसी भी लिंग का काम कोई भी चुन सकता है।

कोई कोई पुरुष बच्चों के लालन-पालन में इतने होश्यार होते हैं कि नारियों से भी बाजी मार ले जाते हैं, बहुत से पुरुष रंगमंच पर अनेक रसों का ऐसा प्रदर्शन करते हैं और कलात्मक जीवन का ऐसा अच्छा परिचय देते हैं कि अनेक अभिनेत्रियों से बाजी मार ले जाते हैं, और भी अनेक स्त्रियोचित कार्य हैं जिनमें बहुत से पुरुष निष्णात होते हैं ऐसे कार्य करनेवाले नारीत्ववान् पुरुष पुरुषत्ववान पुरुष से छोटे न होंगे।

नारीत्ववान पुरुष हमें छोटा मालूम होता है इस का कारण है कि आज पूँजीवाद साम्राज्यवाद आदि पापों के कारण बाज़ार में नारीत्व के कार्यों का मूल्य कम होगया है इसलिये पुरुषत्ववाली नारी का हम सन्मान करते हैं और नारीत्ववान् पुरुष को या नारीत्ववती नारी को हम क्षुद्र दृष्टिसे देखते हैं। यह नारीत्व के विषय में अज्ञान है।

घर में झाड़ू दे लेना, बच्चे को दूध पिला देना या नाचना गाना ही नारीत्व नहीं है और साधारण नारी इन कार्यों को जिस ढंगसे करती है उतने में ही नारीत्व समाप्त नहीं होता। नारीत्व का क्षेत्र व्यापक और महत्त्व-पूर्ण है। ऊंचीसे ऊँची चित्रकारी, संगीत, नृत्य, पाकशास्त्र की ऊँचीसे ऊँची योग्यता, मानव हृदय को सुसंस्कृत बनाना शिक्षण देना, स्वच्छता, अनेक मनुष्यों के रहन सहन की सुव्यवस्था, प्रतिकूल परिस्थिति में शान्ति और व्यवस्था के साथ टिके रहना, प्रेमवात्सल्य, मिष्ट भाषण, आदि अनेक गुण और कर्म नारीत्व के कार्य हैं। राज्यका सेनापति यदि पुरुषत्ववान पुरुष है तो गृहसचिव नारीत्ववान पुरुष है। नारी के हाथ में आज कहाँ क्या रह गया है यह बात दूसरी है पर नारीत्व का क्षेत्र उतना संकुचित नहीं है। उसका क्षेत्र विशाल है और उच्च है। इसलिये नारीत्व को छोटा न समझना चाहिये और इसीलिये नारीत्ववान् पुरुष भी छोटा नहीं है। हाँ इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि समाज को इस समय किसकी अधिक आवश्यकता है? आवश्यकता के अनुसार गुणों और कार्यों को अपनाकर हर एक नर और नारी को अपना जीवन सफल बनाना चाहिये।

प्रश्न—यदि पुरुष में भी नारीत्व उचित है और नारीमें भी पुरुषत्व उचित है तो पुरुष को भी लम्बे बाल रख कर नारियों सरीखा शृङ्गार करना, साड़ी आदि पहिनना उचित समझा जायगा और इसी प्रकार स्त्रियों का पुरुषोचित वेष रखना भी उचित समझा जायगा। क्या इससे लैंगिक विडम्बना न होगी।

उत्तर—अवश्य ही यह विडम्बना है पर यह नारीत्ववान पुरुष का रूप नहीं है। अमुक तरह का वेष रखना नारीत्व या पुरुषत्व नहीं है। नर और नारी के वेष में आवश्यकतानुसार या सुविधानुसार अन्तर रहना उचित है। नारीत्व या पुरुषत्व के जो गुण यहां बतलाये गये हैं उन गुणों से हरएक मनुष्य [नर या नारी] अपना और जगत का कल्याण कर सकता है परन्तु नर नारी की या नारी नर की पोशाक पहिने इससे न तो उन को कुछ लाभ है न दूसरों को। बल्कि इस से व्यवहार में एक भ्रम पैदा होता है।

नर नारी की पोशाक में कितना अन्तर हो देशकाल के अनुसार उनमें परिवर्तन हो कि नहीं हो हो तो कितना हो ! नारी पुरुष--वेष की तरफ़ कितनी झुके पुरुष नारी-वेष की तरफ़ कितना झुके आदि बातों पर विस्तार से विचार किया जाय तो एक ख़ासी पुस्तक बन सकती है। यहां उतनी जगह नहीं है इसलिये यहां इस विषय में कुछ इशारा ही कर दिया जाता है।

१--नारी और नर की पोशाक में कुछ न कुछ अन्तर होना उचित है। नारी ऐसा वेष ले कि देखने से पता ही न लगे कि यह नारी है और नर ऐसा वेष ले कि देखने से पता ही न लगे कि यह नर है, यह अनुचित है। साधारणत: वेष अपने लिंग के अनुसार ही होना उचित है। इसका एक कारण यह है कि इससे नर नारी में जो परस्पर लैंगिक सन्मान और सुविधाप्रदान आवश्यक है उसमें सुविधा होती है। अनावश्यक और हानिकर लैंगिक सम्बन्ध मे भी बचाव होता है। दूसरी बात यह है कि नर और नारी को मानसिक सन्तोष अधिक होता है।

नारी अधूरा मनुष्य है और नर भी अधूरा मनुष्य है दोनों के मिलने से पूरा मनुष्य बनता है इस प्रकार वे एक दूसरे के पूरक हैं। शारीरिक दृष्टि से उन दोनों में जो विषमता है वह इस पूरकता के लिये उपयोगी है। वेष की विषमता शारीरिक विषमता का शृंगार है या उसे बढ़ानेवाली है और शारीरिक विषमता पूरकता का कारण है इसलिये वेष की विषमता भी पूरकता का कारण है। एक नारीका हृदय नारी-वेषी पुरुष से इतना सन्तुष्ट नहीं होता जितना पुरुष-वेषी पुरुष से। इसी प्रकार एक पुरुष का हृदय पुरुष-वेषी नारी से इतना सन्तुष्ट नहीं होता जितना नारी-वेषी नारी से इसलिये अमुक अंश में वेष की विषमता ज़रूरी है। हाँ, इस नियम के कुछ अपवाद भी हैं।

क--युद्ध-क्षेत्र आदि में अगर कुछ काम करना पड़े और परिस्थिति ऐसी हो कि नारी को पुरुष वेष लेना ही कार्य के लिये उपयोगी हो तो ऐसा किया जासकता है,

ख-- अन्याय या अत्याचार से बचने के लिये वेष-परिवर्तन की आवश्यकता हो तो वह क्षम्य है।

ग-- रंगमंच आदि पर अभिनय करने के लिये अगर नर को नारीका या नारीको नर का वेष लेना पड़े तो यह भी क्षम्य है।

घ-- जनसेवा, न्यायरक्षा आदि के लिये गुप्तचर का काम करना पड़े और वेष--परिवर्तन करना हो तो वह भी क्षम्य है।

इस प्रकार के अपवादों को छोड़कर नर नारी की पोशाक में कुछ न कुछ अन्तर रहना चाहिये।

२-- वेष जलवायु और कार्य-क्षेत्र के अनुसार होना उचित है। गरम देशों में जो वेष

ठीक हो सकता है वही ठंडे देशों में होना चाहिये यह नहीं कहा जासकता था एक ऋतु में जो वेष उचित कहा जासकता है वही दूसरी में भी उचित है यह नहीं कहा सकता। मानलो किसी देश में नारियाँ साधारणतः साड़ी पहिनतीं हैं पर शीत ऋतु में ठंड से बचने के लिये उनने ऊनी कोट पहिन लिया या बरसात में पानी से बचने के लिये बरसाती कोट पहिन लिया तो कोट, साधारणतः पुरुष की पोषाक होने पर भी, उक्त अवसरों पर नारी के लिये भी वह अनुचित न कहा जायगा।

३--नर और नारी के वेष में कुछ वैषम्य रहने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि एक दूसरे के वेष की अच्छाइयाँ ग्रहण न की जाँयँ। सौन्दर्य और स्वच्छता की दृष्टि से एक दूसरे के वेष की बात ग्रहण करने में कोई बुराई नहीं है। उदाहरणार्थ एक दिन ऐसा था जब हरएक पुरुष अपनी दाढ़ी परके बाल सुरक्षित रखता था, अब भी बहुत से लोग रखते हैं पर उन बालों से सफ़ाई में कुछ असुविधा होती है, सौन्दर्य भी कुछ कम ही रहता है इसलिये दाढ़ी के बाल बनवाने का रिवाज़ चल पडा। धीरे धीरे यही बात मूंछों के विषय में हुई, मूंछ मुड़ाने का रिवाज़ भी बन गया। बहुत से शास्त्रों के अनुसार तो यह भी कहा जाने लगा कि देव तथा दिव्य पुरुषों के मूंछें नहीं होतीं, दाढ़ी पर बाल नहीं होते। पुरुष ने नारी वेष का जो यह अनुकरण किया वह स्वच्छता आदि की दृष्टि से उचित ही कहा जा सकता है।

वेष के विषय में ये ख़ास ख़ास सूचनाएँ हैं इनका पालन होना चाहिये। बाकी लिंग-जीवन के प्रकरण में नारीत्व और पुरुषत्व का वेष से कुछ सम्बन्ध नहीं है न शरीर--रचना से मतलब है। उसके द्वारा तो मानव-जीवन के लिये उपयोगी गुणों को दो भागों में विभक्त कर के बतलाया है और हरएक मनुष्य को कमसे कम किसी एक भाग को अपनाने की प्रेरणा है। एक भी भाग को न अपनाने पर उसमें नपुंसकत्व आजायगा।

प्रश्न--लैंगिक जीवन के आपने तीन भेद किये हैं पर स्पष्टता के लिये यह ज़रूरी था कि उसके चार भेद किये जाते। नपुंसक जीवन, स्त्री-जीवन, पुरुष-जीवन और उभय लिंगी जीवन। स्त्री--जीवन और पुरुष--जीवन को मिलाकर एक-लिंगी जीवन के नाम से दो भेदों का एकभेद क्यों बनाया?

उत्तर--जीवनदृष्टि अध्याय में जीवन का श्रेणी-विभाग बताया गया है। नपुंसक जीवन से एकलिंगी जीवन अच्छा है और एकलिंगी जीवन से उभयलिंगी जीवन अच्छा है इस प्रकार श्रेणी विभाग बन जाता है परन्तु स्त्री-जीवन से पुरुष-जीवन अच्छा इस प्रकार का श्रेणी-विभाग नहीं बनता इसलिये ये अलग अलग भेद नहीं बनाये गये।

प्रश्न--नारी और नर मनुष्यत्व की दृष्टि से समान हैं। ऐसी भी नारियाँ हो सकतीं हैं जो बहुत से नरों से उच्च श्रेणी की हों पर टोटल मिलाया जाय तो यह कहना ही पड़ेगा की नारी से नर श्रेष्ठ है। नारी में निम्न लिखित दोष या गुणाभाव हुआ करता है इसलिये नारी नरसे हीन है:—

१, निर्बलता, २, मूढ़ता, ३, मायाचार, ४, भीरुता, ५, विलास-प्रियता, ६, संकुचितता ७, कलहकारिता, ८, परापेक्षता, ९, दीनता,

१० रूढि--प्रियता, ११ क्षुद्रकर्मता, १२ अधैर्य आदि दोषों के कारण नारी नर से हीन ही कही जायगी । एक बात यह भी है कि नारी उपभोग्य है और पुरुष उपभोक्ता है इसलिये भी नारी हीन है ।

उत्तर– नारी में स्वभाव से कौनसे दोष हैं इसका विचार करने के लिये सिर्फ़ एक घर पर या किसी समय के किसी एक समाज पर नज़र डालने से ही काम न चलेगा । इस के लिये विशाल विश्व और असीम कालपर नज़र डालना पड़ेगी । इस दृष्टिसे उपर्युक्त दोषों का विचार यहाँ किया जाता है ।

१– निर्बलता – इस के विषय में पहिले बहुत कुछ लिखा जा चुका है । निर्बलता अनेक तरह की है । उनमें से मानसिक या वाचनिक निर्बलता नारी में नहीं है, कायिक निर्बलता है, परन्तु वह भी बहुत थोड़ी मात्रामें, उस का कारण सन्तानोत्पादन है । सन्तानोत्पादन मानव-जातिके जीवन के लिये अनिवार्य है और इस का श्रेय [सौ में निन्यानवे भाग] नारी को है । इस उपकार के कारण आने वाली थोड़ी बहुत शारीरिक निर्बलता हीनता का कारण नहीं कही जासकती । जैसे ब्राह्मण और क्षत्रिय हैं । ब्राह्मण अपनी बौद्धिक शक्ति द्वारा समाज की सेवा करता है और क्षत्रिय शारीरिक शक्ति द्वारा । इसलिये क्षत्रिय बलवान होता है पर इसीलिये क्या ब्राह्मण से क्षत्रिय उच्च होगा ? ब्राह्मण की शारीरिक शक्ति शूद्र से भी कम होगी, वैश्य से भी कम होगी परन्तु इसीलिये वह सब वर्णों से नीचा न हो जायगा । यह निर्बलता बौद्धिक सेवा के कारण है । जो निर्बलता समाज की भलाई करने का फल हो वह हीनता का कारण नहीं कही जासकती । नारी की निर्बलता मानव--जातिके रक्षणरूप महान से महान कार्य का फल है इसलिये वह हीनता का कारण नहीं कही जासकती ।

दूसरी बात यह है कि नारीकी यह अधिक निर्बलता सामाजिक सुव्यवस्था के लिये किये गये कार्यक्षेत्र के विभाग का फल है । अगर कार्यक्षेत्र का विभाग बदल जाय तो अवस्था उल्टी हो जाय । बाली द्वीपमें व्यापार खेती आदि सभी काम नारियाँ ही करती हैं इसलिये वे तीस तीस चालीस चालीस फुट के झाड़ों पर एक हाथसे लटक कर दूसरे हाथसे फल तोड़ सकतीं हैं, बहादुरी के सब काम वे ही करती हैं । जब कि पुरुष घर में रहते हैं रोटी बनाते हैं झाड़ू देते हैं । स्त्रियोंसे वे ऐसे ही डरते हैं जैसे दूसरे देशों में स्त्रियाँ पुरुषों से डरतीं हैं । इसलिये नर नारी में बल की बात को लेकर हीनाधिकता बताना ठीक नहीं ।

२– मूढ़ता– साधारण नारी उतनी ही मूढ़ होती है जितना कि साधारण नर । हां, जो पुरुष विद्याजीवी या बाह्य जगतसे विशेष सम्पर्कवाले होते हैं और उनके घर की स्त्रियाँ इसी कोटि की नहीं होतीं तो उनकी दृष्टि में वे मूढ़ कहलातीं हैं । अन्यथा एक ग्राम्य नारी और ग्राम्य पुरुषकी मूढ़ता में कोई ख़ास अन्तर नहीं होता ।

जहाँ नारी को विद्योपार्जन तथा बाहिरी सम्पर्क का विशेष अवसर मिलता है वहाँ नारी चतुरता या समझदारी के क्षेत्र में पुरुष से कम नहीं रहती ।

३ **मायाचार**–नारी में मायाचार न पुरुष से अधिक है न कम । और न सभी तरह का मायाचार बुरा कहा जा सकता है । मायाचार जहाँ द्वेष और हिंसा से सम्बन्ध रखता है वहीं वह मायाचार कहा जाता है अन्यथा बहुत सा

मायाचार तो शिष्टाचार और दया आदि का फल होता है। मायाचार कई तरह का होता है। क--लज्जाजनित, ख--शिष्टाचारी, ग--राहस्यिक घ--तथ्य-शोधक, ङ-आत्मरक्षक च--प्रतिबोधक, छ--विनोदी, ज--प्रवञ्चक। इनमें से प्रवञ्चक ही वास्तविक मायाचार है बाक़ी सात भेदों में तो सिर्फ़ मायाचार का शरीर है मायाचार का आत्मा नहीं है। उससे दूसरों के न्यायोचित अधिकारों को धक्का नहीं लगता इसलिये वे निंदनीय नहीं कहे जा सकते।

क--लज्जाजनित मायाचार किसी को ठगने की दृष्टि से नहीं होता वह एक तरह की निर्बलता या संकोच का परिणाम होता है। बहुतसी नववधुओं में यह पाया जाता है। बहुत से लड़के लड़कियाँ विवाह के लिये इच्छुक हों तो भी लज्जावश उससे इनकार करेंगे, उससे दूर भागने का ढोंग करेंगे। यह लज्जाजनित मायाचार कहीं कहीं नारी में कुछ विशेष मात्रा में आ गया है। यह पर्दा आदि कुप्रथाओं का, बहुत काल से डाले गये संस्कारों का और कार्य-क्षेत्र के भेद का परिणाम है, नारी का मौलिक दोष नहीं है। और जबतक यह अतिमात्रा में नहीं हो, जीवन के कार्यों में अडंगा न डाले तबतक तो यह सुन्दर भी है, आकर्षण की कला भी है, काम का अंग है, हिंसक नहीं है।

ख--शिष्टाचारी मायाचार भी क्षन्तव्य है। जब एक मुसलमान भोजन करने बैठता है तब पास में बैठे हुए आदमी से, ख़ास कर मुसलमान से कहता है--आइये, बिस्मिल्ला कीजिये। यह प्रेम-प्रदर्शन का एक शिष्टाचार है। हिन्दुओं में भी कहीं कहीं पानी के विषय में ऐसा शिष्टाचार पाया जाता है। एक भोज में बहुत से हिन्दू बैठे हैं एक सज्जन पानी पीने के लिये अपने लोटे में से कटोरी में पानी भरते हैं और सब से कहते हैं लीजिये लीजिये। (अब यह शिष्टाचार प्रायः बंद हो गया है) निःसन्देह वे समझते हैं कि पानी कोई लेगा नहीं, और यही समझ कर बताते हैं, इसलिये यह मायाचार है परन्तु शिष्टाचारी मायाचार होने से क्षन्तव्य है। ऐसे शिष्टाचार कितने अंश में रखना चाहिये कितने अंश में नहीं, यह विचार दूसरा है पर जो भी शिष्टाचार के नाम पर रह जाय उसमें अगर ऐसा मायाचार हो तो वह क्षमा करने योग्य है। यह शिष्टाचारी मायाचार नर नारी में बराबर ही पाया जाता है इससे नारी को दोष नहीं दिया जा सकता।

ग--राहस्यिक मायाचार क्षन्तव्य ही नहीं है बल्कि एक गुण है। मानलो पति-पत्नी में कुछ झगड़ा हो रहा है इतने में बाहर से किसीने द्वार खटखटाया। पति पत्नी ने इस विचार से कि बाहर के आदमी को दोनों के झगड़े का पता कदापि न लगने देना चाहिये न दोनों के बीच में तीसरे को दस्तंदाजी का मौका देना चाहिये, अपना झगड़ा छिपा लिया और इस प्रकार प्रसन्न मुख से दरवाज़ा खोला मानों दोनों में कोई विनोद हो रहा था। यह राहस्यिक मायाचार गुण है जोकि नर और नारी दोनों में पाया जाता है।

घ--कभी कभी शिष्टाचार और वस्तु-स्थिति का पता लगाने के लिये मायाचार करना पड़ता है जैसे किसी के घर जाने पर घरवाले ने कहा आइये भोजन कीजिये। अब यह पता लगाने के लिये मना कर दिया कि इसने सिर्फ़ शिष्टाचारवश भोजन के लिये कहा है या वास्तव में इसके

यहां भोजन कराने की पूरी तैयारी है। अगर तैयारी होती है तो वह दूसरे बार इस ढंग से अनुरोध करता है कि वस्तु-स्थिति समझ में आ जाती है नहीं तो चुप रह जाता है। यह मायाचार तथ्य-शोधक है क्योंकि इससे अनुरोध करने वाले की वस्तुस्थिति का पता लगता है। यह अगर नारी में अधिक हो तब तो उसकी विवेकशीलता ही अधिक सिद्ध होगी।

ङ--अन्याय और अत्याचार से बचने के लिये जो मायाचार किया जाता है वह आत्मरक्षक है। यह नर नारी में बराबर है और क्षन्तव्य है।

च--किसी आदमी को समझाने के लिये या उसकी भलाई करने के लिये जो मायाचार करना पड़ता है वह प्रतिबोधक मायाचार है। यह बड़े बड़े महापुरुषों में भी पाया जाता है बल्कि उनमें अधिक पाया जाता है यह तो महत्ता का द्योतक है। हाँ, इसका प्रयोग निःस्वार्थता और योग्यता के साथ हो।

छ-- हँसी विनोद में सबकी प्रसन्नता के लिये जो मायाचार किया जाता है वह विनोदी है। यह भी क्षन्तव्य है। नर नारी में यह समान ही पाया जाता है।

ज-- प्रवञ्चक मायाचार वह है जहाँ अपने स्वार्थ के लिये दूसरों को धोखा दिया जाता है विश्वासघात किया जाता है। यही मायाचार वास्तविक मायाचार है, पाप है, घृणित है। यह सर्वथा त्याज्य है।

ऊपर के सात तरह के मायाचारों में तो सिर्फ़ इतना ही विचार करना चाहिये कि उनमें अति न हो जाय, उनका प्रयोग बेमौके न हो जाय, या इस ढंगसे न हो जाय कि दूसरों की परेशानी वास्तव में बढ़जाय और उनको नुक़सान उठाना पड़े। कुछ समझदारी के साथ उनका प्रयोग होना चाहिये बस, इतना ठीक है। सो इनके प्रयोग में नर नारी में विशेष अन्तर नहीं है।

आठवाँ प्रवञ्चक मायाचार किस में अधिक है कहा नहीं जासकता? परन्तु यह ध्यानमें रखना चाहिये कि यह मायाचार निर्बलता का परिणाम है। मनुष्य जहाँ क्रोधकी निष्फलता समझलेता है वहाँ मायाचार का प्रयोग करता है। पीड़कों में क्रोध की अधिकता होती है पीड़ितों में मायाचार की। अगर कहीं नारी में थोड़ा बहुत मायाचार अधिक हो तो उसका कारण यह है कि नारी सहस्राब्दियों से पीड़ित है। जब वह क्रोध प्रगट नहीं कर सकती तब नरम पड़कर मायाचार से काम लेती है। यह परिस्थितिका प्रभाव है, स्वभाव नहीं। जहाँ उसे अधिकार है, बल है, लापर्वाही है वहाँ वह मायाचार नहीं करती क्रोध करती है और तब दुनिया उसे उग्र या निर्लज्ज कहने लगती है। इन बातों का प्रभाव जैसा नर पर पड़ता है वैसा ही नारी पर। दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं है।

४--भीरुता--यह निर्बलता का परिणाम है। निर्बलता के विषय में पहिले कहा जा चुका है। अधिकांश निर्बलता जैसे कृत्रिम है इसी प्रकार भीरुता भी कृत्रिम है। जहाँ स्त्रियाँ अर्थोपार्जन करती है वहाँ उनमें भीरुता पुरुषसे अधिक नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से मध्यम या उत्तम श्रेणीके कुटुम्बों में ही यह भीरुता अधिक पाईजाती है क्योंकि अर्थोपार्जन के क्षेत्र में उन्हें बाहर नहीं जाना पड़ता इसलिये बाहर के लिये उन में भीरुता बहुत आगई। इस के अतिरिक्त एक बात यह और हुई कि इस श्रेणी के पुरुष भीरु स्त्रियों को

अधिक पसन्द करने लगे। क्योंकि नारियों को अपनी कैद में रखने के लिये भीरुता की बेड़ी सबसे अच्छी बेड़ी थी। इससे पुरुष बिना किसी विशेष कार्य के नारी की दृष्टि में अपनी उपयोगिता साबित करता रहता था।

नारी को भीरु बनाये रखने के लिये भीरुता की तारीफ़ होने लगी। भीरु, यह प्रेम का अच्छा से अच्छा संबोधन माना जाने लगा। भौंरे से डरकर प्रेयसी प्रियतम को सहायता के लिये पुकारती है यह काव्यशास्त्र का सुन्दर वर्णन समझा जाने लगा। पतन यहाँ तक हुआ कि भीरुता सतीत्व समझा जाने लगा।

रविषेणकृत जैन पद्मपुराण की एक कथा मुझे याद आती है कि नघुष नाम का राजा राज्यका भार अपनी पट्टरानी सिंहिका के हाथ में सौंपकर उत्तर दिशा में दिग्विजय के लिये निकला-पर इधर दक्षिण दिशा के राजाओंने राजधानी पर आक्रमण कर दिया। रानी ने सेना लेकर वीरता से उनका सामना किया, उन्हें हराया, इतना ही नहीं उसने दक्षिण की तरफ़ दिग्विजय यात्रा भी की और सब राजाओं को जीतकर राजधानी में आगई। इससे मालूम होता है कि रानियाँ भी राजाओं की तरह वीरता दिखातीं थीं और युद्ध सञ्चालन करतीं थीं। परन्तु जब राजा आया और उसे मालूम हुआ कि रानीने इतनी वीरता दिखाई है तब उसे बड़ा क्रोध आया। उसने सोचा कि शीलवती स्त्रियोंमें इतनी अक्ल नहीं हो सकती। इससे उसने रानी का महिषीपद छीन लिया। इसके बाद दिव्ययोग से रानी की शीलकी परीक्षा हुई और उसमें वह सच्ची निकली इत्यादि कथा है।

इस कथा से इतना तो मालूम होता है कि एक दिन क्षत्राणियों में भी वीरता होना पुरुषों की दृष्टि में शीलभंग का चिह्न समझा जाने लगा था। भीरुता की तारीफ़ होने लगी थी। उनकी वीरता आत्महत्या [जौहर] में समाप्त होने लगी थी। इस प्रकार जहाँ भीरुता की तारीफ़ और वीरता से घृणा होने लगी हो, वीरता अकु-लीनता और शीलहीनता का चिह्न समझी जाने लगी हो, वहाँ नारी अगर भीरु हो गई तो उसमें उसका कोई स्वभावदोष नहीं कहा जा सकता। इतना ही कहा जा सकता है कि शताब्दियों तक पुरुषों ने जो षड्यंत्र किया वह सफल हो गया। यह नारीका स्वभाव-दोष नहीं है, कृत्रिम है, शीघ्र मिट सकता है।

५ विलास प्रियता—यह दोनों का दोष है, कहीं नर में यह अधिक होती है कहीं नारी में। विलासप्रियता बढ़ने के यों तो अनेक कारण हैं पर एक मुख्य कारण आर्थिक है। जहाँ नारी सम्पत्ति की मालकिन नहीं है वहाँ उसमें उत्तर-दायित्व कम हो जाय यह स्वाभाविक है। जिस प्रकार दूसरे के यहाँ भोज में गये आदमी खूब लापर्वाही से खाते हैं, नुकसान की चिन्ता नहीं करते उसी प्रकार उस नारी में एक प्रकार की लापर्वाही आ जाती है जो मालकिन नहीं है। वह सिर्फ़ अधिक से अधिक विलास की बात सोचती है। अकर्मण्य और आलसी बनती है।

नारियों में जो आभूषणप्रियता पाई जाती है उसका कारण शृंगार या बड़प्पन दिखाने की भावना ही नहीं है किन्तु आर्थिक स्वामित्व की आकांक्षा भी है, बल्कि यही कारण अधिक है। अन्य सम्पत्ति पर तो सारे कुटुम्बका हक़ रहता है और उसकी मर्ज़ी के विरुद्ध सहज में ही उसका उपयोग किया जा सकता है इसलिये नारी भूषणों के रूप में सम्पत्ति का संग्रह करती है। इसे भी लोग

विलास कहते हैं जब कि इसका मुख्य कारण आर्थिक है।

विलास-प्रियता का एक कारण और है कि आर्थिक पराधीनता-प्राप्त नारी को पुरुष ने अपने विलास की सामग्री बनाया। अगर नारी में विलास नहीं है तो पुरुष इधर उधर आँखें डालने लगा. इसलिये भी नारी को विलासिनी बनना पड़ा। पुरुष भी इसे पसन्द करता है, वह इससे घृणा करता है तभी जब विलास के वह साधन नहीं जुटा सकता या उसके अन्य कामों में बाधा आती है। इसलिये विलासिता का दोष केवल नारीपर नहीं डाला जा सकता, इसका उत्तर-दायित्व व्यापक है, सामाजिक है।

६ **संकुचितता**--नारीका कार्य--क्षेत्र घर है इसलिये उसके विचारों में संकुचितता आ गई है। यह नारीत्व का दोष नहीं है, कार्य क्षेत्र का दोष है। आम तौर पर पुरुषों में भी यह दोष पाया जाता है। एक बात यह है कि नारीका सन्तान के साथ घनिष्ट सम्पर्क होने से, पहिले वह इस छोटे से संसार को बना लेना चाहती है, अमुक अंश में यह आवश्यक भी है। फिर भी संकु-चितता कम करने की जो ज़रूरत है उसकी पूर्त्ति वहाँ जल्दी हो जाती है जहाँ नारी घर के बाहर काफ़ी निकलती है और थोड़े बहुत अंशों में सामा-जिक आदि व्यापक कार्यों में भाग लेती है।

७ **कलहकारिता**--यह पुरुषों और नारियों में एक समान है। घर के बाहर रहने से पुरुष के हाथ में बड़ी शक्तियाँ आ गई हैं इसलिये वह कलम से और तलवारों से कलह करता है, नारियाँ मुँह से कलह करतीं हैं। पुरुष को घर के काम नहीं करना पड़ते इसलिये वह घरू कलह को क्षुद्र कह कर हँसता है। पर जब उसे घरू काम करना पड़ता है तब हँसी बन्द हो जाती है। मैंने देखा है कि जब पुरुष को काफ़ी समय तक नारियों के समान घरू काम करना पड़ते हैं तब वह भी उन बातों में कलहकारी बन जाता है। कलह बुरी चीज़ है पर वह नर नारी दोनों में है। नारी-निन्दा से पुरुष निर्दोष नहीं हो सकता दोनों को अपनी कलहकारिता घटाना चाहिये और छोटी छोटी बातों में कलह न हो इसके लिये यह ज़रूरी है कि नारीके हाथ में बड़ी बातें भी आयें जिसमें कलह-शक्ति का रूपान्तर किया जाय।

जैसे एक नारी व्याख्यान देना और लेख लिखना जानती हो तो इसका स्वाभाविक परिणाम होगा कि उसकी कलह-शक्ति सैद्धान्तिक विवेचन और तार्किक खंडन मंडन में बदल जाय और कलह के छोटे छोटे कारणों पर वह उपेक्षा करने लगेगी। मतलब यह है कि कलहकारिता नर नारी में समान है। जो भेद है वह कार्यक्षेत्र आदि का है। उसे रूपा-न्तरित करने की ज़रूरत है जिससे वह क्षुद्र और हानिकर न रह जाय।

८ **परापेक्षता**--प्राणीमात्र परापेक्ष है, ख़ास कर जहाँ समाज रचना है वहाँ परापेक्षता विशेष रूपमें है। वह नर में भी है और नारीमें भी है। फिर भी अगर नारीमें पुरुष से कुछ अधिक परा-पेक्षता है तो उसका कारण वह भीरुता और अर्थोपार्जन की अशक्ति है जो समाज ने व्यवस्था के लिये उसपर लाद दी है। यह दोष अन्य कृत्रिम दोषों पर आश्रित है यह स्वतंत्र दोष नहीं है।

९ **दीनता**--इसका कारण भी समाज की वह आर्थिक व्यवस्था है जिसने नारी को कंगाल बनाया है।

१० **रूढ़िप्रियता**--यह दोनों में है, यह मनुष्य-मात्र का दोष है। नारियों में अगर कुछ विशेष

मात्रा में है तो इसका कारण शिक्षण तथा जगत के विशाल अनुभव का अभाव है। यह कमी पूरी हो जाने पर रूढ़िप्रियता नष्ट हो सकती है।

११ क्षुद्रकर्मता--नारी को जो कार्यक्षेत्र दिया गया उसमें वह सफलता से काम कर रही है अगर बड़े काम दिये जाँयँ या जहाँ दिये जाते हैं वहाँ भी वह सफलता से काम करती है साथ ही उद्योग धंधों और व्यापार में तो वह पुरुष के समान हो ही जाती है । सेना पुलिस आदि के कामों भी वह सफल होती है । इसलिये क्षुद्र-कर्मता उसका स्वभाव नहीं कहा जा सकता।

दूसरी बात यह है कि नारी का काम क्षुद्र नहीं है। मनुष्य-निर्माण का जो कार्य नारी को करना पड़ता है वह पुरुष को नहीं करना पड़ता नारी के इस कार्य का मूल्य तो है ही घरू कामों का मूल्य भी आर्थिक दृष्टि से कम नहीं है।

पुरुष के मूल्य की महत्ता साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के पाप के कारण है। इनके कारण मनुष्य बदमाशी, बेईमानी, विश्वासघात, क्रूरता आदि के बदले में सम्पत्ति पाता है। ये पाप हट जाँयँ और सेवा तथा त्याग के अनुसार ही यदि मनुष्य का आर्थिक मूल्य निश्चित किया जाय तो नर नारी का आर्थिक मूल्य समान ही होगा। इसलिये क्षुद्र-कर्मता नारी का स्वभाव नहीं कहा जा सकता।

१२ अधैर्य-- इस विषय में तो पुरुष की अपेक्षा नारी ही श्रेष्ठ होगी। पुरुष जब घबरा जाता है तब नारी ही उसे धैर्य देती है। सहिष्णुता नारी में पुरुष की अपेक्षा भी अधिक है इसलिये उसमें धैर्य अधिक हो यही अधिक सम्भव है। ख़ैर इस विषय में पुरुष अधिक हो या नारी, पर यह सब अधिकता जन्मजात नहीं है जिससे नारी नर के साथ इस का सम्बन्ध जोड़ा जासके।

१३-- उपभोग्यता-- उपभोग्य नारी भी है और नर भी। दोनों एक दूसरे के उपभोग्य, उपभोक्ता, मित्र और सहयोगी हैं। अगर नारी सिर्फ़ उपभोग्य होती तो नर नारी के मिलन का सुख और इच्छा सिर्फ़ नारी में होती नर में नहीं। परन्तु दोनों में इच्छा होती है, सुख होता है इसलिये जैसा नर उपभोक्ता है वैसे नारी भी। इसीलिये व्यभिचार आदि जैसे नर के लिये पाप हैं वैसे नारी के लिये भी। नारी अगर उपभोग्य ही हो तो वह व्यभिचारिणी कभी न कहलावे वह सिर्फ़ व्यभिचार्य ही बन सके जैसे चोरी में मनुष्य ही चोर कहलाता है धन चोर नहीं कहलाता इस प्रकार किसी भी तरह पुरुष उपभोक्ता और स्त्री उपभोग्य नहीं हो सकती। जो कुछ हैं दोनों समान हैं।

इस प्रकार के और दोष लगाये जासकेंगे और उनका परिहार भी किया जासकेगा। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि नारी सर्वथा निर्दोष है और पुरुष ही दोषी है। दोनों में गुण हैं, दोनोंमें दोष हैं। परिस्थितिवश और चिरकाल के संस्कारवश किसी में एक दोष अधिक होगया है और किसी में कोई दूसरा। मौलिक दृष्टिसे दोनों समान हैं।

नर नारी का कुछ अन्तर तो आवश्यक है वह रहना चाहिये और रहेगा भी, कुछ अन्तर अनावश्यक या हानिकर है वह मिटना चाहिये अन्त में कुछ विशेषता नारी में रह जायगी और कुछ नर में, इस प्रकार उनमें कुछ आवश्यक विषमता रहेगी परन्तु उससे उनका दर्ज़ा असमान न होगा।

नारीत्व और पुरुषत्व तो गुणरूप हैं उस में

तो व्यक्तित्व गौण है इसलिये उन के समान दर्जे पर तो आपत्ति है ही नहीं।

इन कारणों से लिंगजीवन के चार भेद नहीं किये गये क्यों कि नारीजीवन और नरजीवन में तरतमता नहीं हो सकती थी।

प्रश्न— नरत्व और नारीत्व भले ही समान हों परन्तु इनकी समानता के प्रचार से समाज की बड़ी हानि है। संस्कृत की एक कहावत है कि जहाँ कोई मालिक नहीं होता या जहाँ बहुत मालिक होते हैं वहाँ विनाश हो जाता है। (अनायका विनश्यन्ति नश्यन्ति बहुनायका,) नर नारी की समानता से हमारे घर अनायक या बहुनायक बनकर नष्ट हो जाँयँगे। ईंट पर ईंट रखने से घर बनता है, ईंट की बराबरीसे ईंट रखने से मैदान तो ईंटों से भर जायगा पर घर न बनेगा।

उत्तर—अनायक बहुनायक की बात वहीं ठीक जमती है जहाँ व्यक्तियों के व्यक्तित्व बिलकुल अलग अलग होते हैं। पति पत्नी दो प्राणी होने पर भी अकेले अकेले वे इतने अधूरे हैं और उनमें मिलन इतना आवश्यक है कि उन दोनों का व्यक्तित्व प्रतिस्पर्धा का कारण कठिनता से ही बनेगा। उनकी स्वाभाविक इच्छा एक दूसरे में विलीन होने की, एक दूसरे को खुश रखने की और एक दूसरे के अनुयायी बनने की होती है तभी दाम्पत्य सफल और सुखकर होता है। इसलिये अनायक बहुनायक का प्रश्न वहाँ उठना ही न चाहिये। फिर भी हो सकता है कि कहीं पर दाम्पत्य इतना अच्छा न हो, तो वहाँ के लिये निम्न लिखित सूचनाओं पर ध्यान देना चाहिये—

१—योग्यतानुसार कार्य का विभाग कर लेना और अपने कार्यक्षेत्र में ही अपनी बात का अधिक मूल्य लगाना।

२—अपने क्षेत्र की स्वतन्त्रता का उपयोग ऐसा न करना जिससे दूसरे के कार्यक्षेत्र की परेशानी बढ़ जाय।

३ सब मिलाकर जिसकी योग्यता का टोटल अधिक हो उसे नायक या मुख्य स्वीकार कर लेना।

४ कौन नायक है और कौन अनुयायी इसका पता यथायोग्य बाहर के लोगों को न लगने देना।

इस प्रकार गृह-व्यवस्था अच्छी तरह चलने लगेगी। ईंट पर ईंट जम जायगी और घर बन जायगा। अन्तर इतना ही होगा कि नरनारी में से हमने अमुक को ही ऊपर की ईंट समझ रक्खा है और अमुक को ही नीचे की ईंट, यह अन्धेर निकल जायगा। योग्यतानुसार कहीं नारी ऊपर की ईंट होगी कहीं नर, इस प्रकार साथ ही न्याय की रक्षा भी होगी और व्यवस्था और समभाव बना रहेगा।

सुव्यवस्था का अधिकांश श्रेय दोनों की एकत्व भावना को ही मिल सकता है वह न हो तो नियम सूचनाएँ सभी व्यर्थ जाँयँगी। खैर, दाम्पत्य की समस्या मानव जीवन की महान् से महान् समस्या है। इस पर थोड़ा बहुत विचार व्यवहार कांड में किया जायगा। यहां तो एकलिंगी जीवन में नरत्व या नारीत्व के अमुक गुणों को अपनाकर जीवन को कुछ सार्थक करने की बात है।

३ उभयलिंगी जीवन—जिस मनुष्य में नरत्व और नारीत्व के गुण काफ़ी मात्रा में हैं वह उभयलिंगी मनुष्य (नर या नारी) है। प्रत्येक मनुष्य को गुण में और कार्यों में उभयलिंगी होना

चाहिये। बहुत से मनुष्य इतने भावुक होते हैं कि बुद्धि की पर्वाह ही नहीं करते, वे एकलिंगी-नारीत्ववान् मनुष्य अपनी भावुकता से जगत को जहां कुछ देते हैं वहां बुद्धि-हीनता के कारण जगत का काफ़ी नुकसान कर जाते हैं। इसी प्रकार बहुत से मनुष्य जीवन भर अवसर अन-वसर देखे बिना बुद्धि की कसरत दिखाते रहते हैं उनमें भावुकता होती ही नहीं। वे अपनी तार्कि-कता से जहां जगत को कुछ विचारकता देते हैं वहां भावुकता न होने से विचारकता का उप-योग नहीं कर पाते। और दिग्भ्रम में ही उनका जीवन समाप्त होता है। ये एकलिंगी पुरुषत्ववान् मनुष्य भी देने की अपेक्षा हानि अधिक कर जाते हैं, इसलिये ज़रूरत इस बात की है कि मनुष्य बुद्धि और भावना का समन्वय कर उभय-लिंगी बने तभी उसका जीवन सफल हो सकता है।

नारीत्व और नरत्व के सभी गुण हरएक मनुष्य पा सके यह तो कठिन है फिर भी खास खास गुण और कार्य हरएक मनुष्य में अवश्य होना चाहिये। बुद्धि और भावना का समन्वय उसमें मुख्य है। इसके अतिरिक्त शक्ति और सेवा का समन्वय, यथासाध्य कला और विज्ञान का समन्वय काम और मोक्ष का समन्वय, उपा-र्जन और रक्षण का समन्वय हरएक मनुष्य में होना चाहिये। सुविधा के अनुसार अगर नारी-का कार्यक्षेत्र घर और पुरुष का कार्य क्षेत्र बाहर बना लिया गया है तो वह भले ही रहे परन्तु एक दूसरे के काम में थोड़ी बहुत भी सहायता कर सकने लायक योग्यता न हो तो यह अधूरा जीवन दुःखप्रद होगा। एक दूसरे का काम थोड़े बहुत अंश में कर सकें ऐसी योग्यता हरएक में होना चाहिये और जीवनचर्या भी आवश्यकता-नुसार उसके अनुरूप ही बनाना चाहिये।

प्रश्न--जगत में जो राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि महापुरुष हो गये हैं उन सबके जीवन एकलिंगी [पुरुष लिंगी] ही थे फिर भी ये महान् हुए, जगत की महान् सेवा कर सके। क्या एकलिंगी होने से आप इन्हें अपूर्ण या मध्यम श्रेणी का जीवन कहेंगे?

उत्तर--एकलिंगी जीवन भी महान् हो सकता है। फिर भी वह आदर्श और पूर्ण हो नहीं सकता। किसी के पास अगर लाख रुपये के गेहूं हैं तो उसके द्वारा वह पेट भर सकता है, दान दे सकता है, लखपति कहला सकता है परन्तु स्वादिष्ट और स्वास्थ्य-कर भोजन के लिये उसे गेहूँ के बदले में दाल चावल शाक नमक आदि लाना पड़ेगा। एक लाख के गेहूं से महत्ता पैदा होगी, स्वादिष्टता और स्वास्थ्य-करता नहीं। इसी प्रकार बहुत से महापुरुष महान् होकर के भी एकलिंगी होते हैं उनकी महत्ता से लाभ उठाना चाहिये, आदर्श जीवन बनाने के लिये उनमें जो सामग्री मिल सके वह लेना चाहिये। आदर्श या अनुकरणीय तो उभयलिंगी जीवन है।

परन्तु ऊपर जिन महापुरुषों के नाम लिये गये हैं उनके जीवन एकलिंगी जीवन नहीं हैं। उनमें सभी के जीवन उभयलिंगी हैं। म. कृष्ण तो आदर्श ही हैं। उनने कंस-वध, शिशुपाल-वध आदि में वीरता का तथा अन्य अनेक पुरुषोचित गुणोंका परिचय देकर जहाँ पुरुषत्व का परिचय दिया है वहाँ हास्य, विनोद, संगीत, सेवा, प्रेम, वात्सल्य आदि का परिचय देकर नारीत्व का परिचय भी दिया है। भावुकता और बुद्धिमत्ता का उनके जीवन में इतना सुन्दर समन्वय हुआ है कि उसे असाधारण

कहा जा सकता है और एक इसी बात से वे उभयलिंगी के रूपमें हमारे सामने आते हैं। महापुरुषों का उभयलिंगीपन उनकी भावुकता और बुद्धिमत्ता के समन्वय से जाना जा सकता है, प्रेम और विवेक, सेवा और वीरता का समन्वय भी उभयलिंगीपन के चिह्न हैं, ये बातें उपर्युक्त सभी महापुरुषों में पाई जातीं हैं।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी की वीरता तो प्रसिद्ध ही है। न्यायप्राप्त राज्य का त्याग, पत्नी के लिये एक असाधारण महान् सम्राट् से युद्ध, प्रजानुरंजन के लिये सीता का भी त्याग, आवश्यक रहने पर भी और समाज की अनुमति मिलने पर भी एक पत्नी रहते दूसरी का ग्रहण न करना इस प्रकार की भावुकता के सामने बड़ी बड़ी भावुकताएँ पानी भरेंगी। इस प्रकार म. राम में हम बुद्धि, भावना और शक्ति का पूरा समन्वय पाते हैं। जङ्गल में जाकर वे बिना किसी सम्पत्ति और नौकर चाकर के गार्हस्थ्यजीवन बिता सके इससे उन की गृहकार्य-कुशलता मालूम होती है। उन की प्रामाणिक दिनचर्याका परिचय नहीं मिलता, नहीं तो उनके अन्य कार्य भी बताये जासकते।

म. महावीर और म. बुद्ध तो महान् तार्किक और क्रान्तिकारी थे गृहत्याग करके उनने जनसेवा का काफ़ी पाठ पढ़ाया था। अपनी अपनी साधु-संस्था में उनेने खान पान स्वच्छता आदि के बारे में साधुओं को स्वावलम्बी बनाया था। वे स्वयं स्वावलम्बी थे। इस प्रकार उन में पुरुषत्व और नारीत्वका पूरा समन्वय था।

म. ईसा में पुरुषत्व तो था ही, जिस के बलपर वे मन्दिरों के महन्तों के सामने सात्विक युद्ध करते थे, कुरूढ़ियों को नष्ट करते थे। इधर उन की दीनसेवा इतनी अधिक थी कि नारीत्व अपना सार भाग लेकर उन में चमक उठा था।

हज़रत मुहम्मद का योद्धा-जीवन तो प्रसिद्ध ही है पर क्षमा-शीलता, प्रेम आदि नारीत्व के गुण भी उन में कम नहीं थे। गृहकार्य में तत्परता तो उन में इतनी थी कि बादशाह बन जानेपर भी वे अपने ऊँट का खुंररा अपने हाथों से ही करते थे।

और भी अनेक महापुरुषों के जीवन को देखा जाय तो उनका जीवन उभयलिंगी मिलेगा। जिनमें ये दो बातें हैं, एक तो वह प्रेम, जिससे वे जनसेवा में जीवन लगाते हैं [नारीत्व] दूसरे वह बुद्धि और शक्ति जिससे वे विरोधियों का सामना करते हैं [पुरुषत्व], वे उभयलिंगी महापुरुष हैं।

प्रश्न— अगर इस प्रकार बुद्धि भावना के समन्वय से ही मनुष्य उभयलिंगी माने जाने लगेंगे तो प्रायः सभी आदमी उभयलिंगी हो जाँयगे। क्योंकि थोड़ी बहुत बुद्धि और भावना सभी में पाई जाती है।

उत्तर—एक भिखारी के पास भी थोड़ा बहुत धन होता है पर इसीसे उसे धनवान् नहीं कहते। धनवान् होने के लिये धन काफ़ी मात्रा में होना चाहिये। इसी प्रकार बुद्धि और भावना जहां काफ़ी मात्रा में हो और उनका समन्वय हो वहीं उभयलिंगी जीवन समझना चाहिये।

प्रश्न—क्या बुद्धि--भावना--समन्वय से ही उभयलिंगी जीवन बन जायगा? जो मनुष्य स्त्रियोचित या पुरुषोचित आवश्यक काम भी नहीं कर पाता क्या वह भी उभयलिंगी जीवनवाला है।

उत्तर—नहीं, हम जिस परिस्थिति में हैं उससे कुछ अधिक ही स्त्रियोचित और पुरुषोचित कार्य करने की क्षमता हमारे भीतर होना चाहिये

क्योंकि परिस्थिति बदल भी सकती है। इस विषय का कोई निश्चित माप तो नहीं बनाया जा सकता परन्तु साधारणतः अपनी आवश्यकता को पूर्ण करने वाला, नई परिस्थितियों के अनुकूल हो सकने वाला, समन्वय अवश्य होना चाहिये। बुद्धि भावना का समन्वय तो आवश्यक है ही। इसी तरह शक्ति [फिर वह शारीरिक, वाचनिक या मानसिक कोई भी हो] और व्यवस्था का समन्वय भी आवश्यक है। थोड़ी बहुत न्यूनाधिकता का विचार नहीं है पर दोनों अंश पर्याप्त मात्रा में हों तो वह उभयलिंगी जीवन होगा। लैंगिक दृष्टि से यह पूर्ण मनुष्य है।

नर और नारी के जीवन का व्यावहारिक रूप क्या होना चाहिये इस पर एक लम्बा पुराण बन सकता है। इस विषय में यथाशक्ति थोड़ा व्यवहार कांड में लिखा जायगा। यहां तो सिर्फ यह बताया गया है कि नर नारी के जीवन के विषयमें हमारी दृष्टि कैसी होना चाहिये? नर-नारी-व्यवहार के अच्छे बुरेपन की परीक्षा जिस दृष्टि से करना चाहिये वही दृष्टि यहाँ बताई गई है।

यत्नजीवन

[तीनभेद]

मानवजीवन यत्न-प्रधान है। मनुष्य का बच्चा प्रायः अन्य सब जानवरों की अपेक्षा अधिक कमजोर और असमर्थ होता है। गाय भैंस का बच्चा एक दिन का जितना समझदार ताकतवर, चपल और स्वाश्रयी होता है उतना मनुष्य का बच्चा वर्षों में भी नहीं हो पाता। फिर भी मनुष्य का बच्चा अपने जीवन में जितना विकास करता है उतना कोई भी दूसरा प्राणी नहीं कर पाता। पशुओं के विकास के इस किनारे से उस किनारे में जितना अन्तर है उससे बीसों गुणा अन्तर मनुष्य के विकास के इस किनारे से उस किनारे तक है। इतना लम्बा फासला दूर करने के लिये मनुष्य को पशुओं की अपेक्षा बीसों गुणा यत्न भी करना पड़ता है। इसलिये मनुष्य यत्न-प्रधान प्राणी है। इसके जीवन में जानवरों की अपेक्षा दैव या भाग्य की मुख्यता नहीं है। फिर भी कुछ मनुष्य ऐसे हैं कि जो दैव के भरोसे बैठे रहते हैं और कुछ पूरा यत्न नहीं करते इस विषय को लेकर मानव-जीवन की तीन श्रेणियाँ होतीं हैं। १ दैववादी, २ दैव-प्रधान। ३ यत्न-प्रधान।

१ दैववादी—दैववादी वे अकर्मण्य मनुष्य हैं जो स्वयं कुछ करना नहीं चाहते, दूसरे करुणा-वश कुछ दे देते हैं उसे अपना भाग्य समझते हैं अपनी दुर्दशा और पतन को भी दैव के मत्थे मढ़ देते हैं और अपने दोष नहीं देखते, ये जघन्य श्रेणी के मनुष्य हैं।

२ दैवप्रधान—दैवप्रधान वे हैं जो परिस्थिति जरा प्रतिकूल हुई कि दैव का रोना रोने लगते हैं और कुछ नहीं कर पाते।

३ यत्नप्रधान—यत्न-प्रधान वे हैं जो दैव की पर्वाह नहीं करते। वे यही सोचते हैं कि दैव अपना काम करे और मैं अपना करूंगा। परिस्थिति अगर प्रतिकूल हो तो वे उसकी भी पर्वाह नहीं करते। दैव का अगर जोर चल भी जाता है तो वे निराश नहीं होते एक बार असफल होकर भी कार्य में डटे रहते हैं। विधाता की रेख पर मेख मारना यह कहावत जिनके कार्यों के लिये प्रसिद्ध है वे ही यत्न-प्रधान हैं। बड़े बड़े क्रांतिकारी वीर तीर्थंकर पैगम्बर अवतार साम्राज्य-संस्थापक आदि इसी श्रेणी के होते हैं।

इन तीनों का अन्तर समझाने के लिये एक उपमा देना ठीक होगा। एक आदमी ऐसा है जो पकी-पकाई रसोई तैयार मिले तो भोजन कर लेगा नहीं तो भूखा पड़ा रहेगा-वह दैववादी है। दूसरा ऐसा है जो अपने हाथ से पकाकर खा सकता है लेकिन पकाने की सामग्री न मिले तो भूखा रहेगा वह दैव-प्रधान है। तीसरा ऐसा है जो हर हालत में पेट भरने की कोशिश करेगा। सामग्री न होगी तो बाज़ार से ख़रीद लायेगा, पैसा न होंगे तो मिहनत मजूरी से पैसा पैदा करेगा या खेती करके अनाज उत्पन्न करेगा यह यत्न-प्रधान है। इस उपमा से तीनों का अन्तर ध्यान में आ जायगा।

प्रश्न–जैसे आपने दैववादी और दैवप्रधान दो भेद किये वैसे यत्नवादी और यत्न-प्रधान ऐसे दो भेद क्यों नहीं करते हैं?

उत्तर–दैववादी और दैवप्रधान होने से कर्तृत्व में अन्तर होता है परन्तु यत्नवादी और यत्न-प्रधान होने से कर्तृत्व में अन्तर नहीं होता इसलिये इन में भेद बतलाना उचित नहीं।

प्रश्न–जो मनुष्य ईश्वर परलोक पुण्य पाप भाग्य आदि को मानता है वही दैववादी बनता है जो इनको नहीं मानता वह दैववादी किसके बलपर बनेगा? इसलिये मनुष्य नास्तिक बने यह सब से अच्छा है।

उत्तर—दैववादी बनने के लिये ईश्वर परलोक आदि मानने की ज़रूरत नहीं है। पशुपक्षी प्रायः सभी ईश्वर परलोक आदि नहीं मानते, नहीं समझते, फिर भी वे दैववादी हैं और बड़े बड़े नास्तिक भी अकर्मण्य और दैववादी होते हैं।

प्रश्न–दैव से आपका मतलब क्या है?

उत्तर–हमारी वर्तमान परिस्थिति जिन कारणों का फल है उनको हम दैव कहते हैं। जैसे मान-लीजिये कि जन्म से ही मैं कमज़ोर हूँ इस कमज़ोरी का कारण किसी के शब्दों में पूर्व जन्म के पाप का उदय है, किसी के शब्दों में माता पिता की अमुक भूल है, किसी के शब्दों में प्रकृति का प्रकोप है। इस प्रकार आस्तिक और नास्तिक सभी के मत से उस कमज़ोरी का कुछ न कुछ कारण है। यही दैव है, वह ईश्वर प्रकृति कर्म आदि कुछ भी हो सकता है इसलिये दैवको आस्तिक भी मानते हैं और नास्तिक भी मानते हैं।

प्रश्न–तब तो दैव एक सत्य वस्तु मालूम होती है फिर दैववाद में बुराई क्या है जिससे दैववादी को आप जघन्य श्रेणी का कहते हैं।

उत्तर–दैव बात दूसरी है और दैववाद बात दूसरी। दैव सत्य है परन्तु दैववाद असत्य। जब दैव की मान्यता यत्न के ऊपर आक्रमण करने लगती है तब उसे दैववाद कहते हैं। जैसे जो आदमी जन्म से कमज़ोर या ग़रीब है वह अगर कहे कि मेरी यह कमज़ोरी और ग़रीबी भाग्य से है तो इसमें कोई बुराई नहीं है यह दैव का विवेचन-मात्र है परन्तु जब वह यह सोचता है कि 'मैं ग़रीब बना दिया गया, कमज़ोर बना दिया गया अब मैं क्या कर सकता हूं, जो भाग्य में था सो हो गया, अब क्या! जो कुछ भाग्य में होगा सो होकर रहेगा अपने करने से क्या होता है' यह दैववाद है इससे मनुष्य कर्म में अनुत्साही, कायर और अकर्मण्य बनता है। पशुओं में यही बात पाई जाती है, वे दैव का विवेचन नहीं कर सकते हैं परन्तु दैवने उन्हें जैसा बना दिया है उससे ऊंचे उठनेकी कोशिश नहीं कर सकते, उनका विकास उनके प्रयत्न का फल नहीं किन्तु प्रकृति या दैव का फल

होता है । कोई पशु बीमार हो जाय तो बाकी पशु उसका साथ छोड़ कर भाग जाँयगे और वह मरने की बाट देखता हुआ मर जायगा । कोई कोई पशु और पक्षियों में इससे कुछ ऊँची अवस्था भी देखी जाती है पर वह बहुत कम होती है अथवा उतने अंशों में उन्हें दैव-प्रधान या यत्न-प्रधान कहा जा सकता है ।

प्रश्न--बड़े बड़े महात्मा लोग भी दैव के ऊपर भरोसा रख कर निश्चिन्त जीवन बिताते हैं वे भविष्य की चिन्ता नहीं करते-यह भी दैववाद है । अगर दैववाद से मनुष्य महात्मा बन सकता है तब दैववाद सर्वथा निंदनीय कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर--पशु की निश्चिन्तता में और महात्मा की निश्चिन्तता में अन्तर है । पशु की निश्चिन्तता अज्ञान का फल है और महात्मा की निश्चिन्तता ज्ञान का फल । दैववाद की निश्चिन्तता एक तरह की जड़ता या अज्ञानता का फल है । महात्मा लोग तो यत्न-प्रधान होते हैं इसीलिये वे महात्मा बन जाते हैं । दैव के भरोसे मनुष्य महात्मा नहीं बन सकता । दैववादी तो जैसा पशुतुल्य पैदा होता है वैसा ही बना रहता है उसका आत्मिक विकास नहीं होता । आत्मिक विकास के लिये भीतरी और बाहरी काफ़ी प्रयत्न करना पड़ता है । एक बात यह भी है कि महात्माओं की निश्चिन्तता भी कर्मफल की निश्चिन्तता होती है, कर्म की नहीं । अवस्था-समभावी होने के कारण वे कर्म-फल की पर्वाह नहीं करते, पर कर्म की पर्वाह तो करते हैं । कर्मफल की तरफ़ से जो लापर्वाही है वह दैववाद का फल नहीं अवस्था समभावका फल है ।

प्रश्न--दैव और यत्न इन में प्रधान कौन है और किस की शक्ति अधिक है ? यत्न की शक्ति अगर अधिक हो तब तो यत्न-प्रधान होने का फल है नहीं तो दैव-प्रधान ही मनुष्य को बनना चाहिये ।

उत्तर--अगर दैव की शक्ति अधिक हो तो भी हमें दैव-प्रधान न बनना चाहिये । हमारे हाथ में यत्न है इसलिये यत्न-प्रधान ही हमें बनना चाहिये । हम जानते हैं कि एक ही भूकम्प में हमारे गगनचुंबी महल राख हो सकते हैं और हो जाते हैं फिर भी हम उन्हें बनाते हैं और भूकम्प के बाद भी बनाते हैं और उससे लाभ भी उठाते हैं । समुद्र के भयंकर तूफ़ान में बड़े बड़े जहाज उलट जाते हैं फिर भी हम समुद्र में जहाज चलाते हैं । प्रकृति की शक्ति के सामने मनुष्य की शक्ति ऐसी ही है जैसे पहाड़ के सामने एक कण, फिर भी मनुष्य प्रयत्न करता है और इसीसे मनुष्य अपना विकास कर सका है । इसलिये दैव की शक्ति भले ही अधिक हो परन्तु उसे प्रधानता नहीं दी जा सकती । दैव की शक्ति कितनी भी रहे परन्तु देखना यह पड़ता है कि अमुक जगह और अमुक समय उसकी शक्ति कितनी है ? उस जगह हमारा यत्न काम कर सकता है या नहीं ? शीत ऋतु में जब चारों तरफ़ कड़ाके की ठंड पड़ती है तब हम उस को हटाने की ताक़त नहीं रखते परन्तु ठंड के उस विशाल समुद्र में से जितनी हमारे कमरे में या शरीर के आसपास है उसे दूर करने का यत्न हम करते हैं, अग्नि या कपड़ों के द्वारा हम उस ठंड से बचे रहते हैं । यह प्रकृति पर मनुष्य की विजय है-इसे ही हम दैव पर यत्न की विजय कह सकते हैं । जहाँ दैव की प्रतिकूलता अधिक और यत्न कम होता है वहाँ यत्न हार जाता है और जहां दैव की प्रतिकूलता कम और यत्न

अधिक है वहाँ दैव हार जाता है। इसलिये यत्न सदैव करते रहना चाहिये।

एक बात और है कि दैव की शक्ति कहाँ, कितनी और कैसी है यह हम नहीं जान सकते, दैव की शक्ति का पता तो हमें तभी लगता है जब कि अनेक बार ठीक ठीक और पूरा प्रयत्न करने पर भी हमें सफलता न मिले। इसलिये दैव की शक्ति आजमाने के लिये भी तो यत्न की आवश्यकता है। और इस का परिणाम यह होगा कि हमें यत्नशील होना पड़ेगा।

कभी कभी ऐसा होता है कि दैव की शक्ति यत्न से क्षीण की जाती है, शुरू में तो ऐसा मालूम होता है कि यत्न व्यर्थ जा रहा है पर अन्त में यत्न सफल होता है। जैसे एक आदमी के पेट में खूब विकार जमा हुआ है, उस विकार से उसे बुखार आया इसलिये लंघन की पर फिर भी बुखार न उतरा, आता ही रहा, तो यहाँ बुखार का कारण लंघन नहीं है लंघन तो बुखार को दूर करने का कारण है परन्तु जब तक लंघनें जितनी चाहिये उतनी नहीं हुईं तब तक बुखार का जोर रहेगा और लंघनें चालू रहने पर चला जायगा। पेट में जमा हुआ विकार यदि दैव है तो लंघन यत्न। प्रारम्भ में दैव बलवान है इसलिये लंघन-रूप यत्न करने पर भी सफलता नहीं मिलती परन्तु यत्न जब चालू रहता है तब दैव की शक्ति क्षीण हो जाती है और यत्न सफल हो जाता है। मतलब यह है कि प्रतिकूल दैव यदि बलवान् हो तो भी यत्न से निर्बल हो जाता है और अनुकूल दैव यदि बलवान् हो किन्तु यत्न न मिले तो उससे लाभ नहीं हो पाता। इस प्रकार यत्न हर हालत में आवश्यक है इसलिये यत्न-प्रधान बनना ही श्रेयस्कर है।

प्रश्न–दैव और यत्न ये एक गाड़ी के दो पहिये हैं तब एक ही पहिये से गाड़ी कैसे चलेगी?

उत्तर–इस उपमा को अगर और ठीक करना हो तो यों कहना चाहिये कि दैव गाड़ी है और यत्न बैल। गाड़ी न हो तो बैल किसे खींचेंगे और बैल न हों तो गाड़ी को खींचेगा कौन? इसलिये दोनों की ज़रूरत है। पर सारथी का काम बैलों को हाँकना है-गाड़ी बनाना नहीं। गाड़ी उसे जैसी मिल जाय उसे लेकर अपने बैलों से खिंचवाना उसका काम है यही उसकी यत्न-प्रधानता है, दैव ने जो सामग्री उपस्थित कर दी उसका अधिक से अधिक और अच्छा से अच्छा उपयोग करना मनुष्य का काम है इसलिये मनुष्य यत्न-प्रधान है।

प्रश्न-मनुष्य कितना भी प्रयत्न करे परन्तु होगा वही जो होनहार या भवितव्य है। इसलिये यत्न तो भवितव्य के अधीन रहा, यत्न-प्रधानता क्या रही?

उत्तर--यत्न वर्तमान की चीज़ है और होनहार भविष्य की चीज़ है। भविष्य वर्तमान का फल होता है वर्तमान भविष्य का फल नहीं इसलिये होनहार यत्न का फल है। यत्न होनहार का फल नहीं। जैसा हमारा यत्न होगा वैसी ही होनहार होगी। इसलिये जीवन यत्न प्रधान ही हुआ।

प्रश्न--कहा तो यों जाता है कि "इसकी होनहार खराब है इसीलिये तो इसकी अक्ल मारी गई है, वह किसी की नहीं सुनता अपनी ही अपनी करता चला जाता है"। इस प्रकार के वाक्य-प्रयोग होनहार को निश्चित बताते हैं और अक्ल मारी जाने आदि को उसके अनुसार बताते हैं।

उत्तर--यह वाक्य-रचना की शैली है या

अलंकार है । जब मनुष्य ऐसे काम करता है कि जिसके अच्छे बुरे फलका निश्चय जनता को हो जाता है तब वह इसी तरह की भाषा का प्रयोग करती है । एक आदमी को दस्त ठीक नहीं होता, भूख भी अच्छी नहीं लगती फिर भी स्वाद के लोभ से ठूंस ठूंस कर खूब खा जाता है तब हम कहते हैं कि इसे बीमार पड़ना है इसलिये यह खूब खाता है अथवा इसकी होनहार खराब है इसलिये यह खूब खाता है ।

वास्तव में वह आदमी बीमार होना नहीं चाहता फिर भी बीमार होने का कारण इतना साफ़ है कि उसे देखते हुए अगर कोई उससे नहीं हटता तो उसकी तुलना उसीसे की जा सकती है जो जानबूझ कर बीमार होना चाहता है, यह अलंकार है । इसी प्रकार वह मनुष्य बीमार होने वाला है इसलिये अधिक खा रहा है यह बात नहीं है किन्तु अधिक खा रहा है इसलिये बीमार होगा । परन्तु बीमारी का कारण इतना स्पष्ट रहने पर भी वह नहीं समझता और उसका फल इतना निश्चित है जैसा कि कारण निश्चित है इसलिये कार्य-कारण-व्यत्यय किया गया है । बीमारी रूप कार्य को कारण के रूप में और अधिक भोजनरूप कारण को कार्य के रूपमें कहा गया है । भाषा की इस विशेष शैली से तर्कसिद्ध अनुभव-सिद्ध कार्य-कारण भाव उलट-पलट नहीं हो सकता । इस प्रकार भवितव्य यत्न का फल है इसलिये जीवन यत्न-प्रधान है ।

प्रश्न—कथा-साहित्य के पढ़ने से पता लगता है कि भवितव्य पहिले से निश्चित हो जाता है और उसीके अनुसार मतिगति होती है । एक शास्त्र में (गुणभद्र का उत्तरपुराण) कथन है कि सीता रावण की पुत्री थी और उसके जन्म के समय ज्योतिषियों ने कह दिया था कि इस पुत्री के निमित्त से रावण की मृत्यु होगी । इसलिये रावणने सुदूर उत्तर में-जनक राज्य के एक खेत में-वह लड़की छुड़वादी जिसे जनक ने पाला । इस प्रकार रावण ने उस लड़की के निमित्त से बचने की कोशिश की परन्तु आखिर वह उसी के कारण मारा गया । इसी प्रकार कंसने भी देवकी के पुत्र से बचने के लिये बहुत कोशिश की किन्तु कृष्ण के हाथ से उसकी मौत न टली इससे भवितव्यता की निश्चितता और प्रबलता मालूम होती है ।

उत्तर—एक बार विधाता ने एक आदमी के भाग्य में लिख दिया कि इसके भाग्य में एक काला घोड़ा ही रहेगा इससे अधिक वैभव इसे कभी न मिलेगा न इसमें कम होगा, उस आदमी को विधाता की इस बात से बहुत दुःख हुआ, और ज्यों ही उसे काला घोड़ा मिला उसने उसे मार डाला । विधाताने फिर उसे दूसरा काला घोड़ा दिलाया उसे भी उसने मार डाला । विधाता ज्यों ज्यों उसे ढूँढ़ ढूँढ़ कर काला घोड़ा देते वह उन्हें तुरन्त मारता जाता । अब विधाता बड़े परेशान हुए, उनने उसे समझाया कि तू काले घोड़े मत मार पर वह राज़ी न हुआ । वह राज़ी हुआ तब जब उसने विधाता से राज्य-वैभव मांग लिया ।

यह भी एक कहानी है जो किसीने दैव के ऊपर यत्न की विजय बतलाने के लिये कल्पित की है । किसीने दैव की महत्ता बताने के लिये रावण और कंस की कथाओं में ज्योतिषियों का कल्पित वार्तालाप जोड़ा तो किसीने यत्न की मुख्यता बताने के लिये कहानी गढ़ डाली । इस प्रकार की कहानियाँ या वार्तालाप इतिहास नहीं हैं किंतु

बालहृदयों के ऊपर दैव या यत्न की छाप मारने के लिये की गई कल्पनाएँ हैं। विचार के लिये इन कल्पनाओं को आधार नहीं बनाया जा जा सकता इसके लिये अपना जीवन या वर्तमान जीवन देखना चाहिये। ज्योतिषियों के द्वारा जो भविष्य-कथन किये जाते हैं उनसे अनर्थ ही होता है। ऊपर के रावण और कंस के उदाहरणों को ही देखो। यदि सीता के विषय में ज्योतिषियों ने भविष्य-कथन न किया होता तो सीता रावण के घर में पुत्री के रूप में पली होती फिर सीता-हरण क्यों होता और रावण की मौत क्यों होती? देवकी के पुत्रके विषय में अगर ज्योतिषी ने भविष्यवाणी न की होती तो कंस अपने भानजों की हत्या क्यों करता और जन्म-जात वैर मोल क्यों लेता वह अपने भानजों से प्यार करता और ऐसी हालत में इसकी सम्भावना नहीं थी कि श्रीकृष्ण अपने प्यारे मामा की हत्या करते। जैन पुराणों के अनुसार श्री नेमिनाथ ने कह दिया था कि श्रीकृष्ण की मौत जरत्‌कुमार के हाथ से होगी। जरत्‌-कुमार श्रीकृष्ण को प्यार करते थे इसलिये उन्हें बड़ा खेद हुआ और उनके हाथसे श्रीकृष्ण की मौत न हो इसलिये जंगल में चले गये पर जंगल में चला जाना ही जरत्कुमार के हाथसे श्रीकृष्ण की मृत्यु का कारण हुआ। अगर भविष्यवाणी के फेर में न पड़ते तो ये दुर्घटनाएँ न होतीं। एक तो ये भविष्य-वाणियाँ कल्पित हैं और अगर तथ्यरूप होतीं तो भी अनर्थकर थीं।

हर एक मनुष्य को चाहिये कि वह महान बनने की कोशिश करे। वह मानले कि मैं तीर्थंकर, सम्राट्, राजा, अध्यक्ष, महाकवि, महान् दार्शनिक, महान् वैज्ञानिक, कलाकार, वीर, बन सकता हूँ। वह इन में से एक बात रुचि के अनुसार चुनले और यत्न करने लगे। अगर दैव प्रतिकूल है तो वह अपना फल देगा और हमारा यत्न निष्फल करेगा पर जितने अंश में दैव यत्न को निष्फल बनायगा उससे बचा हुआ यत्न सफल होगा। सच्चा यत्न सर्वथा निष्फल नहीं जाता। भविष्यवाणी, भवितव्यता आदि के फेर में पड़कर वह उदासीन या हतोत्साह न बने, यत्न बराबर करता रहे। असफलता होनेपर घबराये नहीं सिर्फ़ यह देखले कि कहीं मुझसे भूल तो नहीं हुई है। अगर भूल न हो तो दैव के विरुद्ध रहने पर भी कर्तव्य करता रहे। यत्न शक्ति के अनुसार ही करे पर हतोत्साह होकर शक्ति को निकम्मी न बनाये। वह यत्न-प्रधान व्यक्ति दैव के विषय में अज्ञानी नहीं होता, सिर्फ़ उसकी अवहेलना करता है, अथवा दैव को अपना काम करने देता है और वह अपना यत्न करता है। आज मानव समाज पशुओं से जो इतनी उन्नति पर पहुँचा है उसका कारण उसकी यत्न-प्रधानता है।

शुद्धि-जीवन

[चारभेद]

शुद्धि-अशुद्धि की दृष्टि से भी जीवन की उन्नति अवनति का पता लगता है। किसी वस्तु में किसी ऐसी वस्तु का मिल जाना जिससे मूल वस्तु की उपयोगिता कम हो जाय या नष्ट हो जाय वह अशुद्धि है और मूल की तरह उपयोगी बना रहना शुद्धि है। जैसे पानी में मिट्टी धूल आदि पड़ जाने से उसकी उपयोगिता कम हो जाती है इसलिये वह अशुद्ध पानी कहलाता है। शुद्धि-अशुद्धि का व्यवहार सापेक्ष है। किसी दूसरी चीज़ के मिलने पर कभी कभी हम उसे शुद्ध कह देते हैं, कभी कभी

अशुद्ध। जैसे शक्कर मिला हुआ पानी या गुलाब केवड़ा आदि से सुगंधित पानी शुद्ध कहा जाता है परन्तु जहां पानी का उपयोग मुँह साफ़ करने के लिये करना हो वहाँ शक्कर का पानी भी अशुद्ध कहा जायगा। ऐसी बीमारी में पानी का उपयोग करना हो जिसमें गुलाब और केवड़ा नुक़सान करें तो गुलाब-जल आदि भी अशुद्ध कहे जाँयँगे।

साधारणतः शुद्धि के तीन भेद हैं—

१ निर्लेप शुद्धि २ अल्पलेप शुद्धि ३ उप-युक्त शुद्धि।

१ निर्लेप शुद्धि उसे कहते हैं जिस में किसी दूसरी चीज़ का अणुमात्र भी अंश नहीं होता। जैसे जैन सांख्य आदि दर्शनों के अनुसार मुक्तात्मा। इस प्रकार के शुद्ध पदार्थ कल्पना से ही समझे जा सकते हैं। भौतिक पदार्थों की निर्लेप शुद्धि का भी हम कल्पना से विश्लेषण कर सकते हैं।

२ अल्पलेप शुद्धि में इतना कम मैल होता है जिस पर दूसरे पदार्थों की तुलना में उपेक्षा की जाती है। जैसे गंगाजल शुद्ध कहा है इस का यह मतलब नहीं है कि गंगाजल में मैल नहीं होता, होता है पर दूसरे जलाशयों की अपेक्षा बहुत कम होता है। साधारणतः जल में जितना मैल रहा करता है उससे भी कम मैल हो तो उसे शुद्ध जल कहते हैं यह अल्पलेप-शुद्धि है।

३-उपयुक्त शुद्धि का मतलब यह है कि जिस शुद्धि से उस वस्तु का उचित उपयोग होता रहे। यह शुद्धि दूसरी चीज़ों के मिश्रण होनेपर भी मानी जाती है जैसे गुलाब-जल आदि या साधारणतः स्वच्छ और छना हुआ पानी। शुद्धि जीवन के प्रकरण में इस तीसरी प्रकार की शुद्धि से ही विशेष मतलब है।

जीवन की शुद्धि पर विचार करते समय हमें दो तरफ़ को नज़र रखना पड़ती है एक भीतर की ओर दूसरे बाहर की ओर। शरीर की या शरीर से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों की इन्द्रियों के विषयों की शुद्धि बाह्य शुद्धि है और मनोवृत्तियों की शुद्धि अन्तः-शुद्धि है। इन दोनों प्रकार की शुद्धियों से जीवन आदर्श बनता है। शुद्धि अशुद्धि की दृष्टि से जीवन के चार भेद होते हैं। १ अशुद्ध २ बाह्यशुद्ध ३ अन्तःशुद्ध ४ उभयशुद्ध।

१ अशुद्ध—जिनका न तो हृदय शुद्ध है न रहन सहन शुद्ध है वे अशुद्ध प्राणी हैं। एक तरफ़ तो वे तीव्र स्वार्थी, विश्वासघाती और क्रूर हैं दूसरी तरफ़ शरीर से गंदे, कपड़ों से गंदे, खान-पान में गंदे हैं। घर की सफ़ाई न करें, जहां रहें उसके चारों तरफ गंदगी फैला दें, ये पशुतुल्य प्राणी अशुद्ध प्राणी हैं। बल्कि अनेक पशु सफ़ाई पसन्द भी होते हैं पर ये उनसे भी गये बीते हैं।

कहा जाता है कि इसका मुख्य कारण ग़रीबी है। ग़रीबी के कारण लोग बेईमान भी हो जाते हैं और गंदे भी हो जाते हैं, जब पैसा ही नहीं है तब कैसे तो सफ़ाई करें और कैसे सजावट करें?

इसमें सन्देह नहीं कि ग़रीबी दुःखद है पर अशुद्धता का उससे कोई सम्बन्ध नहीं। बाह्य-शुद्धि के लिये पैसे की नहीं परिश्रम की ज़रूरत है। घर को साफ़ रखना, कचरा चारों तरफ़ न फैला कर एक जगह एकत्रित रखना, शरीर स्वच्छ रखना, कपड़े स्वच्छ रखना, अर्थात् उनसे दुर्गंध न निकले इसका ख़याल रखना, इसके लिये अमीरी ज़रूरी नहीं है, ग़रीबी में भी इन बातों का ध्यान रक्खा जा सकता है। अमीरी में श्रृंगार के लिये कुछ सुविधा होती है पर श्रृंगार और

सफ़ाई में बहुत अन्तर है। बहुतसी धनवान स्त्रियां गहने कपड़ों से खूब सजी हुई रहती हैं परन्तु साफ़ बिल्कुल नहीं रहतीं, उनके घर सजावट के सामान से लदे रहेंगे पर सफ़ाई न दिखेगी। शृंगार का शुद्धि से सम्बन्ध नहीं है। शुद्धि का सम्बन्ध सफ़ाई से है। सफ़ाई अमीर ग़रीब सब रख सकते हैं।

कहीं कहीं तो सामूहिक रूप में अशुद्ध जीवन पाया जाता है। जैसे अनेक स्थानों पर ग्रामीण लोग गांव के पास ही शौच को बैठते हैं, रास्तों पर शौच को बैठते हैं, घर के चारों तरफ़ टट्टी आदि मल की दुर्गंध आती रहती है यह सब अशुद्ध जीवन के चिन्ह हैं जिसे पशुताके चिह्न समझना चाहिये।

ग्रामीणों में यह पशुता रहती है सो बात नहीं है नागरिकों में भी यह कम नहीं होती, कदाचित् उसका रूप दूसरा होता है। बाग़ में घूमने जायेंगे तो गंदा कर देंगे, जूठन डाल देंगे, यह न सोचेंगे कि कल यहीं हमें आना पड़ेगा, ट्रेन में बैठेंगे तो भीतर ही थूकेंगे ये सब अशुद्ध जीवन के चिह्न हैं। इसका ग़रीबी से या ग्रामीणता से कोई सम्बन्ध नहीं है, ये अमीरों में और नागरिकों में भी पाये जाते हैं और ग़रीबों में और ग्रामीणों में भी नहीं पाये जाते।

इसी प्रकार अन्तःशुद्धि का भी अमीरी ग़रीबी से कोई ताल्लुक़ नहीं है। यद्यपि ऐसी भी घटनाएँ होतीं हैं जब मनुष्य के पास खाने को नहीं होता और चोरी करता है पर ऐसी घटना हज़ार में एकाध ही होती है। बेईमानी का अधिकांश कारण मुफ्तख़ोरी और अत्यधिक लोभ होता है। एक ग़रीब आदमी किसी के यहाँ नौकर है या किसी ने मज़दूरी के लिये बुलाया है, इससे उसको अधिक नहीं तो रूखी रोटी खाने को मिल ही जायगी इसलिये उसे चोरी न करना चाहिये, पर देखा यह जाता है कि जैसे बिच्छू बिना इस बात का बिचार किये कि यह हमारा शत्रु है या मित्र, अपना डंक मारता है उसी प्रकार ये लोग भी हितैषी के यहाँ भी चोरी करते हैं।

कहा जाता है कि जिन्हें रोटी नहीं मिलती उन्हें *ईमानदारी सिखाना उन का मजाक़ उड़ाना* है। परन्तु रोटी मिलने के लिये भी ईमानदारी सिखाना ज़रूरी है। कल्पना करो मेरे पास इतना पैसा है कि मैं साफ़ सफ़ाई के लिये या और भी घरू काम के लिये दो एक नौकर रख सकता हूं। मैंने दो एक ग़रीब आदमियों को रक्खा भी पर देखा कि वे चोर हैं उनके ऊपर मुझे नज़र रखना चाहिये पर नज़र रखने का काम काफ़ी समय लेता है इसलिये मैंने नौकरों को छुड़ादिया। सोचा इन लोगों की देख रेख करने की अपेक्षा अपने हाथ से काम कर लेना अच्छा। आदमी वेतन या मजूरीमें तो रुपये भी दे सकता है पर चोरी में पैसा नहीं दे सकता। इस कारण मुझे पैसों के लिये रुपये बचाने पड़े। वह ग़रीब नौकर दो एक बार कुछ पैसों की चोरी करके सदाके लिये रुपये खो गया। इस प्रकार बेईमानी ग़रीबी और बेकारी बढ़ाने को कारण ही बनी। मनुष्य को ईमान हर हालत में ज़रूरी है और गरीबी में तो और भी ज़रूरी है क्यों कि बेईमानी का दुष्परिणाम सहना ग़रीबी में और कठिन हो जाता है। ग़रीब हो या अमीर, बेईमानी विश्वासघात, चुगलखोरी आदि बातें अमीर ग़रीब सब को नुक़सान पहुँचाती हैं।

एक बार की विश्वासघातकता हज़ारों सज्जनों के मार्ग में रोड़े अटकाती हैं। अगर कोई आदमी हम से एक पुस्तक माँग के ले जाता है या एक रुपया उधार ले जाता है और फिर नहीं देता तो

इसका परिणाम यह होता है कि भले से भले आदमी को भी मैं रुपया उधार नहीं देता या पढ़ने को पुस्तक नहीं देता । विश्वासघातकता या लेन देन के मामले में अपने वायदे को पूरा न करना ऐसी बात है कि वह किसी भी हालत में की जाय उसका दुष्परिणाम काफ़ी मात्रा में होता है । हमारी छोटी सी बेईमानी के कारण भी हज़ारों सज्जन सुविधाओं से वञ्चित रहते हैं । इसलिये अमीरी हो या ग़रीबी, अपनी भलाई के लिये इस प्रकार की अन्तः-शुद्धि आवश्यक है । जिनमें यह अन्तः-शुद्धि भी नहीं है और बाह्य-शुद्धि भी नहीं है चाहे वे अमीर हों, ग़रीब हों, ग्रामीण हों नागरिक हों, शिक्षित हों अशिक्षित हों प्रतिष्ठित हों अप्रतिष्ठित हों उन्हें मनुष्य नहीं मनुष्याकार जन्तु ही कहना चाहिये ।

२ बाह्यशुद्ध — बाह्यशुद्ध वे हैं जिन में ईमानदारी संयम शान्ति आदि तो उल्लेखनीय नहीं हैं परन्तु साफसफाई का पूरा ख़याल रखते हैं । शरीर स्वच्छ, मकान वस्त्रादि स्वच्छ, भोजन स्वच्छ इस तरह जहाँ तक हृदय के बाहर स्वच्छता का विचार है वे स्वच्छ हैं पर हृदय स्वच्छ नहीं है । साधारणतः ऐसे लोग सभ्य श्रेणी में गिनेजाते हैं परन्तु वास्तव में वे सभ्य नहीं होते । सभ्यता के लिये बाह्यशुद्धि के साथ अन्तःशुद्धि भी चाहिये ।

बहुत से लोग शुद्धि के नामपर अशुद्धि बहुत बताते हैं और रही सही अन्तःशुद्धि का भी नाश करते हैं । वे शुद्धि के नामपर मनुष्यों से घृणा करना सीख जाते हैं । छूआछूत की बीमारी को वे शुद्धि का सार समझते हैं । अपनी जाति के आदमी के हाथ का गंदा से गंदा भोजन करेंगे परन्तु दूसरी जाति के आदमी के हाथ का स्वच्छ और शुद्ध भोजन भी न करेंगे । वे सिर्फ़ जाति पाँति में ही शुद्धि-अशुद्धि देखते हैं । हाड़ माँस के कल्पित भेद में ही शुद्धि अशुद्धि के भेद की कल्पना करते हैं । वे वास्तव में बाह्य-शुद्ध भी कठिनता से हो पाते हैं, एक तरह से अशुद्ध रहते हैं ।

प्रश्न - बाह्य शुद्धि में खानपान की शुद्धि का मुख्य स्थान है क्योंकि शरीर का भोजन शुद्धि के साथ सब से निकट सम्बन्ध है । खानपान में भोजन सम्बन्धी संस्कृति देखना ज़रूरी है । एक जैनका एक मुसलमान के यहाँ भोजन का मेल कैसे बैठेगा ? रक्त शुद्धि आदि की बात भी निरर्थक नहीं है, मां बाप के संस्कार सन्तान में भी आते हैं इसलिये रक्त-शुद्धि देखना भी ज़रूरी है ।

उत्तर - भोजन में चार बातों का मुख्यता से विचार करना चाहिये १-अहिंसकता २-स्वास्थ्य-करता ३-इन्द्रिय-प्रियता ४ अग्लानता । अहिंसकता के लिये मांस आदि का त्याग करना चाहिये । स्वास्थ्य के लिये अपनी शरीर की प्रकृति का विचार करना चाहिये और ऐसा भोजन करना चाहिये जो सरलता से पच सके और शरीर पोषक हो । इन्द्रियप्रियता के लिये स्वादिष्ट, सुगंधित, देखने में अच्छा भोजन करना चाहिये । अग्लानता के लिये शरीरमल आदि का उपयोग न करना चाहिये । भोजन से सम्बन्ध रखनेवाली ये चारों बातें छूआछूत या जातिपांति के विचार से सम्बन्ध नहीं रखती । ब्राह्मण कहलाने वाले भी मांसभक्षी होते हैं और मुसलमान तथा ईसाई भी मांसत्यागी होते हैं । पर देखा यह जाता है कि एक मांसभक्षी ब्राह्मण दूसरी जाति के जैन या वैष्णव की भी छूत मानेगा । उसके हाथ का वह शुद्ध से शुद्ध भोजन न करेगा और उसे वह भोजन-शुद्धि या धर्म समझेगा । यहाँ बाह्य शुद्धि तो है ही नहीं परन्तु

अन्तःशुद्धि की भी हत्या है।

यह कहना कि दूसरी जातिवालों का रक्त इतना खराब होता है कि उनके हाथ का छुआ हुआ भोजन हर हालत में अशुद्ध ही होगा, कोरी विडम्बना और आत्मवंचना है। मनुष्यमात्र की एक ही जाति है, इसलिये मनुष्यों के रक्त में इतना अन्तर नहीं है कि एक के हाथ लगाने से दूसरे की शुद्धि नष्ट हो जाय। कम से कम मनुष्यों के रक्त में गाय भैंस आदि पशुओं के रक्त से अधिक अन्तर नहीं हो सकता फिर भी जब हम गाय भैंस का दूध पीलेते हैं तब भोजन के विषय में रक्त-शुद्धि की दुहाई व्यर्थ है और जो लोग मांस खाते हैं वे भी रक्तशुद्धि की दुहाई दें यह तो और भी अधिक हास्यास्पद है।

माँ बाप के रक्त का असर सन्तान पर होता है पर उसका सम्बन्ध जाति से नहीं है। रक्त के असर के लिये जाति-पाँतिका खयाल नहीं किन्तु बीमारी आदि का खयाल रखना चाहिये। बीमारी का ठेका किसी एक जाति के सब आदमियों ने लिया हो ऐसी बात नहीं है।

हाँ, जिन लोगों के यहाँ का खानपान बहुत गंदा है उनके यहाँ खाने में, या हम मांसत्यागी हों तो मांस-भक्षियों के यहाँ खाने में परहेज़ करने का कुछ अर्थ है। इन लोगों के यहाँ तभी भोजन करना चाहिये जब जाति-समभाव के प्रदर्शन के लिये भोजन करना उपयोगी हो, पर किसी भी जातिवाले को जातीय कारण से अपने साथ खिलाने में आपत्ति न होना चाहिये।

जिनने अपने भोजन की शुद्धि अशुद्धि के तत्व को अच्छी तरह समझ लिया है और जिन में अहिंसकता आदि के रक्षण का काफ़ी मनोबल है उन्हें तो किसी भी जाति में भोजन करने में आपत्ति न होना चाहिये ऐसे लोग जहाँ भोजन करेंगे वहाँ कुछ न कुछ अहिंसकता स्वच्छता आदि की छाप ही मारेंगे। हां, जो बालक हैं या अज्ञानी होने से बालक समान हैं वे खानपान के विषय में हिंसक या गंदे लोगों से बचें तो ठीक है पर उन्हें अपने घर बुलाकर स्वच्छता के साथ अपने साथ भोजन कराने में आपत्ति किसी को न होना चाहिये। बाह्य शुद्धि भी आवश्यक है पर उस की ओट में मनुष्य से घृणा करना या हीनता का व्यवहार करना पाप है।

भोजन शुद्धि के नाम पर एक तरह का भ्रम या अतिवाद और फैला हुआ है जिसे मध्यप्रान्त में 'सोला' कहते हैं। इसके मूल में जाति-पांति की कल्पना ही नहीं है किन्तु शुद्धि के नाम से बड़ा अतिवाद फैला हुआ है। सोला के लिये यह ज़रूरी नहीं है कि कपड़ा स्वच्छ हो पर यह ज़रूरी है कि पानी में से निकलने के बाद उसे किसीने छुआ न हो। सोला के अनुसार वह कपड़ा भी अशुद्ध मान लिया जाता है जिसे पहिन कर हम घरके बाहर निकल गये हों। थोड़ासा भी स्पर्श शुद्धि को बहा ले जाता है। गंदगी के अतिवाद को दूर करने के लिये शुद्धि के इस अतिवाद की औषध-रूप में कभी ज़रूरत हुई होगी पर आज तो उसके नाम पर बड़ी विडम्बना और असुविधा होती है। सोला बाह्य शुद्धि का ठीक रूप नहीं है। इससे अनावश्यक शुद्धि का बोझ लदता है और आवश्यक शुद्धि पर उपेक्षा होती है।

केवल रिवाज़ के पालन से बाह्य शुद्धि नहीं हो जाती उसके लिये भी अक्ल या विवेक की ज़रूरत है। बाह्य शुद्ध व्यक्ति जहां चाहे कचरा न डालेगा, जिस चाहे जगह को अपने पैरों से

गँदला न करेगा, खंकार आदि जहां चाहे न डालेगा वह इस बात का ख़याल रक्खेगा कि मेरे किसी काम से हवा ख़राब न हो, गंदगी न फैले, कालान्तर में हमें और दूसरों को कष्ट न हो।

बाह्य शुद्धि की बड़ी ज़रूरत है। सभ्यता के बाह्य रूप का यह भी एक मापदण्ड है किन्तु समझदारी के साथ इसका प्रयोग होना चाहिये।

अन्तःशुद्ध–अन्तःशुद्ध वे व्यक्ति हैं जिनने अपने मनको शुद्ध कर लिया है, जिन के मनमे किसी के साथ अन्याय करने की या अन्याय से अपना स्वार्थ सिद्ध करने की क़तई इच्छा नहीं होती, ऐसे लोग महान् व्यक्ति तो हैं पर बाह्य-शुद्धि के बिना उनका जीवन अच्छी तरह अनुकरणीय नहीं होता है।

बहुत से लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि बाह्यशुद्धि अन्तःशुद्धि की बाधक है। वे दतौन इसलिये नहीं करते कि दांतों के कीड़े मेरेंगे, स्नान इसलिये नहीं करते कि शरीर के स्पर्श से जल के जीव मेरेंगे, मुंह के आगे इसलिये कपड़े की पट्टी बांधते हैं कि उससे स्वाँस की गरम हवा से बाहर की हवा के जीव मरते हैं, इस प्रकार अहिंसा के लिये वे अशुद्धि की उपासना करते हैं। पर वे ज़रा ग़ौर करेंगे तो उन्हें मालूम हो जायगा कि अशुद्धि की उपासना करके भी वे अहिंसा की रक्षा नहीं कर पाये हैं।

दतौन करने से कदाचित् एकबार थोड़े से जीव मरते होंगे पर दतौन न करने से दांतों में बहुत से कीड़े पड़ते हैं जोकि थूक के प्रत्येक घूंटके साथ दिन-रात पेट की भट्टी में जाते रहते हैं और मुंह की दुर्गंध से दूसरों को जो कष्ट होता है वह अलग। स्नान न करने के नियम से जो गंदगी फैलती है, ख़ास कर गरम या समशीतोष्ण देशों में, उससे भी शरीर कीड़ों का घर बन जाता है, प्रत्येक रोमकूप सूक्ष्म कीटों का शिविर हो जाता है। मुंह पर पट्टी लगाने से हवा के जीव तो मरते ही हैं क्योंकि मुंह की हवा सामने न जाकर पट्टी से रुककर नीचे जाने लगती है जहां कि हवा है ही, इस प्रकार वहां भी हिंसा होती है। अगर थोड़ी बहुत बचती भी हो तो उसकी कसर पट्टी की गंदगी में निकल आती है। थूक वगैरह पड़ते रहने से पट्टी कृमिकुल का घर बन जाती है।

हिंसा अहिंसा के विचार में हमें दोनों पक्षों का हिसाब रखना चाहिये। ऐसा न हो कि थोड़ी सी हिंसा बचाने के पीछे हम बहुत सी हिंसा के कारण जुटालें। जहां सूक्ष्म हिंसा से भी दूर रहना हो वहां सब से अच्छी बात यह होगी कि सूक्ष्म जीवों को पैदा न होने दिया जाय। सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा से बचने का सर्वोत्तम उपाय स्वच्छता है।

प्रश्न- स्नान न करना दतौन न करना आदि नियम बहुत धर्मों ने अपनी साधु-संस्था में दाखिल किये हैं। और ऐसा मालूम होता है कि वे अहिंसा के ख़याल से दाखिल किये हैं पर आपके कहने के अनुसार तो उनसे अहिंसा की वृद्धि नहीं होती तब फिर वे किस लिये किये गये?

उत्तर- जब किसी नये मज़हब का प्रचार करना होता है तब उसके प्रचारक-साधुओं की वही अवस्था होती है जोकि दिग्विजय के लिये निकली हुई किसी सेना के सैनिकों की। उन सैनिकों की जीवन-चर्या राजधानी में रहनेवाले सैनिकों सरीखी या साधारण गृहस्थों सरीखी नहीं होती

यही बात नई धर्म-संस्था के साधुओं की है। इन साधुओं को बड़ी कड़ाई के साथ अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता है इसलिये समस्त शृंगारों का बड़ी कड़ाई से त्याग भी करना पड़ता है। और जब स्वच्छता का भी शृंगार के रूप में उपयोग होने लगता है या स्वच्छता की ओट में इतना समय बर्बाद होने लगता है कि परिव्राजक जीवन और प्रचार में बाधा आने लगती है तब उस स्वच्छता का भी त्याग आवश्यक कर दिया जाता है। कोई कोई नियम कष्टसहिष्णुता को टिकाये रखने के लिये अथवा उस की परीक्षा करने के लिये बनाये जाते हैं।

साधुता बात है एक और साधुसंस्था बात दूसरी। कभी कभी साधु-संस्थाओं को ऐसी परिस्थिति में से गुज़रना पड़ता है कि उनके जीवन में अतिवाद आ जाता है। जब तक वह औषध के रूपमें कुछ चिकित्सा करे तब तक तो ठीक, बाद में जब उसकी उपयोगिता नहीं रहती तब उसे हटा देना चाहिये।

मतलब यह है कि बाह्यशुद्धि उपेक्षणीय नहीं है। यद्यपि अन्तःशुद्धि के बराबर उसका महत्व नहीं है फिर भी वह आवश्यक है। उसके बिना अन्तःशुद्धि रहने पर भी जीवन अधूरा है और आदर्श से तो बहुत दूर है।

प्रश्न—जो परमहंस आदि साधु मनकी उत्कृष्ट निर्मलता प्राप्त कर लेते हैं किन्तु बाह्यशुद्धि पर जिनका ध्यान नहीं जाता, क्या उन्हें आदर्श से बहुत दूर कहना चाहिये। क्या वे महान् से महान् नहीं हैं?

उत्तर—वे महान् से महान् हैं इसलिये पूज्य या वन्दनीय हैं फिर भी आदर्श से बहुत दूर हैं, ख़ास कर शुद्धि-जीवन के विषय में। किसी दूसरे विषय में वे आदर्श हो सकते हैं। शुद्धि--जीवन की दृष्टि से उभयशुद्धि ही पूर्णशुद्ध हैं।

उभयशुद्ध-- जो हृदय से पवित्र है, अर्थात् संयमी निश्छल विनीत और निःस्वार्थ है और शरीर आदि की स्वच्छता भी रखता है वह उभयशुद्ध है। बहुत से लोगोंने अन्तःशुद्धि और बहिःशुद्धि में विरोध समझ लिया है, वे समझते हैं कि जिसका हृदय शुद्ध है वह बाहिरी शुद्धि की पर्वाह क्यों करेगा? परन्तु यह भ्रम है। जिसका हृदय पवित्र है उसे बाहिरी शुद्धि का भी ख़याल रखना चाहिये। बाहिरी शुद्धि अपनी भलाई के लिये ही नहीं दूसरों की भलाई के लिये भी ज़रूरी है। गंदगी बहुत बड़ा पाप न सही परन्तु पाप तो है। और कभी कभी तो उसका फल बहुत बड़े पाप से भी अधिक हो जाता है। गंदगी के कारण बीमारियाँ फैलतीं हैं और हमारी परेशानी बढ़ती है— कदाचित् मौत भी हो जाती है -- जो हमारी सेवा करते हैं उनकी भी परेशानी बढ़ती है, पास पड़ौस में रहनेवाले भी बीमारी के शिकार हो कर दुःख उठाते हैं, मिलने-जुलनेवाले भी दुर्गंध आदि से दुःखी होते हैं। इन सब कारणों से अन्तःशुद्ध व्यक्ति को यथाशक्य और यथायोग्य बहिःशुद्ध होने की भी कोशिश करना चाहिये।

हाँ, स्वच्छता एक बात है और शृङ्गार दूसरी। यद्यपि अन्तःशुद्धि के साथ उचित शृङ्गार का विरोध नहीं है फिर भी शृङ्गार पर उपेक्षा की जासकती है परन्तु स्वच्छता पर उपेक्षा करना ठीक नहीं है।

हाँ, स्वच्छता की भी सीमा होती है। कोई स्वच्छता के नामपर दिनभर साबुन ही घिसा करे

या अन्य आवश्यक कामों को गौण करदे तो यह ठीक नहीं, उससे अन्तःशुद्धि का नाश हो जायगा अपनी आर्थिक परिस्थिति और समय के अनुकूल अधिक से अधिक स्वच्छता रखना उचित है।

जीवन-जीवन

[दो और पाँचभेद]

जीवन की दृष्टि से भी जीवन का श्रेणी-विभाग होता है। साधारणतः जीवित उसे कहते हैं जिसकी श्वास चलती है, खाता पीता है, परन्तु ऐसा जीवन तो वृक्षों और पशुओं में भी पाया जाता है। वास्तविक जीवन की परीक्षा उसके उपयोग की तथा कर्मठता की दृष्टि से है। इसलिये जिनमें उत्साह है, आलस्य नहीं है, जो कर्मशील हैं वे जीवित हैं। जिन में सिर्फ़ किसी तरह पेट भरने की भावना है, जिन के जीवन में आनंद नहीं, जनसेवा नहीं, उत्साह नहीं वे मुर्दे हैं। जीवित मनुष्य प्रतिकूल परिस्थिति में भी बहुत कुछ करेगा और मृत मनुष्य अनुकूल परिस्थिति में भी अभाव का रोना रोता रहेगा। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होगी।

एक **जीवित वृद्ध** सोचेगा कि इंद्रियाँ शिथिल होगई तो क्या हुआ? अब लड़के बच्चे काम संभालने लायक हो गये हैं, अब मैं घर की तरफ़ से निश्चिन्त हूँ यही तो समय है, जब मैं जनसेवा का कुछ काम कर सकता हूँ। जब कि **मृतवृद्ध** शरीर का, घर का, बेटों की नालायकी का रोना रोता रहेगा।

जीवित युवक सोचेगा—ये ही तो दिन हैं जब कुछ किया जा सकता है, कल जब बुढ़ापा आ जायगा तब क्या कर सकूँगा? निश्चिन्तता से आराम बुढ़ापे में किया जा सकता है, जवानी तो कर्म करने के लिये हैं। अगर यहाँ कर्म किया तो उसका असर बुढ़ापे में भी रहेगा। **मृतयुवक** सोचेगा कि ये चार दिन ही तो मौज उड़ाने के हैं अगर इनदिनों में बैलकी तरह जुते रहे तो भोग विलास कब कर पायेंगे? बुड्ढा (बाप) कमाता ही है, जब मरेगा तब देखा जायगा, अभी तो मौज करो।

जीवित धनवान सोचेगा कि धन का उपयोग यही है कि वह दूसरों के काम आवे। पेट में तो चार ही रोटियाँ जानेवाली हैं, बाक़ी धन तो किसी न किसी तरह दूसरे ही खानेवाले हैं तब जनसेवा में दान ही क्यों न करूं? **मृत धनवान** कंजूसी में ही अपना कल्याण समझेगा।

जीवित निर्धन सोचेगा—अपने पास धन पैसा तो है ही नहीं जिसके छिनने का डर हो तब धर्म से क्यों चूकूं? मुझे निर्भय रहना चाहिये। नंगा खुदा से बड़ा। मैं पैसा नहीं दे सकता तो तन मन तो दे सकता हूं, वही दूंगा धन की क़ीमत सच्चे तन मन से अधिक नहीं होती। महावीर बुद्ध आदि महापुरुषों को जनसेवा के लिये धन का त्याग ही करना पड़ा, ईसामसीहने ठीक ही कहा है कि सुई के छिद्रमें से ऊँट निकल सकता है परन्तु स्वर्ग के द्वार में से धनवान नहीं निकल सकता। ग़रीबी ही मेरा भाग्य है। **मृत निर्धन** ग़रीबी का रोना रोता रहेगा। इतना धन यों मिल जाता तो यों करता और उतना मिल जाता तो त्यों करता अब क्या कर सकता हूँ?

जीवित पुरुष सोचेगा मुझे शक्ति मिली है, घर से बाहर का विशेष अनुभव मिला है उस का उपयोग पत्नी की, माता पिता की, समाज की देशकी सेवा में करूंगा। **मृत पुरुष** कमाने का रोना रोते रोते या स्त्री का रोना रोते रोते कि हाय मुझे सीता सावित्रि न मिली, दिन काटेगा। जब-

सेवा की बात निकलते ही घर का रोना लेकर बैठ जायगा।

जीवित नारी सोचेगी कि नारियाँ शक्ति की अवतार हैं हम अगर निर्बल मूर्ख हैं तो वीर और विद्वान् कहां से आयेंगे ? शक्ति के बिना शिव क्या करेगा ? घर हमारा आर्थिक कार्य-क्षेत्र है कैदखाना नहीं। जनसेवा के लिये सारी दुनियां है। बाहर निकलने में शर्म क्या ? पति को छोड़कर जब सब पुरुष पिता पुत्र या भाई के समान हैं तब पर्दा किसका ?

मृत नारी रूढ़ियों की दुहाई देगी, अबला-पन का रोना रोयेगी, जीवित नारियों की निन्दा करेगी, मुर्दापन के गीत गायेगी।

इन उदाहरणों से जीवित मनुष्य और मृत मनुष्य की मनोवृत्ति का और उन के कार्यों का पता लग जायगा। साधारणतः मनुष्यों को जीवन की दृष्टिसे इन दो भागों में बाँट सकते हैं। कुछ जिन्दे कुछ मुर्दे या अधिकांश मुर्दे। परन्तु विशेष रूप में इसके पाँच भेद होते हैं—

१ मृत, २ पापजीवित, ३ जीवित, ४ दिव्यजीवित, ५ परमजीवित।

१ मृत– जो शरीर में रहते हुए भी स्वपर-कल्याणकारी कर्म नहीं करते, जो पशु के समान लक्ष्यहीन या आलसी जीवन बिताते हैं वे मृत हैं। उदाहरण ऊपर दिये गये हैं।

२ पापजीवित वे हैं जो कर्म तो करते हैं आलसी नहीं होते पर जिनसे मानव-समाज के हित की अपेक्षा अहित ही अधिक होता है इस श्रेणी में अन्याय से नर संहार करनेवाले बड़े बड़े सम्राट् सेनापति योद्धा और राजनैतिक पुरुष भी आते हैं, गरीबों का खून चूसकर कुबेर बननेवाले श्रीमान् भी आते हैं, जनसेवा का ढोंग करके बड़े बड़े पद पाने वाले ढोंगी नेता भी आते हैं, त्याग वैराग्य आदि का ढोंग करके दंभ के जाल में दुनिया को फँसानेवाले योगी संन्यासी सिद्ध महन्त मुनि कहलाने वाले भी आते हैं। ये लोग कितने भी यशस्वी हो जाँय, जनता इन की पूजा भी करने लगे पर ये पापजीवित ही कहलाँयगे। अपने दुःस्वार्थों की पूजा करनेवाले सब पापजीवित हैं। चोर, बदमाश, व्यभिचारी, विश्वासघाती, ठग आदि तो पापजीवित हैं ही।

३ जीवित–वे हैं जो हर एक परिस्थिति में यथाशक्ति कर्मठ और उत्साही बने रहते हैं इनके उदाहरण ऊपर दिये गये हैं।

४ दिव्यजीवित–वे हैं जो सच्चे त्यागी और महान् जनसेवक हैं। जो यश, अपयश की पर्वाह नहीं करते, स्वपर--कल्याण की ही पर्वाह करते हैं। अधिक से अधिक देकर कम से कम लेते हैं-- त्यागी और सदाचारी हैं।

५ परमजीवित वे हैं जिनका जीवन दिव्य जीवित के समान है परन्तु इनका सौभाग्य इतना ही है कि ये यशस्वी भी होते हैं।

विकास की दृष्टि से दिव्य जीवित और परम जीवितों में कोई भेद नहीं है। परन्तु यश भी एक तरह का जीवन है और उसके कारण भी बहुत सा जनहित अनायास हो जाता है इसलिये विशेष यशस्वी दिव्यजीवित को परमजीवित नाम से अलग बतलाया जाता है।

हर एक मनुष्य को दिव्यजीवित बनना चाहिये। पर दिव्यजीवित बनने से असन्तोष और परमजीवित बनने के लिये या परमजीवित कहलाने के लिये व्याकुलता न होना चाहिये, अन्यथा मनुष्य पापजीवित बन जायगा।

[जीवनदृष्टि का उपसंहार]

दस बातों को लेकर जीवन का श्रेणीविभाग यहाँ किया गया है और भी अनेक दृष्टियों से जीवन का श्रेणीविभाग किया जा सकता है। पर अब विशेष विस्तार की जरूरत नहीं है, समझने के लिये यहाँ काफी लिख दिया गया है।

जीवन दृष्टि अध्याय में जीवन के सिर्फ भेद ही नहीं करने थे उनका श्रेणी-विभाग भी बताना था। इसलिये ऐसे भेदों का जिक्र नहीं किया गया जिस से विकसित जीवन का पता न लगे। साधारणतः अगर जीवन का विभाग ही करना हो तो वह अनेक गुणों की या शक्ति, कला विज्ञान आदि की दृष्टि से किया जा सकता है। पर ऐसे विभागों का यहां कोई विशेष मतलब नहीं है इसलिये उपर्युक्त दस प्रकार का श्रेणी विभाग बताया गया है। हरएक मनुष्य को ईमानदारीसे अपनी श्रेणी देखना चाहिये और आगेकी श्रेणी पर पहुँचने की कोशिश करना चाहिये।

इन भेदों का उपयोग मुख्यतः आत्म-निरीक्षण के लिये है। मैं इस श्रेणी में हूं, तू इस श्रेणी में है, मैं तुझसे ऊँचा हूं, इस प्रकार अहंकार के प्रदर्शन के लिये यह नहीं है।

दूसरी बात यह है कि इन भेदों से हमें आदर्श जीवन का पता लगा करता है। साधारणतः लोग दुनियादारी के बड़प्पन को ही आदर्श समझ लेते हैं और उसी को ध्येय बनाकर जीवन यात्रा करते हैं, या उसके सामने सिर झुका लेते हैं उसके गीत गाते हैं, परन्तु इन भेदों से पता लगेगा कि आदर्श जीवन क्या है ? किसके आगे हमें सिर झुकाना चाहिये। मनुष्य को चाहिये कि हरएक श्रेणी-विभाग के विषय में विचार करे और ईमानदारी से अपना स्थान ढूंढे और फिर उसके आगे बढ़ने की कोशिश करे।

[दृष्टिकांड का उपसंहार]

दृष्टि-कांड में जितनी दृष्टियाँ बतलाई गई हैं वे सब भगवान सत्यके दर्शन का फल हैं या यों कहना चाहिये कि इन सब दृष्टियों के मर्म को समझ जाना भगवान सत्य का दर्शन है और उन को जीवन में उतारना भगवान सत्य को पा जाना है। सच बोलना भगवान सत्य नहीं है, वह तो भगवती अहिंसा का एक अंग है। भगवान सत्य तो परब्रह्म की तरह वह व्यापक चैतन्य है जो समस्त आत्माओं में भरा हुआ है। वह अनन्त चैतन्य ही प्राणि-सृष्टि का विकास और कल्याण कर्ता है। इसलिये वह भगवान है।

मैं कह चुका हूं कि भगवान् एक अगम अगोचर या अनिश्चित तत्त्व है। उपदेश संस्कार या किसी विशेष घटना से प्रभावित होकर जिसे विश्वास हो जाता है वह उसे जगत्कर्ता के रूप में एक महान् व्यक्ति मान लेता है जिस का विश्वास नहीं जमता वह निरीश्वरवादी बन जाता है। पर ईश्वरवादी हो या निरीश्वरवादी, आत्मवादी हो या अनात्मवादी, उसको यह तो समझ में आ ही जायगा कि सृष्टि में कार्य-कारण की एक सच्ची परम्परा है वह कभी नष्ट नहीं हो सकती, कार्य कारण की सचाई नष्ट हो जाय तो सृष्टि ही न रहे उसकी गति ही नष्ट हो जाय। इसलिये हम कह सकते हैं कि विश्व सत्य पर टिका हुआ है। और जो इतना महान् है कि जिसके बल पर विश्व टिका हुआ है वह भगवान नहीं तो क्या है ?

दूसरी बात यह है कि सृष्टि का महान् भाग चैतन्यरूप या चैतन्य से बना हुआ है, अगर सृष्टि में से प्राणवान् पदार्थ- मनुष्य पशु-पक्षी, जलचर

वनस्पति आदि निकाल दिये जाँयँ तो सृष्टि क्या रहे ? सृष्टि का समस्त सौन्दर्य विकास आदि चैतन्य से है इसी को हम चिद्ब्रह्म, सत्यब्रह्म या सत्य भगवान कहते हैं ।

यह सत्य भगवान् घट-घट-व्यापी है, हरएक प्राणी में सुख-दुःख अनुभव करने की, दुःख दूर करने की, सुख प्राप्त करने की और उसका मार्ग देखने की चित् शक्ति पाई जाती है । वह शक्ति भगवान सत्य का अंश है । यही अंश जब विशेष मात्रामें प्रगट हो जाता है तब प्राणी कर्मयोगी स्थितिप्रज्ञ, केवली, जिन, अर्हंत, नबी, पैगम्बर, तीर्थंकर और अवतार आदि कहलाने लायक बन जाता है । यही है भगवान सत्य का दर्शन । दृष्टि-कांड में भगवान् सत्यके दर्शन के लिये समझने योग्य कुछ बातें, भगवान् के दर्शन का उपाय और उस दर्शन का फल बताया गया है ।

[दृष्टिकांड समाप्त]

सत्यभक्त साहित्य

सत्यसमाज के संस्थापक स्वामी सत्यभक्तजीने धार्मिक सामाजिक राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय तथा जीवन शुद्धि विषयक जो विशाल साहित्य रचा है, जो गद्य पद्य नाटक कथा आदि अनेक रूप में बुद्धि और मनपर असाधारण प्रभाव डालने वाला है उसे एकबार अवश्य पढ़िये।

१–सत्यामृत–मानव-धर्म-शास्त्र [दृष्टिकांड]	१।)
२–सत्यामृत [आचार–कांड]	१॥)
३–निरतिवाद—	।=)
४–सत्य संगीत—	॥=)
५–शीलवती—	-)
६–विवाह पद्धति—	=)
७–सत्यसमाज और प्रार्थना—	-)
८–नागयज्ञ [नाटक]—	।)
९–हिन्दू-मुस्लिममेल—	-)॥
१०–आत्म-कथा—	१।)
११–हिन्दू-मुस्लिम इत्तहाद [उर्दू अनुवाद]—	=)
१२–बुद्ध हृदय —	।=)
१३–कृष्णगीता —	॥।)
१४–अनमोलपत्र—	-)
१५–सुलझी हुई गुत्थियाँ —	।)
१६–कुरान की झाँकी—	=)
१७–जैनधर्म-मीमांसा [भाग १]—	१)
१८–जैनधर्म-मीमांसा [भाग २]—	१॥)
१९–न्यायप्रदीप जै. न्याय का ग्रन्थ	१)

मिलने का पता—सत्याश्रम, वर्धा. [सी.पी.]